प्रकाशक :

मंत्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

•

तृतीय संस्करण

जून १९६७

•

मूल्य : दो रुपया, पचास पैसे सिर्फ

•

मुद्रक :

जैन आर्ट प्रेस

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्रकाशकीय

'सुवाहुकुमार' का तृतीय संस्करण पाठको के करकमलो मे प्रस्तुत कर रहे हैं।

मानव अपने एव अपने परिवार के लिए भौतिक सुख-साधन जुटाने मे दिन-रात एक कर देता है। प्रतिपल एक ही विचार उसके मन मे घूमता रहता है कि मैं और मेरे पारिवारिक जन सुखी, समृद्ध और वैभवशाली हो। लेकिन इतने मे ही उसके जीवन की सफलता नही है। वास्तव मे उसी मानव का जीवन सफल माना जाता है जो जीवमात्र के प्रति स्वकर्तव्य—दया दान, करुणा, अभय आदि का पालन कर उन्हे सुखी वनाता है।

'सुवाहुकुमार' मे इसी मानव-कर्तव्य का विस्तार से विवेचन किया गया है।

परमप्रतापी, युगप्रधान, जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० सा० के प्रवचन-साहित्य-भडार के महामूल्यवान अनेक रत्नो मे 'सुवाहुकुमार' का अपना ही अनूठा स्थान है। इसमे सरल-सुवोध वाणी मे मानव-जीवन की सफलता का चित्रण कर गागर मे सागर की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है।

'सुवाहुकुमार' के प्रथम दो सस्करण भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ तोलाराम जी श्यामलाल जी वाठिया की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं और पाठको की माग होने से यह तृतीय सस्करण धर्म-निष्ठ सुश्राविका स्व० श्री राजकुवर वाई के द्वारा जवाहर साहित्य प्रकाशन के लिए दी गई निधि मे से प्रकाशित कर रहे हैं। स्व० राजकुवर वाई सरल, उदार एव धार्मिक महिला थी। उनका समस्त

जीवन धर्म-कर्म में व्यतीत हुआ है। एतदर्थ इस प्रसग पर उनका स्मरण करना एव उपकार मानना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं। जवाहर किरणावली की दूसरी-दूसरी अनुपलब्ध किरणें भी यथाशीघ्र प्रकाशित हो रही हैं।

पुस्तक के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये 'श्री अखिल भारत-वर्षीय साधुमार्गी जैन सघ' एव उसके द्वारा सचालित 'जैन आर्ट प्रेस' के कार्यकर्ताओ को समिति की ओर से धन्यवाद देते हैं।

भीनासर
(बीकानेर-राजस्थान)

चंपालाल बांठिया
मंत्री—श्री जवाहर साहित्य समिति



कथा का आदर्श

[पूज्य श्री के ही शब्दों में]

सुबाहुकुमार ने कहाँ जन्म लिया ? वह किस गाँव मे रहता था ? उसके माता-पिता का नाम क्या था ? उसने अपना जीवन-निर्वाह कैसे किया ? इत्यादि ऊपरी बातो को जान लेने मात्र से काम नही चल सकता। इन बातो की जानकारी चाहिये, मगर उसी से हम अपने जीवन का अभ्युदय नहीं साध सकते। अगर हम अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहते हैं तो हमे सुबाहुकुमार के उन गुणो की ओर ध्यान देना होगा जिसके कारण वह अपना जीवन उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचाने मे समर्थ हो सका।

कथा के बहिरग मे न उलझे रहकर उसके अन्तस्तत्त्व के भाव को समझने का प्रयत्न करना ही लाभदायक होता है। कथा का बहिरग अगर शरीर के समान है तो अन्तरग आत्मा के समान है। जिस शरीर मे जीव नही, वह किस काम का है ? बिना जीव के शरीर को कोई प्यार नही करता। ऐसा शरीर सब को भयकर दिखाई पडता है। निर्जीव शरीर को लोग जला देते हैं, गाड देते हैं या पानी मे फेंक देते हैं। उपयोगी वस्तु के रूप मे उसका सचय कोई नही करता। शास्त्रकार भी ऐसी निर्जीव कथाओ को शास्त्र मे स्थान नही देते। जीवनोपयोगी कथाएँ विभिन्न उत्तम आदर्श उपस्थित करने के उद्देश्य से ही शास्त्रो मे सचित की गई हैं। अतएव कथा-श्रवण करते समय कथा के भाव को—उसके आदर्श को—ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रत्येक वस्तु का मूल्य, उसमे रहे हुए सारभूत गुण के कारण

होता है, सारहीन वस्तु को कोई नही पूछता। वह निकम्मी है। कथा के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। अगर आप कथानक के समान बनना चाहते हैं तो उस कथा के सारतत्त्व को पकड़ने का प्रयत्न कीजिये। उसके समान बनने का यही मार्ग है। जो सार रूप चाबी को ग्रहण नही कर सकेगा, वह कथानायक के समान सफलता की तिजोरी मे से बहुमूल्य रत्न प्राप्त नही कर सकता।

वक्ता, कथा के बाहरी वर्णन को बडे-बडे अलकारो से सजाते हैं। उन अलकारो के मध्य मे सारभूत तत्त्व सूक्ष्म रूप मे विद्यमान रहता है। यही कारण है कि कथा के अधिकाश श्रोता उस की आत्मा को—कथा के सारभूत मूल तत्त्व को, भूले रहते हैं—उसे समझ नही पाते। कई जगह यह भी होता है कि श्रोता स्वय अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। वक्ता कहता कुछ है और श्रोता समझता कुछ और ही है। एक पण्डितजी रामायण की कथा बाँच रहे थे। उन्होंने कहा—सीता का हरण हो गया। पर एक श्रोता ने समझा—सीता का हिरन हो गया। अर्थात् सीता, सीता मिटकर हिरन—मृग—बन गई।

कथा प्रतिदिन बाँची जा रही थी। वह श्रोता यही सोचा करता था कि सीता हिरन से फिर सीता बनी या हिरन ही बनी रही! जब कथा सुनते-सुनते बहुत दिन हो गये और सीता हिरन ही बनी रही तो एक दिन श्रोता से न रहा गया। उसने कथावाचक से पूछा—पण्डितजी, और तो सब कुछ हुआ, मगर सीता फिर सीता बनी या नही?

कथावाचक, श्रोता का प्रश्न सुनकर विस्मित हुए। प्रश्न उनकी समझ मे न आया। बोले—भाई, सीता का फिर सीता होना कैसा?

श्रोता ने कहा—कई दिन हुए, आपने कहा था कि सीता

का हिरन हो गया। पर आपने यह नही बताया कि वह हिरन से फिर सीता बनी या नही ? सो क्या सीता हिरन ही रही ?

पण्डितजी ने अपना सिर धुनते हुए कहा—फूटा भाग्य हमारा और तुम्हारा शामिल हो ! मैंने कही खेत की, तुमने सुनी खलिहान की !

इस श्रोता की भूल की पुनरावृत्ति आप न करें। आप कुछ का कुछ न समझ बैठें, इस बात की सावधानी रखिए।

सुबाहुकुमार की कथा, सुबाहुकुमार की ही कथा नही है। एक विकासशील पुण्य-पुरुप की जीवन-कथा है। इसे अपने जीवन पर घटित करने का प्रयत्न करने वाला पुरुप सुबाहु के समान कीर्तिशाली और पुण्यात्मा बन सकता है।

सुबाहुकुमार की यह कथा सभी के लिए आदर्श रूप है। शास्त्रकार ने जन-मन-रजन के उद्देश्य से यह कथा नही कही है। उन्होने कथा के रूप में एक उच्चतर आदर्श सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। कथा पढ सुनकर उस आदर्श को अपने जीवन मे उतार लेना ही कथा सुनने या पढने का सब से बडा फल है।

श्रोताओ मे बहुत से भाई धनाढ्य हैं। वे इस भ्रमपूर्ण विचार का परित्याग कर दें कि उनकी धनाढ्यता उनके असत्य भापण करने का, दगाबाजी का, सट्टेबाजी का या अन्याय का परिणाम है। सचाई यह है कि धनवानों को आज जो धन प्राप्त है, वह पूर्व आचरित पुण्य का फल है। इसी प्रकार कीर्ति पुण्य का फल है। इसके विपरीत जिन मनुष्यो की जगत् मे अपकीर्ति फैलती है, अपयश होता है, तिरस्कार होता है, उन मनुष्यो को भी अपनी पापमय करनी का फल मिल रहा है। इस कथा से आप यह परिणाम निकाल कर कल्याणमार्ग पर चलेंगे तो कथा का श्रवण और वाचन सार्थक होगा।

अनुक्रम

१ : विषय-प्रवेश

भगवान महावीर स्वामी की दिव्य-ध्वनि गणधर महाराज की पा से द्वादशागी के रूप मे ग्रथित हुई। काल-दोष से यद्यपि उसका हुभाग विच्छिन्न हो गया है, फिर भी आज जितना भाग हमारे समक्ष उपस्थित है, वह भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है । आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाला भव्य पुरुष इस वाणी से लाभ उठाकर अपना परम कल्याण-साधन कर सकता है ।

भगवान वीतराग और सर्वज्ञ थे । उनकी आत्मा उस सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त हो चुकी थी, जहाँ पूर्ण कृतकृत्यता आ जाती है, साधना की सफलता के पश्चात् अनुत्तर सिद्धि का लाभ हो जाता है, प्राणी-मात्र पर समभाव जाग उठा है और ज्ञान के अलौकिक एव अविकल आलोक मे आत्मा उद्भासित हो जाता है । उसे मानवीय आध्यात्मिक विकास की चरमसीमा कहिये अथवा परमात्मपद की उपलब्धि कहिये, जीवन्मुक्त-दशा कहिये अथवा आर्हन्त्य-अवस्था कहिये । वह अवस्था प्राप्त होने पर उस परम-आत्मा की समस्त चेष्टाएँ जगत् के कल्याण के लिये ही होती है । उस अवस्था मे प्रदर्शित किया हुआ पथ असदिग्ध रूप से हितावह होता है, क्योकि वह स्थिति माया, मोह, कामना, काम, क्रोध, मिथ्यात्व आदि से बहुत ऊपर है । यही कारण है कि भगवान की वाणी मे जिस निगूढ सत्य का प्रतिपादन है, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है ।

ऊपर कहा गया है कि भगवान की वाणी बारह अगो मे ग्रथित की गई थी । प्रस्तुत 'सुबाहुकुमार' की कथा ग्यारहवें अग विपाकसूत्र मे वर्णित है । सूत्र मे बहुत सक्षेप-रूप मे वह पाई जाती है, अत

सर्वसाधारण जनता उसके असली मर्म को समझने मे समर्थ नही है। अतएव मूल-कथा के आधार पर उसका कुछ विस्तार के साथ प्रतिपादन करना उपयोगी समझकर यहाँ यह प्रयत्न किया जाता है।

संसार का प्रत्येक प्राणी, मनुष्य से लेकर छोटे-से-छोटे कीट-पतग तक, सुख की अभिलाषा करता है। सभी जीवो की सभी चेष्टओ को आप सूक्ष्म रूप से देखिए तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक चेष्टा के मूल मे एकमात्र सुख की ही इच्छा मूल रूप मे मौजूद है। इस विशाल विश्व के विस्तीर्ण प्रागण मे जीव जो खेल खेल रहे हैं, उसका एकमात्र उद्देश्य सुख प्राप्त करना है। यह बात दूसरी है कि कोई सुख के समीचीन मार्ग से और उपाय से अनभिज्ञ हो और दु ख-जनक कार्य करता हो, लेकिन उद्देश्य तो उसका भी सुख प्राप्त करना ही है। ससार मे बहुत से ऐसे प्राणी हैं जो सुख की इच्छा से प्रेरित होकर, भ्रम या अज्ञान के कारण विपरीत मार्ग पकड़ते हैं और परिणाम यह होता है कि उन्हे दु ख भुगतना पडता है। प्राणी की यह स्थिति बडी ही दयनीय है। दलदल मे फँसा मनुष्य उससे बाहर निकलने के लिए हाथ-पैर पछाड़ता है, मगर ज्यो-ज्यो वह हाथ-पैर पछाडता है, त्यो-त्यो अधिकाधिक दलदल मे फँसता जाता है। ससार के अधिकाश प्राणियो की यही स्थिति है।

परम-दयालु ज्ञानी पुरुष अज्ञानी जीवो की यह दुर्दशा देखकर दया से द्रवित हो जाते हैं और उन्होंने जिस राज-मार्ग का अवलम्बन करके सुख की प्राप्ति की है, वही राज-मार्ग जगत् के लिए प्रकाशित करते हैं। ऐसे ही एक प्रयत्न से सुबाहुकुमार की कथा का आविर्भाव हुआ है।



२ : कथा-प्रारम्भ

जम्बूस्वामी ने श्री सुधर्मास्वामी से प्रश्न किया—भगवन् ! ससार के सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं और सुखप्राप्ति के लिए ही निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं । लेकिन अधिकाश प्राणी दुख के भागी हो रहे हैं । अत आप अनुग्रह करके यह बताइये कि सुख का सच्चा मार्ग क्या है ? मनुष्य को सुख-रूप फल की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ।

जम्बूस्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे सुधर्मास्वामी ने कथा द्वारा ही सुख का मार्ग प्रकट करना उचित समझा । कथा द्वारा वस्तु तत्त्व का निरूपण करने से दो लाभ होते हैं । प्रथम यह कि कथा के माध्यम से बात जल्दी और अच्छी तरह समझ मे आ जाती है । दूसरे, श्रोता को ऐसी प्रतीति हो जाती है कि हमें जो मार्ग बतलाया जा रहा है वह एकदम नूतन या अनाचरित नही है, वरन् उस पथ पर अनेक महापुरुष चल चुके हैं और उन्होने इष्ट-सिद्धि प्राप्त की है । अतएव उस पर चलना न तो असम्भव है और न इष्ट-सिद्धि की दृष्टि से सदिग्ध है, वरन् वह अनुभूत प्रयोग है । यही कारण है कि कथा द्वारा वस्तु को सिद्ध करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है ।

जम्बूस्वामी को उनके प्रश्न का उत्तर समझाने के लिये भगवान श्री सुधर्मास्वामी सुबाहुकुमार की कथा कहने लगे । उन्होंने फर्माया —

मूल—एव खलु जबू ! तेण कालेण तेण समएण हत्थिसीसे णाम णयरे होत्था रिद्धत्थमियसमिद्धे । तत्थ णं हत्थिसीसस्स णयरस्स बहिया

उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ ण पुप्फकरडए णाम उज्जाणे होत्था । सव्वउयपुप्फफलसमिद्धे । तत्थ ण कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था दिव्वे । तत्थ ण हत्थिसीसे णयरे अदीणसत्तू णाय राया होत्था । महया० । अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणी पामोक्खाण देवीसहस्स ओरोहे यावि होत्था ।

तए ण सा धारिणी देवी अण्णया कयाइ तसि तारिसगसि वासभवणसि सीह सुमिण-जहा मेहजम्मण तहा भाणियव्व, णवर सुवाहुकुमार जाव अल भोगसमत्थ वा विजाणति, विजाणित्ता अम्मापियरो पच पासायवडसगसयाइ करावेंति करावेत्ता जाव पुप्फचूलापामोक्खाण पचण्ह रायवरकण्णसयाण एगदिवसेण पाणि गिण्हावेइ । तहेव पचसयदातो जाव उप्पि पासायवरगए फुट्ट जाव विहरइ ।

तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे समोसरिए । परिसा णिग्गया, अदीणसत्तू जहा कोणिए णिग्गए, सुवाहु वि जहा जमाली जहा रहेण णिग्गए । जाव-धम्मो कहिओ । राया परिसा पडिगया ।

शब्दार्थ—श्री सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कहने लगे—हे जम्वू ! उस काल और उस समय हस्तिशीर्ष नामक नगर था । वह ऋद्धि, सम्पत्ति से परिपूर्ण था । उस हस्तिशीर्ष नगर के वाहर उत्तर-पूर्व दिशा कोण–ईशान कोण मे पुष्पकरडक नामक उद्यान था । वह सव ऋतुओ के फूलो फलो से युक्त था । वहाँ कृतवन मालप्रिय यक्ष का दिव्य यक्षायतन (मदिर) था । हस्तिशीर्ष नगर का राजा अदीनशत्रु था । वह वल, विक्रम आदि राजोचित गुणो से सम्पन्न था । अदीनशत्रु राजा के रनवास मे धारिणी आदि एक हजार रानिया थी ।

धारिणी देवी ने किसी समय अपने निवास भवन में सोते समय सिंह का स्वप्न देखा । ज्ञातासूत्र मे वणित मेघकुमार के जन्म

के समान सुवाहुकुमार के जन्म का वृत्तान्त कहना चाहिए। विशेष वात यह है कि जव सुवाहुकुमार के माता-पिता ने उसे भोग भोगने मे समर्थ जाना, तव उन्होने पाँच सौ उत्तम भवनो का निर्माण कराया। यावत्—पुष्पचूला प्रभृति पाँच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ एक ही दिन मे पाणिग्रहण कराया। पाँच-पाँच-सौ का दायजा दिया। सुवाहुकुमार मनुष्य-सम्वन्धी भोग भोगते हुए विचरने लगा।

उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर वहाँ पधारे। परिषद निकली। कोणिक राजा के समान अदीनशत्रु राजा भी निकला। सुवाहुकुमार भी जमाली की तरह रथ मे बैठकर निकला। यावत्—भगवान ने धर्मकथा कही। राजा और परिषद (जन-समूह) वापिस लौटे।

सशय ज्ञान का दाता भी है और आत्मा का पतनकर्ता भी है। विना सशय के पूरी तरह ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। जितना अधिक सशय होगा प्राप्त-ज्ञान उतना ही अधिक पुष्ट भी होगा। परन्तु अनुचित सशय या वह सशय, जिसको समाधान करके न मिटाया गया हो, आत्मा को गिरा देता है। इसलिये एक अपेक्षा से तो सशय अच्छा है और दूसरी अपेक्षा से वुरा भी।

सशय का विपक्षी विश्वास है। सशय का नाश उस समय तक कदापि नही हो सकता, जब तक कि विश्वास न हो। चाहे सशय को मिटाने के लिये ठीक वात कही गई हो, सच्चा उपाय वताया गया हो, परन्तु जव तक विश्वास न होगा, वह ठीक वात और सच्चा उपाय सशय को मिटाने मे समर्थ न हो सकेगा। इसलिये सशय के साथ विश्वास की भी आवश्यकता है। जिस आत्मा मे सशय तो है, परन्तु विश्वास नही है, उस आत्मा का पतन हो जाता है।

अपने हृदय मे उत्पन्न सशय को मिटने के लिये ही श्री जम्वूस्वामी श्री सुधर्मास्वामी की सेवा मे उपस्थित हुए। सुधर्मास्वामी के समीप पहुँचकर जम्वूस्वामी ने अपने गुरु सुधर्मास्वामी की तीन

वार प्रदक्षिणा की और स्तुति, नमस्कार करके सम्मुख बैठ गये। पश्चात् हाथ जोडकर जम्बूस्वामी ने विनयपूर्वक सुधर्मास्वामी से कहा—हे भगवन् ! भगवान महावीर द्वारा कथित उन कारणो को तो मैंने सुना है, जिनका परिणाम दुख है, परन्तु भगवान ने उन कारणो का वर्णन किस प्रकार किया है, जिनका परिणाम सुख है ? मैं आपके द्वारा यह जानने का इच्छुक हूँ कि सुख कैसे मिलता है ? अर्थात् सुख प्राप्त होने का उपाय क्या है ?

जम्बूस्वामी की विनयभक्ति और उनकी जिज्ञासा जानकर सुधर्मास्वामी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने जम्बूस्वामी के प्रश्न के उत्तर मे पुण्य का फल सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय कथा द्वारा समझाया।

सुधर्मास्वामी ने कहा—हे जम्बू ! इसी अवसर्पिणी काल के इसी चौथे आरे मे हस्तिशीर्ष नाम का एक नगर था। अनेक विशाल भवनो से विभूपित, धन-धान्य से समृद्ध और जन-समूह से भरा हुआ वह नगर बडा ही सुन्दर था। वहाँ के निवासी सब प्रकार से सुखी तथा विश्वासपात्र थे। कृपि भी खूब होती थी। कृषक लोग कृपि द्वारा ईख, जौ, चावल आदि अन्न पैदा करते थे। नगर में गायें, भैंसे आदि दूध देने वाले पशु भी बहुत थे। बाग, कुएँ, तालाब आदि से वह नगर चारो ओर से सुशोभित था। उसमे सभी तरह के लोग जैसे व्यापारी, कृषक, राजकर्मचारी, नर्तक, गायक, मल्ल, विदूषक, तैराक, ज्योतिषी, चित्रकार, कुम्हार आदि रहते थे। नगर का बाजार बहुत ही सुहावना था, जिसमे वहाँ के व्यापारी अपना व्यापार करते थे। वहाँ के निवासी बडे सहृदय और सज्जन थे। चोरो, उचक्को और डाकुओं आदि का तो उस नगर में अभाव-सा था। नगर के बाहर ईशान कोण मे पुष्पकरण्ड नाम का एक उद्यान था, जो नगर की रमणीयता को बढा रहा था। वह उद्यान नन्दनवन के समान रमणीय तथा सुखदायक था। उस उद्यान मे अनेक तरह के सुन्दर-सुन्दर वृक्ष

थे। उद्यान सभी ऋतुओ मे फल-फूल से भरा रहता था। उद्यान मे कृतवनमालप्रिय नाम के एक यक्ष का यक्षायतन था, जो चारो ओर से सघन तथा ऊँचे वृक्षो से घिरा हुआ था और उन वृक्षो पर भौंरे सदा गुजार किया करते थे।

सुधर्मास्वामी के इस वर्णन से भारत की प्राचीन स्थिति का भी पता चलता है। आज तो यह स्थिति प्राय भारतीयो की कल्पना से भी परे की हो रही होगी, परन्तु आज की स्थिति को दो सौ वर्ष पूर्व के इतिहास से मिलाकर देखा जाय तथा उसी हिसाब से ढाई हजार वर्ष पूर्व की स्थिति का अन्दाज किया जाये तो मालूम हो जायेगा कि वास्तव मे यह वात अत्युक्तिपूर्ण नही, किन्तु साधारण है।

उस हस्तिशीर्ष नगर मे अदीनशत्रु नाम का राजा था। वह राजा क्षत्रिय था। हस्तिशीर्ष का राज्य उसके पूर्वजो से उसे प्राप्त हुआ था। सुन्दर, शोभनीय तथा राजलक्षणो से युक्त वह अदीनशत्रु राजा सव गुणो से सम्पन्न था। राजनीति का धुरन्धर जानकर, राज-नीतियो के वनाने मे चतुर तथा मर्यादा और प्रजा का पालन करने वाला था। स्वभाव से वह दयालु तथा नम्र था, परन्तु अपराधियो को दण्ड देने, दुष्टो का विनाश करने और शत्रुओ का मान-मर्दन करने मे क्रूर भी था। वह अदीनशत्रु राजा सव तरह से सम्पन्न था। भूमि, हाथी, घोडे, सोना, चादी, सेना, दास, दासी आदि सव कुछ उसके पास थे। अपने शत्रुओ को उसने निस्तेज कर रखा था। उसके वल-पराक्रम आदि के सामने किसी राजा की वह शक्ति न थी कि गर्दन उठा सके। प्रवन्ध की विशेपता के कारण उस नृपोत्तम अदीनशत्रु के राज्य मे दुष्काल, महामारी, चोर, डाकू आदि के उपद्रव प्राय नही होते थे। सदा सुभिक्ष वना रहता था। राजा अदीनशत्रु इस प्रकार अपने पैत्रिक राज्य का आनन्दपूर्वक शासन करता था।

राजा अदीनशत्रु के धारिणी नाम की पटरानी थी। धारिणी वहुत ही सुन्दरी, सर्वाङ्गसम्पन्न तथा सुलक्षणा थी। उसका मुख शरद्-चन्द्र

के समान निर्मल और सौम्य था। शृङ्गार सहित वेष, देखने वाले के चित्त को प्रसन्न करता था। धारिणी रानी बोलचाल मे कुशल और लोक-व्यवहार मे चतुर थी। अपने पति के प्रति वह सदा अनुरक्त रहा करती थी तथा तन, मन से सेवा किया करती थी। इस प्रकार अपने पति की प्रसन्नता मे प्रसन्न रहने वाली धारिणी रानी आनन्द-पूर्वक दिन व्यतीत करती थी।

कई लोग कहा करते हैं कि साधुओ को स्त्री-सौन्दर्य और सासारिक वातो के वर्णन की क्या आवश्यकता? इसके उत्तर मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि वास्तविक वात को बिना वतलाये काम नही चलता। यदि वास्तविक वात—स्त्री-सौन्दर्य या सासारिक वस्तुओ का वर्णन साधुओ के लिये वर्ज्य होता तो गणधर लोग हस्तिशीर्ष नगर, अदीनशत्रु राजा और धारिणी रानी आदि के प्रशसात्मक वर्णन मे वडे-वडे पाठ न देते, अपितु उसका अस्तित्व बतला देना ही पर्याप्त समझते। लेकिन गणधरो ने सव वातो का—फिर वे वातें चाहे सासारिक विषय की हो या स्त्री-सौन्दर्य विषय की—पूरी तरह वर्णन किया है। केवल धारिणी रानी के वर्णन मे ही कितना और किस भावार्थ का पाठ दिया है, यह देख लेने मात्र से मालूम हो जायेगा कि साधुओ के लिए वास्तविक वर्णन वर्ज्य नही है। धारिणी रानी के विषय मे शास्त्रपाठ है—

तस्स ण अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणीणाम देवी सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, लक्खणपंजणगुणोववेया, माणुम्माणवपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वगसु दरगी, ससिसोमाकारकातपियदसणा, सुरूवा, करयलपरिमियपसत्थतिवलियवलियमज्झा, कुण्डलुल्लियहियगडलेहा, कोमुइयरयणिकरविमलपडिपुण्णसोमवयणा, सिंगारागारचारुवेसा सगयगयहसियभणियविहियविलाससललियसलावणिउणजुत्तोवयारकुसला

पासादिया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा अदीणसत्तुएणं रण्णा सिद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चुब्भवमाणी विहरति ।

भावार्थ—उस अदीनशत्रु राजा की धारिणी नाम की रानी के हाथ-पैर बड़े ही कोमल थे। उसका शरीर सब लक्षणों से सम्पन्न और परिपूर्ण पाँचों इन्द्रियों से युक्त था। उसके शरीर में स्वस्तिक, चक्र आदि लक्षण और तिल आदि व्यञ्जन थे। उसके शरीर के सब अंग मान-उन्मान और प्रमाण के अनुसार ही बने थे। उसका चन्द्रमा के समान सौम्य और मनोहर अंग वाला रूप देखने वालों को बड़ा ही प्यारा लगता था। उसकी त्रिवलियुक्त कमर मुट्ठी में आ जाती थी। गालों की पत्र-रचना कानों के कुण्डल से चमकदार हो गई थी। उसका मुख कार्तिक में उदय होने वाले चन्द्रमा की चन्द्रिका ऐसा था। उसका वेश शृङ्गार रस का स्थान-सा हो गया था। उसका चलना, हँसना, चेष्टा और कटाक्ष उचित था। वह प्रसन्नता पूर्वक परस्पर भाषण करने में कुशल तथा लोकव्यवहार में चतुर थी। वह मनोहर तथा दर्शनीय थी, इसलिये देखने वाले का चित्त उसे देखते ही प्रसन्न हो जाता था। वह अदीनशत्रु राजा में अनुरक्त थी। उसका शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श प्रिय था। वह मनुष्यों के पाँच प्रकार के काम-भोगों को भोगती हुई रहती थी।

मतलब यह कि वास्तविक बात का वर्णन करने से साधुओं को नहीं रोका गया है। क्योंकि ऐसी बातें भी प्रायः पुण्य-प्रभाव प्रकट करती हैं। फिर ऐसे वर्णन से जिसका जैसा अध्यवसाय होगा, वह वैसा पुण्य या पाप का फल प्राप्त करेगा। अच्छे अध्यवसाय वाला पाप स्थान में भी पुण्य प्रकृति बाँध सकता है और बुरे अध्यवसाय वाला धर्म-स्थान में भी पाप प्रकृति बाँध सकता है। इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक नगर मे दो मित्र रहते थे। उसी नगर मे कुछ महात्मा भी आये थे और वेश्या भी आई थी। एक ही समय पर एक जगह तो महात्मा का उपदेश होने वाला था और दूसरी जगह वेश्या का नाच। एक मित्र ने कहा कि चलो उस नयी आयी हुई वेश्या का नाच देखने चलें। दूसरे मित्र ने कहा—नही, मैं नाच देखने नही चलूँगा, किन्तु महात्मा का उपदेश सुनने जाऊँगा। दोनो मित्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार दोनो स्थानो पर गये।

वेश्या का नाच हो रहा था। वेश्या चारो ओर घूम-घूमकर कटाक्षपूर्वक सबकी ओर देखती हुई नाच रही थी। लोक वेश्या की प्रशसा के पुल बाँधे देते थे। उसी समय उक्त मित्र उस नाच की महफिल मे पहुँचा। वेश्या को इस प्रकार नाचते और लोगो को उसकी प्रशसा करते देखकर उस मित्र को विचार हुआ कि आत्मा तो इस वेश्या का भी शुद्ध है, परन्तु न मालूम किन पापो के कारण इसके आत्मा पर अज्ञान का आवरण है। इसी से यह अपने इस सुन्दर शरीर को विषय-भोग मे लगा रही है और थोडे-से धन के लोभ मे अपना शरीर कोढी को सौंपने मे भी सकोच नही करती है। हाय! हाय!! यह तो साक्षात ही नरक की खान है। ये देखने वाले भी कैसे मूर्ख हैं, जो इसके चारो ओर इस प्रकार लगे हुए हैं, जैसे मरे हुए पशु को कुत्ते घेर लेते हैं। यद्यपि यह वेश्या किसी व्यक्ति-विशेष को नही देखती है—सबको उल्लू बनाने के लिए उनकी तरफ देखती है—फिर भी ये सब लोग अपने-अपने मन मे यही समझ रहे है कि वह मुझे ही देख रही है। मैं इस पापस्थान मे कहाँ आ गया! मित्र ने कहा था, फिर भी मैं महात्मा का उपदेश सुनने के लिये नही गया। धन्य है मित्र को! जो इस समय महात्माओ के पास बैठा हुआ धर्मोपदेश श्रवण कर रहा होगा और अपना कल्याण साधता होगा।

वेश्या की महफिल मे गया हुआ मित्र तो इस प्रकार विचार कर रहा है तथा महात्माओ का उपदेश सुनने के लिए गये मित्र को धन्य

मान रहा है, परन्तु जो मित्र महात्मा के समीप गया था, वह कुछ और ही विचारता है। जिस समय वह महात्माओ के समीप पहुँचा, उस समय महात्मा लोग विषयो के प्रति घृणोत्पादक वैराग्य का उपदेश सुना रहे थे। इस मित्र को महात्माओ का उपदेश रुचिकर नही हुआ, इसमे वह अपने मन मे कहने लगा कि मैं कहाँ आ गया ! मित्र ने कहा था, फिर भी मैं नाच देखने नही गया। धन्य है मित्र को, जो इस समय महफिल मे बैठा हुआ आनन्द से नाच देख रहा होगा और गाना सुन रहा होगा।

दोनो मित्र इस प्रकार अपने-अपने मन मे विचार कर रहे हैं और अपनी निन्दा करते हुए दूसरे मित्र की प्रशसा कर रहे हैं। वेश्या के यहाँ गया हुआ मित्र वेश्या के नाच को घृणा पूर्वक देखता है, उसका मन साधुओ के उपदेश मे लगा हुआ है और साधुओ के यहाँ गये हुए मित्र का मन वेश्या के नाच मे लगा हुआ है तथा वह नाच देखने के लिए गये हुए मित्र की प्रशसा कर रहा है। इस तरह वेश्या के नाच—जो पापस्थान है, मे बैठा हुआ मित्र तो पुण्य-प्रकृति बाँध रहा है और साधु के स्थान—जो धर्म स्थान है, मे बैठा हुआ मित्र पाप-प्रकृति बाँध रहा है। क्योकि पाप, पुण्य या धर्म अध्यवसाय पर निर्भर है और वेश्या के नाच मे बैठे हुए मित्र के अध्यवसाय अच्छे तथा साधुओ के उपदेश-स्थान मे बैठे हुए मित्र के अध्यवसाय बुरे हैं।

तात्पर्य यह कि पुण्य-पाप अध्यवसाय पर निर्भर है, वर्णित बात पर नही। इसलिये किसी भी बात का वर्णन करना अनुचित नही है। हाँ, वर्णन करने का उद्देश्य शुद्ध और पाप से बचाने का होना चाहिये। पुण्यवानी का प्रारभ ससार से ही होता है, इसलिए ससार की बातो को पाप-ही-पाप मानकर उनकी ओर ध्यान न देना उचित नहीं। प्रत्येक सुधार तभी हो सकता है, जब मूल भी सुधारा जाये। सयम का मूल ससार है। यदि ससार को सुधारने की ओर से उपेक्षा की जाय, ससार मे होने वाले कार्यों मे से किस मे पाप और किसमे

धर्म या पुण्य तथा किस मे महापाप और किस मे अल्पपाप होता है, यह न वताया जाय। पाप-कार्य को रोककर धर्म-कार्य की वृद्धि का उपाय न दिखाया जाय—तो ऐसे ससार से निकलकर होने वाले साधु, अपने कर्तव्य का पूरी तरह पालन नही कर सकते। क्योकि उन्हे जव प्रारम्भ से ही कर्तव्य-पालन की शिक्षा नहीं मिली है, तो वे अव इस नीति को ठीक तरह से कैसे निभा सकते हैं? इसलिये प्रत्येक वात पर ध्यान देकर विधि या निपेध वताना साधु का कर्तव्य है।



३ : स्वप्न

निद्रावस्था मृत्युकाल का नमूना है और स्वप्नावस्था पुनर्जन्म का नमूना है। निद्रावस्था मे जिस प्रकार शरीर के निश्चल पड़े रहने पर भी आत्मा स्वप्न-सृष्टि मे जन्म लेता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर और शरीर के निश्चल हो जाने पर भी आत्मा दूसरी जगह जन्म लेता है। यदि निद्रावस्था और स्वप्नावस्था पर मनुष्य भले प्रकार विचार करे तो उसे आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के विषय मे कोई सन्देह न रहे।

हे जम्बू ! धारिणी रानी अपने सुन्दर, सुसज्जित तथा सुगन्धित शयनागार मे कोमल शैया पर सो रही थी। वह न तो गाढ निद्रा में ही थी और न जाग ही रही थी। इतने मे उसने एक कल्याणकारी स्वप्न देखा। स्वप्न मे उसने यह देखा कि एक केसरी-सिंह जिसकी गर्दन पर सुन्दर-सुन्दर सुनहरी बाल बिखर रहे हैं, दोनो आँखें चमकीली हैं, कन्धे उठे हुए हैं, पूछ टेढी हो रही है, जँभाई (बगासी) लेता हुआ आकाश से उतरकर मेरे मुंह मे घुस गया है। स्वप्न को देखने से धारिणी रानी की नीद खुल गई। शुभ स्वप्न को देखने से धारिणी रानी को बहुत प्रसन्नता हुई। वह शैया से उठकर बैठ गई और अपना स्वप्न पति को सुनाने के लिए पति की शैया की ओर चली। चपलता रहित स्थिर मन तथा हस-गति से चलती हुई धारिणी रानी अदीनशत्रु की सेज के समीप पहुँची।

शास्त्र के कथन से यह प्रकट है कि अदीनशत्रु राजा और धारिणी रानी एक स्थान पर नही, परन्तु पृथक्-पृथक् शैया पर सोते थे। शास्त्र मे आयी हुई दूसरे स्थान की कथाओ से भी ऐसा ही प्रकट है। इससे सिद्ध है कि उस समय के सभी लोगों की यह नीति थी।

इस नीति का पालन करने से ही दम्पति स्वस्थ रहते थे तथा सन्तान सशक्त और दीर्घजीवी होती थी। आज इस नीति का पालन शायद ही कही होता हो, नही तो प्राय इस नीति के विरुद्ध ही कार्य होता है। इसका परिणाम भी वही हो रहा है, जो नीति-भग करने का होता है। यही कारण है कि आज के स्त्री-पुरुष दुर्बल, अनेक रोगो से घिरे हुए, निस्सहाय और उत्साहहीन दिखाई देते है। ऐसे स्त्री-पुरुष की सन्तान भी वलवान और दीर्घजीवी कैसे हो सकती है? इसलिये सन्तान को न तो उत्पन्न होते ही देर लगती है, न मरते ही।

अपने पति के समीप पहुँचकर धारिणी रानी ने उन्हे मधुर और प्रिय शब्दो द्वारा जगाया। अदीनशत्रु राजा की नींद खुल गई। वह उठकर बैठ गया। अपने सामने रानी को खडी अभिवादन करती देख राजा अदीनशत्रु ने रानी को पास ही पडे हुए रत्नमडित भद्रासन पर बैठने की आज्ञा दी। पति की आज्ञा पाकर धारिणी रानी आसन पर बैठ गई। चलने के श्रम को मिटा तथा हर्ष को रोककर धारिणी रानी सरल, मधुर और नम्रता भरे शब्दो मे राजा अदीनशत्रु से कहने लगी—नाथ! मैं अभी अपनी सेज पर सो रही थी, तब मैंने यह स्वप्न देखा कि एक विशाल सिंह जंभाई लेता हुआ आकाश से उतरकर मेरे मुंह मे घुस गया। इस स्वप्न को देखते ही मेरी नीद खुल गयी। कृपा करके यह वताइये कि इस शुभ स्वप्न का क्या फल होगा?

धारिणी रानी के स्वप्न को सुनकर राजा अदीनशत्रु को वहुत प्रसन्नता हुई। कुछ विचार करने के पश्चात् राजा ने धारिणी रानी से कहा—प्रिये! तुम्हारा यह स्वप्न वहुत कल्याणकारी है। इस स्वप्न का फल अर्थ-लाभ, पुत्र-लाभ और राज्य-लाभ है। अर्थ और राज्य की तो तुम्हें कमी नही है, यदि कमी है तो पुत्र की। मेरी समझ मे इस स्वप्न के फलस्वरूप तुम्हारी कूंख से एक ऐसे पुत्र का जन्म होगा, जो प्रियदर्शी, यशस्वी, वीरकुल का सूर्य और सर्वगुणसम्पन्न होगा।

अपने देखे हुए स्वप्न का पति के मुख से यह शुभ फल सुनकर

नी धारिणी को बहुत प्रसन्नता हुई। धारिणी ने पति को पुनः अभि-
ादन किया और धन्ययाद देकर तथा असमय जगाने के लिये क्षमा
ार्थना करके प्रसन्न मन, मन्द गति से अपने शयनस्थान को लौट आई।
ज पर बैठकर वह धर्म का स्मरण करने लगी। पुन सो जाने से इस
ुभ स्वप्न का फल किसी दूसरे दु स्वप्न से नष्ट हो जायेगा, यह विचार
र धारिणी रानी ने शेप रात्रि धर्म-जागरण मे ही वितायी, सोयी नही।

प्रात काल होने पर राजा अदीनशत्रु ने अपने सेवको को
ुलाकर सभा-भवन को विशेप रूप से शीघ्र सजाने की आज्ञा दी।
वको को यह आज्ञा देकर अदीनशत्रु ने हाथ-मुंह धोकर, व्यायाम-
ाला मे जा व्यायाम किया। पश्चात् सुगन्धित और शक्ति-दाता तेल
ा मर्दन कराया। थकावट दूर हो जाने पर राजा अदीनशत्रु व्यायाम-
ाला से निकल स्नानागार मे गया। वहाँ भली-भाँति स्नान किया।
नान कर चुकने पर शरीर मे सुगन्धित चन्दन, केसर का लेप किया
ौर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर फूलमालाएँ धारण कीं। शरीर
र मुकुट रख, हाथों मे वीरवलय + पहन, गले मे दुपट्टा डाल, राजा
अदीनशत्रु स्नानागार से वाहर निकला। स्नानागार के वाहर माड-
लिक राजा-मन्त्री-सेनापति, सेठ-साहूकार, दूसरे राजाओं के दूत आदि
लोग राजा की प्रतीक्षा मे खडे थे। राजा के निकलते ही जयघोष
के साथ सवने उसका उचित अभिवादन किया। इन सव लोगो से घिरा
हुआ राजा ऐसा जान पडता था, जैसे ताराओ के वीच मे चन्द्रमा।

इस प्रकार सव लोगो सहित राजा अदीनशत्रु सभा-भवन मे
आ, पूर्व की ओर मुख करके सिहासन पर वैठा। राजा ने सिहा-
सन के समीप ही मगल द्रव्य रखवा उन पर आसन विछवाये।
रानी धारिणी भी आकर उचित स्थान पर रखे हुये भद्रासन पर वैठी।

+ वीरवलय उन कड़ों का नाम है, जिन्हे राजा लोग अपना दर्प
वताने के लिये पहनते थे कि कोई दूसरा राजा यदि मुझसे अधिक शक्ति
रखता हो तो इन कड़ों को मुझसे छीन ले।

सब के यथास्थान बैठ जाने पर अदीनशत्रु ने स्वप्नशास्त्रियो को बुला लाने के लिये सेवको को आज्ञा दी । राजा की आज्ञा पाकर सेवक लोग स्वप्न-शास्त्रियो को बुला लाये । राजा के सामने पहुँचकर स्वप्न-शास्त्रियो ने 'जय हो' कहकर राजा को आशीर्वाद दिया । राजा अदीनशत्रु ने भी स्वप्न-शास्त्रियो की वन्दना, पूजा की और सम्मान सहित उन्हे मगल द्रव्य बिछे हुए आसनो पर बैठाया ।

स्वप्न-शास्त्रियो के बैठ जाने और सावधान हो जाने पर राजा अदीनशत्रु ने धारिणी रानी का स्वप्न स्वप्न-शास्त्रियो को सुनाकर उनसे उसका फल पूछा । स्वप्न-पाठको ने गणित करके तथा आपस मे अपने गणित के फल को मिलाकर राजा अदीनशत्रु से कहा—स्वामिन् ! स्वप्नशास्त्र मे हमने बहत्तर शुभ स्वप्न देखे हैं । इन बहत्तर शुभ स्वप्नो मे बयालीस साधारण फल देने वाले हैं और तीस स्वप्न महान् फल के देने वाले हैं । जब अर्हंत या चक्रवर्ती अपनी माता के गर्भ मे आते हैं, तब उनकी माताएँ इन तीस महान् फलदायक स्वप्नो मे से चौदह स्वप्नो को देखकर जागती हैं । जब वासुदेव गर्भ मे आते हैं, तब उनकी माताएँ इन चौदह स्वप्नो मे से किन्ही सात और जब बलदेव गर्भ मे आते हैं तब उनकी माताएँ इन चौदह स्वप्नो मे से किन्ही चार स्वप्नो को देखकर जागती हैं । इसी प्रकार माण्डलिक राजा के गर्भ मे होने पर उनकी माताएँ इन चौदह स्वप्नो मे से किसी एक स्वप्न को देखकर जागती है । रानी धारिणी भी इन्ही चौदह स्वप्नो मे से एक स्वप्न को देखकर जागी हैं, इसलिये इनके गर्भ से पुत्र का जन्म होगा । वह बालक बाल्या-वस्था का त्याग करते ही सब कलाओ का ज्ञाता होगा । युवा-अवस्था मे प्रवेश करने पर या तो वह दानी, वीर और राज्य को बढाने वाला राजा होगा या आत्मकल्याण करने वाला मुनि होगा ।

प्राचीन कालीन राजाओ के लिये दोनो बातें समान-रूप से आनन्द-दायक होती थी—अगर पुत्र मुनि बनकर आत्म-कल्याण करे तो

भी अच्छा और यदि राजा हो तो भी अच्छा। बल्कि माता-पिता की विशेष रूप से यह भावना बनी रहती थी कि हमारा पुत्र धर्म-निष्ठ बने तो अधिक श्रेयस्कर है।

राजा और मुनि की स्थिति पर अगर विचार किया जाय तो दोनो मे पर्याप्त भेद होने पर भी कई बातो मे समानता है। आज राजाओ का आदर्श बहुत नीचे गिर गया है और प्रजा के हित के बलिदान की इमारत पर उन्होने अपने हितो की इमारत खडी की है। अतएव राजा के प्रति आज प्रजा मे वैसी भावना नही रही है। मगर जिस काल की यह कथा है, उस काल मे राजा का आदर्श बहुत ऊँचा था। समस्त प्रजा राजा का एक बृहत् परिवार थी और उसका सुख-दुःख ही राजा का सुख-दुःख समझा जाता था। राजा प्रजा के हित और सुख का नियामक था। वह प्रजा का महान् सेवक था और प्रजा को अन्याय, अत्याचार और दुःखो से बचाता था। प्रजा को कुमार्ग की ओर जाने से बचाना और नीति-मार्ग पर चलना राजा का पवित्र उत्तरदायित्व था।

मुनि का कार्यक्षेत्र भी आत्मसाधना के साथ दुनिया को कुमार्ग पर जाने से बचाना और सन्मार्ग पर ले जाना है। मुनि अपने आत्म-तेज से और अपने पावन आचार के आदर्श से यह कार्य सम्पन्न करते हैं, जब कि राजा शासन-दण्ड से अपना कर्तव्य पूर्ण करता है। इस प्रकार साधनो मे भिन्नता होने पर भी प्रजा का वास्तविक हित-साधन करना दोनो का लक्ष्य समान है। दोनो ही जन-समूह के आदरपात्र होते हुए भी महान् सेवक हैं। इस प्रकार की समानता के कारण प्राचीन काल के नृपतिगण अपने पुत्र के राजा होने मे भी और मुनि होने मे भी प्रसन्न होते थे। उन्हे इस बात से प्रसन्नता होती थी कि हमारा पुत्र सिर्फ अपने ही लिये न जीयेगा, वरन् उसका जीवन जनता के श्रेयस् मे व्यतीत होगा।

यथासमय रानी गर्भवती हुई। गर्भ धारण करने का वास्तविक

ध्येय क्या है और गर्भ-धारण के पश्चात् क्या-क्या उत्तरदायित्व सिर पर आ जाते हैं, इत्यादि बातो पर सूक्ष्म विचार करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। अतएव यहाँ सिर्फ इतना ही कहकर सतोष किया जायगा कि किसी भी वस्तु के उत्पन्न करने मे आरम्भ का दोष अवश्य है, लेकिन उत्पन्न होने के अनन्तर उसे अनुकम्पा आदि अनेक सत्कार्यों का साधन भी बनाया जा सकता है। साथ ही उत्पन्न हुई सन्तान पर अनुकम्पा आदि का भी उत्तरदायित्व आ जाता है। ऐसा होने पर भी आजकल के कुछ लोग सब कार्यों मे—यहाँ तक कि सतति का पालन-पोषण करने मे भी एकान्तत. पाप-ही-पाप बतलाते हैं। उनकी यह प्ररूपणा गृहस्थ-धर्म को किस प्रकार क्रूरता के रूप मे परिणत करने वाली है, पाठक स्वय इस बात पर विचार कर सकते हैं।

अपने गर्भ मे बालक को जानकर धारिणी रानी ने ऐसी वस्तुओं को—जिनके भोगोपभोग से गर्भ को कष्ट हो सकता था— भोगोपभोग मे लेना त्याग दिया। उसने अधिक सर्द, अधिक गर्म, अधिक तीखे, अधिक कडुए, अधिक कसायले, अधिक खट्टे और अधिक मीठे पदार्थों का भोजन करना छोड दिया। इनके स्थान पर वह गर्भ की रक्षा के लिये ऐसे पदार्थों का भोजन करती और ऐसी वस्तुओ का उपयोग करती जो देश-काल के अनुसार हो और गर्भ के लिए हानिकर, अपथ्य और उसका नाश करने वाली न हो।

दम्पति को यह अधिकार तो है कि ब्रह्मचर्य पालन करके सन्तानोत्पत्ति के प्रपञ्च मे ही न पडे, परन्तु यह अधिकार नही है कि गर्भ-स्थिति के पश्चात् गर्भ की व्यवस्था न करे। जिस प्रकार कैदी और विशेषत ऐसे कैदी, जिसे कि अपने हानि-लाभ का ज्ञान नही है कि व्यवस्था का भार जेल अधिकारियो पर होता है, उसी प्रकार गर्भ के बालक की व्यवस्था का भार माता-पिता पर होता है। कैदी की व्यवस्था न करने वाला जेल अधिकारी जैसे निर्दयी कहलाता है, उसी तरह गर्भ के बालक की व्यवस्था न करने वाली, गर्भ की

उपेक्षा करने वाली स्त्री भी निर्दयिनी कहलाती है। इसलिए गर्भ के वालक की हर तरह रक्षा करना और उस पर अनुकम्पा करना, गर्भवती का कर्तव्य है। इसी प्रकार जो पुरुप गर्भ का ध्यान न करके गर्भ को हानि पहुँचाने वाले कार्य करता है, वह भी हत्यारा है।

गर्भवती स्त्री के लिये तपस्या करना वर्ज्य है। पेट मे गर्भ के होते हुये तपस्या करना, अनुकम्पा का नाश करना है। क्योकि गर्भ का भोजन माता के भोजन पर निर्भर है। भगवती सूत्र मे भी गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने यही कहा है कि माता के भोजन मे से ही गर्भ के वालक को भोजन मिलता है। जव माता के भोजन से ही गर्भ के वालक को भोजन मिलता है तो माता के उपवास करने पर गर्भ को भोजन न मिलना स्वाभाविक है। माता तो अपने आपकी हानि और लाभ को जानती है, वह तो स्वेच्छा-पूर्वक उपवास करती है परन्तु गर्भ का वालक अपनी हानि-लाभ को नही जानता और उसे अनिच्छा-पूर्वक भोजन से वञ्चित रहना पडता है। जो जीव अपने आश्रित है उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध भात-पानी से वञ्चित रखना ही भात-पानी-विच्छेद नाम का अहिंसा-व्रत का अतिचार है। इसलिए गर्भवती को तपस्या करने का अधिकार नही है। मूर्खतावश कई गर्भवती स्त्रियाँ गर्भ की उपेक्षा करके तपस्या करती हैं। इस मूर्खता के कार्य का परिणाम भी वडा भयकर होता है। कुछ घटनाएँ तो ऐसी तक सुनी गई हैं कि गर्भवती के तपस्या करने से गर्भ का वालक भूख के मारे पेट मे ही मर गया, जिससे गर्भवती को भी अपने जीवन से हाथ धोना पडा।

वालक पर गर्भ के समय के सस्कार वहुत जवरदस्त प्रभाव जमाते हैं। गर्भ पर माता के कार्य का ही नही, किन्तु माता की भावनाओ का भी प्रभाव पडता है। माता की जैसी भावनाएँ होगी, गर्भ के सस्कार भी वैसे होंगे। भारतीय सन्तान की दुर्वलता के कारणो मे से एक कारण यह भी है कि गर्भ के पालन-पोपण और

उस पर पडने वाले सस्कारों के विषय मे बहुत कम ध्यान रखा जाता है। गर्भधारण के पश्चात् पुरुष-ससर्ग न करना ही उचित है, परन्तु इस नियम का पालन भी वहुत कम स्त्रियां करती होगी। यही कारण है कि आजकल के पुत्र दुर्वल, अल्पायुपी और वुरे सस्कार वाले होते है।

धारिणी रानी ऐसी समस्त वस्तुओ और समस्त कारणो से बचती रहती, जो गर्भ के लिए हानिप्रद या गर्भ पर बुरे सस्कार डालने वह होते। उसकी जो भी इच्छाएं होती, उन उत्तम इच्छाओ को पूर्ण करती रहने से धारिणी रानी रोग, मोह तथा भय रहित हो गई।



४ : जन्म और शिक्षा-संस्कार

धारिणी रानी ने भली-भाति गर्भ की रक्षा की और अन्त मे उसके यथा-समय पुत्र की उत्पत्ति हुई। जातकर्म आदि सस्कार होने के पश्चात् उस पुत्र का नाम 'सुबाहुकुमार' रखा गया, पुत्र का यह नाम क्यो रखा, यह बताने का समय नही है।

अनुक्रम से बालक के सभी सस्कार किये गये। पाँच धायों की सेवा से पलता हुआ बालक ऐसा बढने लगा जैसे गिरि-कन्दरा मे लता की वृद्धि होती है। सुबाहुकुमार की अवस्था जब आठ वर्ष की हुई तब उसका विद्यारम्भ-सस्कार किया गया। सुबाहुकुमार के माता-पिता ने सुबाहुकुमार को बहत्तर कलाओ के पारङ्गत आचार्य को शिक्षा के लिए सौंपा दिया। आचार्य ने थोडे ही समय मे सुबाहु-कुमार को गणितादि बहत्तर कलाएँ सिखा दी। सुबाहुकुमार प्रत्येक कला मे दक्ष हो गया। कलाचार्य ने सुबाहुकुमार को लाकर उसके माता-पिता को सौप दिया। अपने पुत्र को समस्त कलाओ में पारगत देख धारिणी रानी और राजा अदीनशत्रु बहुत प्रसन्न हुए। दम्पती ने कलाचार्य को सन्मान-सत्कार सहित इतना दान दिया जो उसके जीवन भर के लिये पर्याप्त था।

उक्त बात से प्रकट है कि उस समय मे गुरुकुल की व्यवस्था बहुत उत्तम थी। राजाओं के पुत्र भी घर पर रहकर शिक्षा नही प्राप्त करते थे, किन्तु गुरुकुल मे आचार्य के समीप रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। घर पर रहकर प्राप्त की हुई शिक्षा मे और गुरुकुल मे रहकर प्राप्त की हुई शिक्षा मे अन्तर भी बहुत होता है। गुरुकुल मे प्रत्येक छात्र के लिये स्वावलम्बन की शिक्षा अनिवार्य थी। इस-

लिये छात्र को वहत्तर कलाएँ सिखाई जाती थी । वहत्तर कलाएँ जानने वाला वालक भविष्य मे कभी न तो किसी के आश्रित ही रहता है और न उसे आजीविका सम्वन्धी कोई कष्ट ही भोगना पडता है । आज की शिक्षा अधिकाश मे ऐसी होती है कि जिसमें स्वावलम्वी वनने के स्थान पर परावलम्वी वनना सिखाया जाता है । आधुनिक शिक्षा से वालको के स्वतन्त्रता के विचार नष्ट हो जाते हैं । वे खाने-पीने, पहिनने-ओढने और यहाँ तक कि वोलने-चालने मे भी दूसरो के आश्रित रहने मे अपना गौरव मानने लगते हैं । सदाचार की जगह दुराचार सिखलाया जाना आज की शिक्षा की विशेषता है । स्वतन्त्र विचार न रहने के कारण वर्तमान समय के अधिकाश शिक्षित लोग दूसरे के वताये हुये मार्ग पर ही चलते हैं । उनकी विचार-शक्ति ऐसी नष्ट हो जाती है कि वे किसी नये न्याय-मार्ग की खोज नही कर सकते । लेकिन प्राचीन काल की शिक्षा मे स्वतन्त्रता का प्राधान्य रहता था ।

टॉलस्टॉय ने आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हुये लिखा है कि आजकल की शिक्षा वहुत दूषित और हानिप्रद है । छात्रो के स्वास्थ्य, इच्छा आदि का ध्यान न रखकर उन पर जवरदस्ती कोर्स का इतना अधिक वोझ डाल दिया जाता है, जिसे उठाना उनकी शक्ति से परे और रुचि के विरुद्ध होता है । शिक्षा भी केवल वही दी जाती है जिसमे शिक्षित होने पर भी छात्रगण धनिको के आश्रित रहें, उनके सुख-वैभव मे सहायक वनें और स्वय पराधीनता की वेड़ी से मुक्त होने का भी विचार न कर सकें ।

प्राचीन समय के शिक्षक लोग भी ऐसे होते थे कि इस छात्र को आगे चलकर क्या काम करना है, इस वात को दृष्टि मे रख-कर शिक्षा दिया करते थे । उचित शिक्षा देने मे वे प्रत्येक उपाय का अवलम्वन करते थे । फिर चाहे ऐसा करने मे उनको विपत्ति मे ही क्यों न पड़ना पडे । छात्रों के माता-पिता भी ऐसे शिक्षक की आन्तरिक

भावना का विचार करके शिक्षक के द्वारा अपने बालक को कोई कष्ट हुआ हो, तब भी शिक्षक का अपराध नही मानते थे, किन्तु आभार मानते थे। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक राजा था। उसके एक लडका था, जो गुरुकुल मे शिक्षा प्राप्त करता था। इधर राजा को अपने शरीर पर कुछ ऐसे चिह्न दिखाई दिये जो वृद्धावस्था के द्योतक थे। उन चिह्नो को देखकर राजा ने विचारा कि बुढापे का नोटिस आ गया है इसलिये मुझे कोई ऐसा काम करना चाहिये, जो भावी सन्तान के लिऐ आदर्शरूप भी हो और जिसके करने से मेरे आत्मा का भी हित हो। इसलिए मुझे राजपाट राज-पुत्र को सौंपकर दीक्षा ले लेनी उचित है।

इस प्रकार निश्चय कर राजा ने प्रधान को बुलाकर अपने विचार प्रकट करते हुये राजकुमार के राज्याभिषेक की तैयारी करने का हुक्म दिया। सारे नगर मे यह समाचार फैल गया कि राजा अपने राजपाट का भार पुत्र को सौंपकर आप दीक्षा ले रहा है। होते-होते यह खबर उस गुरुकुल मे भी पहुँची, जिसमे कि कुमार पढ रहा था। कुमार को पढ़ाने वाले शिक्षक ने विचार किया कि राजकुमार कल राजा बनेगा, लेकिन अभी इसे वह शिक्षा देनी रह ही गई है, जिस शिक्षा से जनता का हित होने वाला है। आज तो मैं इसका गुरु हूँ और यह मेरा विद्यार्थी है। आज मैं इसे जैसी और जिस-जिस तरह चाहूँ, शिक्षा दे सकता हूँ, परन्तु कल जब कि यह राजा हो जायेगा, इसे कुछ न तो कह ही सकूंगा, न यह मानेगा ही। इसे जो शिक्षा देनी है, वह कई दिन मे दी जाने की है और यह मेरे पास केवल आज भर है। कल तो चला ही जायेगा। अब बहुत दिन मे दी जाने वाली शिक्षा इसे आज ही कैसे दे दूं?

शिक्षक इस चिन्ता मे पड गया। सोचते-सोचते उसने वह उपाय सोच लिया, जिसमे कुमार को वह आज ही मे शेष शिक्षा दे सके। उसने कुमार को एकान्त मे बुलाकर उसके हाथ-पैर बांध

दिये और एक बेंत से उसे खूब पीटा। राजकुमार एक तो सुकुमार था, दूसरे उसने मार के नाम पर कभी एक थप्पड भी नही खाया था, इसलिये उसे शिक्षक का उक्त व्यवहार बहुत दु खदायी हुआ। उसके शरीर की चमडी निकल आई। वह अपने मन मे दु ख करने के साथ ही शिक्षक के विषय मे बहुत से बुरे सकल्प कर रहा था। यद्यपि इस मार से राजकुमार को बहुत पीडा हुई, परन्तु शिक्षक ने उसे इतने मे ही नही छोडा, अपितु एक अन्धेरी कोठारी मे बन्द कर दिया। निश्चित समय तक राजकुमार को एक कोठारी मे बन्द रखकर शिक्षक ने उसे कोठारी से निकाला और अपने शिष्यो के साथ उसे उसके घर भेजकर राजा से कहलवा दिया कि तुम्हारा पुत्र सब शिक्षा प्राप्त कर चुका है, अत. शिक्षक ने इसे आपके पास लौटा दिया है।

राजकुमार अपने पिता के पास पहुँचा। अपने शरीर को बताते हुए उसने राजा से शिक्षक के निर्दयतापूर्ण व्यवहार की शिकायत की। पुत्र के शरीर पर मार के चिह्न देख और उसकी शिकायतें सुनकर राजा को शिक्षक के ऊपर बहुत ही क्रोध हुआ। उसने उसी क्रोधावेश मे यह आज्ञा दी कि शिक्षक को पकडकर फाँसी लगा दी जावे।

राजा की आज्ञा पाकर राज-सेवक शिक्षक को पकड़ लाये। शिक्षक अपने मन मे समझ गया कि यह सजा राजकुमार को शिक्षा देने की ही है। उसने राजकर्मचारियो से पूछा कि मैं क्यो पकडा जाता हूँ ? उन्होंने उत्तर दिया कि यह हम नही जानते, परन्तु राजा की आज्ञा तुम्हे फाँसी देने की है। अत. तुम फाँसी पर चढने को तैयार हो जाओ।

फाँसी के समय नियमानुसार शिक्षक से उसकी अन्तिम इच्छा पूछी गई। शिक्षक ने कहा कि मेरी इच्छा केवल यही है कि मैं राजा से मिलकर एक बात पूछ लूँ। अधिकारियो ने शिक्षक की

इस इच्छा की सूचना राजा को दी । राजा ने पहिले तो यह कह-कर कि ऐसे आदमी का मुंह नही देखना चाहता, शिक्षक से मिलना अस्वीकार कर दिया, परन्तु अधिकारियो के समझाने-बुझाने पर उसने शिक्षक से मिलना और उसकी बात का उत्तर देना स्वीकार कर लिया।

शिक्षक को राजा के सामने लाया गया। राजा को शिक्षक का प्रसन्न चेहरा देखकर आश्चर्य हुआ । शिक्षक के चेहरे से यह ज्ञात होता था कि जैसे इसे मरने का दुःख नही, किन्तु सुख है । राजा ने शिक्षक से कहा कि क्या कहना चाहते हो ? कहो ! शिक्षक ने कहा कि मैं आपके पास प्राण-भिक्षा के लिए नही आया हूँ । मुझे फांसी लगने का किंचित् भी भय नही है । मैं केवल आपसे यह जानना चाहता हूँ कि आपने मुझे किस अपराध पर फाँसी का हुक्म दिया है ? सब को मेरा अपराध मालूम हो जाना अच्छा है, नही तो मुझ पर यह कलक रह जायेगा कि शिक्षक ने न मालूम कौनसा गुप्त अपराध किया था, जिससे उसे फांसी दे दी गई।

शिक्षक की इस बात ने तो राजा का आश्चर्य और भी बढा दिया। वह विचारने लगा कि यह भी कैसा विचित्र आदमी है, जो मरने से भय नही करता है ? उसने शिक्षक की बात के उत्तर मे कहा कि क्या तुमको अपने अपराध का पता नही है ? तुमने कुमार को बडी निर्दयतापूर्वक पीटा और कोठरी मे बन्द कर दिया, फिर भी अपना अपराध पूछते हो ?

राजा के उत्तर के प्रत्युत्तर मे शिक्षक ने कहा कि मैंने तो कुमार को नही मारा ! शिक्षक की यह बात सुनकर राजा का आश्चर्य क्रोध मे परिणत हो गया । वह शिक्षक तथा वहाँ पर उपस्थित लोगो को कुमार का शरीर दिखाकर कहने लगा कि मैं शिक्षक की अब तक की बात से तो प्रसन्न हुआ था, परन्तु अब यह मरने के भय से झूठ बोलता है । देखो, इसके शरीर पर अब तक मार के चिह्न मौजूद हैं, फिर भी यह कहता है कि नही मारा।

राजा ने कुमार के मुंह से घटना की समस्त बातें कहलवाई। सब लोग शिक्षक की निन्दा करते हुए कहने लगे कि वास्तव मे इसने फांसी का ही काम किया है। शिक्षक ने कहा कि मैंने इसे मारा जरा भी नही है, जिसे आप मार कहते है वह तो मैंने शिक्षा दी है। यदि शिक्षा देने के पुरस्कार मे ही आप मुझे फांसी दिलवाते हैं तो यह आपकी इच्छा। मुझे आपसे इतनी बात करनी थी, अब आप मुझे फांसी लगवा दीजिये।

शिक्षक की इस बात ने तो सभी को आश्चर्य मे डाल दिया। राजा ने शिक्षक से कहा कि तुम्हारी इस बात का अर्थ समझ मे नही आया कि तुमने इसको इतना कष्ट दिया और फिर कहते हो कि मैंने मारा नही, किन्तु शिक्षा दी है? बतलाओ कि तुम्हारे इस कथन का रहस्य क्या है? शिक्षक कहने लगा कि मुझे मालूम हुआ कि राजकुमार कल राजा होगा। मैंने विचारा कि कुमार अब तक सुख मे ही रहा है, दुःख का इसे किंचित् भी अनुभव नही है। इससे यह राज्याधिकार मे मत्त होकर बिना विचार किये ही प्रजा मे से किसी को कैद करने की आज्ञा देगा। यह इस बात का विचार नही करेगा कि मारने, बांधने और कैद करने से इसे कैसा दुःख होगा। इस प्रकार विचार कर मैंने निश्चय किया कि कुमार को इसका अनुभव करा दिया जाये, जिससे यह आज्ञा देते समय अपने अनुभव पर से दूसरे के कष्ट जान सके और विचार कर आज्ञा दे। यद्यपि यह मैं पहले ही जानता था कि कुमार को जो शिक्षा मैं दे रहा हूँ इसके बदले मे सम्भव है कि मुझे फांसी की सजा भी मिले। लेकिन इसके लिये मैंने यही निश्चय किया कि मेरी फांसी से अनेको आदमी कष्ट से बचेंगे, इसलिये मुझे फांसी का भय नही करना चाहिये और कुमार को शिक्षा दे देनी चाहिए। यही विचार कर मैंने कुमार को शिक्षा दी है, कुमार को मारा नही।

शिक्षक की बात सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। वह शिक्षक

की प्रशसा करने लगा और कहने लगा कि तुमने वह काम किया है जिसके विपय मे मुझे अव तक चिन्ता थी, तुमने मुझे चिन्तामुक्त कर दिया। यद्यपि तुम्हारे इस कार्य से प्रसन्न होकर मुझे उचित था कि मैं तुम्हे पुरस्कार देता, परन्तु मैं इस रहस्य को अव तक न जान सका था इसलिये मैंने तुम्हे फांसी देने की आज्ञा दे दी। अव मैं तुम्हे फांसी देने की अपनी आज्ञा को वापिस लेता हूँ और दस ग्राम की जागीर देकर तुम्हारे सिर पर यह भार देता हूँ कि जिस तरह इस वार तुमने अपने प्राणो की परवाह न करके कुमार को शिक्षा दी है, इसी प्रकार सदा शिक्षा देते रहना। राजा की वात के उत्तर मे शिक्षक ने कहा कि आपकी यह आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु मैं जागीर नही ले सकता। यदि जागीर लूंगा तो फिर आपकी आज्ञा का पालन नही कर सकूंगा। क्योकि तव मैं शिक्षक न रहूँगा, किन्तु गुलाम होऊँगा। मुझे अपनी जागीर छिन जाने का सदा भय वना रहेगा, जिससे मैं सच्ची वात न कहकर ठकुर-सुहाती वात कहूँगा।

मतलव यह कि प्राचीन समय के शिक्षक प्राय ऐसे उत्तम होते थे कि छात्र को उचित शिक्षा देने मे वे प्राणो तक की भी परवाह नहीं करते थे। साथ ही शिक्षा ऐसी होती थी कि जिससे छात्र स्वतन्त्र, स्वावलम्वी और दूसरे के दुख को जानता था। अस्तु। थोड़े ही दिनो मे वालक सुवाहुकुमार वहत्तर कलाओ मे प्रवीण हो गया।

पुराने जमाने के लोग चाहे वह कितने ही सम्पन्न या राजा ही क्यो न हो, अपने वालक को वहत्तर कलाएँ सिखलाते थे। इसका उद्देश्य यह था कि वालक वडा होने पर किसी भी परिस्थिति मे और किसी भी कार्य मे दूसरो का मोहताज न रहे। दूसरो पर अवलम्वित होकर रहना, पराया आसरा ताकना, स्पष्ट ही एक प्रकार की गुलामी है। एक वडी दीनता है। आजकल के वहुत से लोग इस गुलामी एव दीनता को गौरव मानते है। इसी मे अपना वड-प्पन समझते हैं। मगर यह पतन-अवस्था का चिह्न है।

सुवाहुकुमार ने राजकुमार होते हुए भी खेती करना, कपडे वनाना आदि सव कार्य सीखे। ये सव कार्य वहत्तर कलाओ मे गर्भित हो जाते हैं।

जिन कार्यों से जीवन की रक्षा होती है और जिनके विना जगत् का काम नही चल सकता, उनमे से एक को अच्छा वताना और दूसरे को वुरा मानना, इस प्रकार का भेदभाव ही खराव है। उदाहरणार्थ— आप वस्त्र पहनना तो अच्छा मानते हैं, मगर वस्त्र वुनना वुरा समझते हैं। यह आपका पक्षपात है। जो मनुष्य कपडे पहनने मे ठसक रखता है मगर कपडा वुनना वुरा समझता है, वह अपने आपको मिट्टी के पुतले के समान वनाता है अथवा गनगौर या उसके साथ वनाये जाने वाले ईश्वर के समान वनाता है जो दूसरे के पहनाने से वस्त्र पहन लेते हैं और छीन लेने पर धरे रह जाते हैं। ससार मे ऐसे लोगो का मान नही रहता। इसी कारण ज्ञानी जनो का कथन है कि जीवन की स्वतन्त्रता को पहचानो। यह तो सम्भव नहीं कि कोई व्यक्ति किसी भी अश मे दूसरे पर निर्भर न रहे, तथापि जो दूसरो से थोडा-सा लेकर दूसरो को वहुत कुछ देता है—दूसरो को सुखी वनाता है, वही स्वतन्त्र-जीवी व्यक्ति है। पराधीन जीवन मे कही सुख नही है। स्वतन्त्रता दु ख नही, सुख है। जितने अशो मे जो पराधीन है, उतने ही अशो मे वह दु खी है। ऐसा विचार कर सुवाहुकुमार को वहत्तर कलाओ का शिक्षण दिया गया।

सुवाहुकुमार समस्त कलाओ मे कुशल हो गया। उसके माता-पिता को यह शौक नही चर्राया कि इसे जल्दी व्याह दिया जाय और गुड्डा-गुड्डी के समान पुत्र एवं पुत्रवधू को देखकर जल्दी अपनी आँखें शीतल करें। उन्होने वाल्यावस्था मे उसका विवाह नही किया।

वहत्तर कलाएँ सीखकर सुवाहुकुमार ने यौवनावस्था मे पदार्पण किया। पिता ने जव देखा कि अव सुवाहुकुमार गृहस्थी का भार अपने सिर पर उठा लेने योग्य हो गया है, तव उन्होने पाँच सौ कन्याओ के

साथ सुबाहुकुमार का विवाह कर दिया।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि सुबाहुकुमार के एक साथ इतने विवाह क्यो किये गये ? इस प्रश्न को हल करने के लिए अनेक बातें कही जा सकती हैं, यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि बहु-विवाह जैनशास्त्र का कोई विधान नही है। विवाह का प्रधान सम्बन्ध तत्कालीन रीति-रिवाज से है। मगर जिन लोगो का जैनशास्त्र पर ध्यान हो, उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि ऐसे बहुत विवाह करने वाले पुरुषो के शरीर में बहुधा वैक्रिय लब्धि होती थी। इस विषय मे एक बात सुनने योग्य है।

कहा जाता है कि एक बार नारदजी ने श्रीकृष्ण से कहा—आप इतने महान् पुरुष गिने जाते हैं, फिर इतने विवाह करना आपके लिए क्या उचित है ? श्रीकृष्णजी ने उत्तर दिया—मेरे सिर्फ एक ही पत्नी है, दूसरी नही है।

नारद—आपका यह कथन मेरी समझ मे नही आता ! महल-के महल रानियों से भरे पडे हैं और आप कहते हैं—मेरे सिर्फ एक पत्नी है।

श्रीकृष्ण—अगर आपको विश्वास नही है तो अन्त पुर मे जाकर देख आइये कि एक रानी के साथ एक कृष्ण है या नही। जिस रानी के साथ मैं न होऊँ, समझ लीजिये कि वह मेरी पत्नी नही है।

नारदजी ने सोचा—देखें, कृष्णजी कहाँ-कहाँ दौडेंगे। मैं एक मुहूर्त मे पैंतालीस लाख योजन चलने वाला हूँ। ऐसा सोच नारदजी दौड़कर प्रत्येक महल मे गये। मगर उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ कि जिस महल में वह पहुँचे, कृष्णजी वही मौजूद हैं। कृष्ण की रानियों मे उन्हे एक भी ऐसी न मिली जो बिना कृष्ण की हो। इस प्रकार नारद जी सब महल देखकर जब सभाभवन मे लौटे तो उन्होंने कृष्ण को सिंहासन पर बैठे देखा। नारदजी बोले—आप यहाँ भी मौजूद हैं ? कृष्णजी मुस्कराहट के साथ बोले—कहाँ जाऊँ ? मेरे तो स्त्री ही नही

है। 'आपकी लीला अपरम्पार है', कहकर नारदजी चल दिये।

आज के लोग सहज ही यह कह सकते हैं कि ऐसी असम्भव बातो को सुनना भी वृथा है, लेकिन जो लोग वैक्रियलब्धि नही मानते उन्हे बहुविवाह भी नही मानना चाहिए। जिस शास्त्र की एक बात को आप अस्वीकार करते हैं, उसी की दूसरी बात स्वीकार कैसे कर सकते हैं ?

तो सुबाहुकुमार का पांच सौ राज-कन्याओ से विवाह हुआ। एक ओर राजाओ की कन्याएँ और दूसरी ओर राजकुमार है। सब राजकन्याओ के साथ, एक ही दिन विवाह होना आज के लोगो के लिए आश्चर्य की बात है। आज के लोग एक ही कन्या के विवाह मे न जाने क्या-क्या कर डालते हैं। मगर मित्रो ! इस कथा मे एक ऐसी जीवनी रखी गई है, जिसके पढने, सुनने और मनन करने से हृदय के फाटक खुल जाएँ।

पांच सौ कन्याओ के साथ एक ही दिन मे विवाह करने का अर्थ यह था कि लोगो के समय, शक्ति और स्वास्थ्य आदि का बचाव किया जाय। एक एक कन्या के साथ अलग-अलग समय पर विवाह किया जाता तो न जाने कितना समय लग जाता और कितनी शक्ति खर्च होती ! लगातार बहुत दिनो के वैवाहिक खान-पान से लोगो के स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती। यह सब विचार कर पहले के समय मे प्राय एक ही दिन और एक ही मण्डप मे विवाह होता था। प्राचीन काल के लोग समय की बचत का बहुत ध्यान रखते थे और खान-पान तथा मौज-मजे के लिये समय का अनुचित व्यय नही करते थे। आप अपने समय का कितना मूल्य आंकते हैं, यह आप ही सोच लें। गिरा हुआ एक पैसा खोजने मे पूरा एक घण्टा खर्च कर देने वाले आप मे कई मिल सकते हैं। यह आपके समय की कद्र है, जो आप स्वय करते है। भारतवर्ष के अधिकाश निवासियों मे यह एक बड़ी त्रुटि है कि वे समय की अपेक्षा पैसे को अधिक मूल्यवान मानते

ा। बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नही मानते। पैसे की अपेक्षा समय को
ाधिक कीमती समझते हैं। समय का मूल्य समझे बिना जीवन
ाव्यवस्थित रहता है और अच्छे कार्य नही हो पाते। अच्छे कार्य
र बिना आत्मा निराधार हो जाती है। आशय यह है कि समय
ी बचत के लिहाज से सुवाहुकुमार का पाँच सौ राज-कन्याओ के
ाथ एक दिन मे ही विवाह किया गया।

विवाह के पश्चात् सुवाहुकुमार ऊँचे महलो मे नाटक, नृत्य
ादि देखते हुये रहने लगे। ससारी जीव इस स्थिति को सुखमय
ानते है, मगर वास्तव मे यह सुख का कलेवर मात्र है। यद्यपि
ात्मा के लिये कलेवर की भी आवश्यकता है, लेकिन आत्मा-विहीन
ालेवर मुर्दा है। हिन्दू लोग आत्महीन मुर्दा कलेवर को भी सिंगारते
ी, पर क्या इससे उसे सुख का अनुभव होता है?

नही।

इसी प्रकार विवाह सम्बन्धी तथा भोगोपभोग सम्बन्धी सुख,
सुखाभास है—सुख का कलेवर मात्र है। वह सच्चा सुख नही है।
सच्चे सुख का द्वार कहाँ और किस प्रकार खुलता है, यह आगे आता
है। सुखविपाक की इस कथा मे सुख का रस कैसे पडता है और
कलेवर मे आत्मा का दर्शन किस प्रकार होता है, यह ध्यानपूर्वक
देखना चाहिये।

जिसका आत्मा आध्यात्मिक सुख को न देख, केवल भोग के
कलेवर का ही कीडा बना रहा, उसका मानव-जीवन निसार है
उसने बहुमूल्य अवसर खो दिया।



२ : भगवान का पदार्पण

उस समय चौवीसवें तीर्थङ्कर श्रमण भगवान महावीर एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरते हुए हस्तिशीर्ष नगर मे पधारे।

भगवान रथ, पालकी या विमान मे बैठकर नही, वरन् पैदल ही विहार करते थे। वे अपने पैरो से ही गाँव-गाँव मे भ्रमण करते थे। जिन भगवान की सेवा के लिये एक करोड देवता सदा प्रस्तुत रहते थे, उनके लिये एक रथ क्या दुर्लभ था? देव एक लाख योजन का रथ वनाकर और उसमे बैठकर भगवान की सेवा लिये आवें और भगवान स्वय पैदल विहार करें! मगर जीवन की कला को प्रकट करने के लिए भगवान पैदल ही चलते थे। वास्तव मे सच्चा सुख सादगी और आत्मदमन से ही मिल सकता है।

भगवान महावीर हस्तिशीर्ष नगर मे आकर (नगर से वाहर) पुष्पकरण्डक नामक उद्यान मे ठहरे और तप एव सयम द्वारा आत्मा को अच्छे लगने वाले आनन्द मे विचरने लगे।

भगवान महावीर का आगमन सुनकर अदीनशत्रु राजा उन्हे वन्दना करने के लिए सारे लवाजमे के साथ गया, जैसे कोणिक गया था। सुवाहुकुमार भी उसी प्रकार रथ मे वैठकर वन्दना करते निकला, जैसे जमाली निकला था।

यहाँ आशका हो सकती है कि जव अदीनशत्रु और सुवाहु-कुमार आदि सवारी पर सवार होकर भगवान की वन्दना करने गये थे तो यदि आज हम लोग मोटर आदि पर चढ़कर मुनि-दर्शन के लिये जायें तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो वह राजा थे और राजा को अपने गौरव की रक्षा के लिये कुछ विशेषता

रखनी पड़ती है । वह पैदल कही भी नहीं जाते । क्या आप बिना सवारी कही नही जाते हैं ? इसके अतिरिक्त अगर राजा बिना सवारी और सामान के जाते तो लोगो पर वह छाप न पडती, जो इस अवस्था मे पड़ी थी ।

सब लोग भगवान की वन्दना करने गये । भगवान ने उपस्थित विशाल जनसमूह को धर्म-देशना दी । भगवान ने वह धर्म सुनाया जो आत्मा का जीवन, प्राण और उसकी जाज्वल्यमान शक्ति है ।

प्रश्न हो सकता है कि धर्म अरूपी और शब्द रूपी है । फिर रूपी के द्वारा अरूपी को कैसे व्यक्त किया जा सकता है ? और इस धर्म सुनने का तत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह हैं कि धर्म मे जो शक्ति है वह शब्दो द्वारा ही प्रकट की जाती है । चाहे शब्द धर्म की सम्पूर्ण शक्ति को प्रकट करने मे असमर्थ है फिर भी शब्द को छोडकर उसे प्रकाशित करने का दूसरा कोई उपयोगी माध्यम नही है । जैसे आत्मा अरूपी होकर के भी रूपी शरीर मे ठहरा है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म अरूपी होकर भी शब्द मे रहा हुआ है ।

भगवान ने जो धर्म सुनाया, उसका विस्तार शास्त्र मे विद्यमान है । भगवान ने धर्म के दो प्रकार सुनाये—सूत्रधर्म और चारित्र-धर्म । अथवा धर्म के दो प्रकार अगार-धर्म और अनगार-धर्म भी होते हैं । अगार का अर्थ है—घर । घर-गृहस्थी मे रहते हुये बाल-बच्चे, धन, मकान आदि का परित्याग न करके भी जिस धर्म का पालन किया जाता है, वह अगारधर्म या गृहस्थधर्म कहलाता है । इससे विपरीत धन, जन, भवन आदि का त्याग करके वनवास अगीकार करना, जगत् के समस्त सजीव और निर्जीव पदार्थों से पूरी तरह नाता तोड लेना और फिर धर्म का आराधन करना अनगार-धर्म कहलाता है । इसे साधुधर्म भी कहते हैं ।

अनगार-धर्म ही उच्च-कोटि का धर्म है, किन्तु सभी लोग एकदम अनगार-धर्म का पालन नही कर सकते । इस कारण भगवान

ने धर्म को दो भागो मे विभक्त कर दिया है । अथवा यो कहिए कि भगवान ने धर्म की दो कक्षाएँ स्थापित कर दी हैं।

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।

अर्थात् गृहस्थ-धर्म मे पहला व्रत स्थूल प्राणी की हिंसा त्यागना है । स्थावर जीव सूक्ष्म और हिलने-चलने वाले त्रस प्राणी स्थूल कहलाते हैं । श्रावक सूक्ष्म अहिसा का पालन नही कर सकता । उस पर अगर सूक्ष्म अहिसा-पालन का बोझा लाद दिया जाय तो वह अधिक अपराधी बनेगा । इसलिये भगवान ने ऐसा उपयुक्त धर्म बतलाया है कि चक्रवर्ती राजा भी उसका सरलतापूर्वक पालन कर सकता है।

गृहस्थ श्रावक को भगवान ने स्थूल-हिसा का त्याग बतलाया है । अगर उसके लिये सूक्ष्म-हिसा का त्याग अनिवार्य कर दिया जाता तो ससार कैसे चलता ? चूले का और-चक्की का, कृपि और गोपालन आदि का कार्य यदि सभी मनुष्य एक साथ छोड दें तो काम कैसे चल सकता है ? भगवान ने श्रावक के लिए स्थूल-हिंसा का त्याग बताकर उसमे भी दो कोटियाँ बताई हैं—एक आकुट्टि और दूसरी अणाकुट्टि । अर्थात् सकल्पजा हिंसा और आरम्भजा हिंसा । गाडी मे बैठने का उद्देश्य कीडे-मकोडे मारना नही है, फिर भी वह मरते तो हैं ही इस प्रकार की हिंसा आरम्भजा हिसा है । एक आदमी पत्थर से चीटियो को मारता है । उसका यह कार्य सकल्पजा हिसा है । तात्पर्य यह है कि मारने का उद्देश्य न होने पर भी गृहस्थी का काम-काज करते समय जो अबुद्धि-पूर्वक हिंसा हो जाती है वह आरभजा हिंसा कहलाती है ।

गृहस्थ के लिये आरम्भजा हिंसा त्यागना ही अशक्य नही है, वरन् सकल्पजा हिंसा का भी पूर्णरूप से त्याग करना कठिन होता

बारह व्रतो पर पूज्यश्री के व्याख्यान पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं । श्री हितेच्छु श्रावक मडल, रतलाम से प्राप्त किये जा सकते हैं ।

है । इसलिये भगवान ने सकल्पजा हिंसा के भी दो भेद कर दिये हैं—अपराधी की सकल्पजा हिंसा और निरपराध की सकल्पजा हिंसा। गृहस्थ श्रावक निरपराध की सकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। तात्पर्य यह निकला कि निरपराध त्रस प्राणी को मारने के सकल्प से (जान-बूझ कर) न मारना स्थूल अहिंसा है ।

इसी प्रकार भगवान ने श्रावक के बारह व्रतो का स्वरूप बतलाया, जिनका विवेचन कई बार किया जा चुका है ।

इस धर्म को सुनने से बहुतो को बोध होना सम्भव है, लेकिन कथा मे अत्यधिक विस्तार हो जाने के भय से मूल बात ही कहता हूँ।

सब लोग धर्म-श्रवण करके अपने-अपने स्थान पर चले गये, परन्तु सुबाहुकुमार भगवान के पास ही ठहर गये । सुबाहुकुमार ने धर्म श्रवण कर उसे दूसरे कान से नही निकाल दिया । उसने उस पर मनन किया । भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म ने सुबाहुकुमार के अन्तस्तल का स्पर्श किया ।



९ : श्रावक व्रत-धारण

मूल—तए ण से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे, जाव एव वयासी—

सद्दहामि ण भते ! निग्गथ पावयण, जहा ण देवाणुप्पियाण अतिए बहवे राईसर० जाव मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइया, णो खलु अह तहा सचाएमि मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइत्तए। अह ण देवाणुप्पियाण अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय-दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जिस्सामि।

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करह ।'

तए ण से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ अतिए पचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय-दुवालसविह गिहिधम्म पडिवज्जाइ, २ त्ता तमेव दुरूहइ, २ त्ता जामेव दिसि पाउब्भूए तामेव दिस पडिगए।

शब्दार्थ—तदनन्तर सुबाहुकुमार श्रमण भगवान महावीर के निकट धर्मश्रवण करके और अवधारण करके हर्षित और सतुष्ट हुआ। यावत्—इस प्रकार कहने लगा—

भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। आप देवो के वल्लभ के समीप जैसे बहुत से राजा और ईश्वर (राजकुमार आदि) मुडित होकर, गृहस्थी का त्याग करके अनगारता धारण करते हैं, उस प्रकार मैं आपके निकट अनगार धर्म की दीक्षा लेने मे समर्थ नही हूँ। मैं आप देवानुप्रिय के निकट पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप द्वादश प्रकार के गृहस्थ-धर्म को धारण करूँगा, धारण करने की अभिलाषा करता हूँ।

(भगवान ने फर्माया—) देवानुप्रिय ! जिस प्रकार सुख

उपजे, वैसा करो । धर्म कार्य मे ढील मत करो ।

तब सुबाहुकुमार ने श्रमण भगवान महावीर के निकट पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया । गृहस्थ-धर्म स्वीकार करके उसी रथ पर सवार होकर जिस ओर से आया था, उसी ओर लौट गया ।

भोजन तो किया जाय, मगर उसे पचाया न जाय तो वह बलदायक नही होता । इसी प्रकार धर्म सुनकर उस पर मनन न किया जाय तो वह ज्ञानदाता नही होता । जैसे किये हुए भोजन का पचाना आवश्यक है, उसी प्रकार सुने हुए धर्म पर मनन करना भी आवश्यक है ।

भगवान के सुनाये हुये धर्म पर विचार करने से सुबाहुकुमार को वैसा ही हर्ष हुआ जैसा प्यासे को पानी, भूखे को भोजन और धूप से दुःखी को शीतल छाया मिलने से होता है । सुबाहुकुमार का हृदय हर्ष-विभोर हो उठा । उसका चित्त प्रफुल्लित हो गया । सुबाहु-कुमार को धर्म सुनकर ऐसी अपूर्व शान्ति मिली कि उसका रोम-रोम खिल उठा । सुबाहुकुमार को विचार आया कि इस समय मुझे जो हर्ष हो रहा है, उसे सार्थक करना चाहिये ।

कोई भी अच्छा कार्य उमग के समय अधिक अच्छी तरह होता है । उमग आई और कार्य न किया तो विना उमग के वह कब हो सकता है ? हर्ष मे जो काम होता है, वह रोते-रोते करने से नही होता । वास्तव मे किसी भी सत्कार्य के विषय मे हर्ष की उमग को जाने देना बुद्धिमानी नही है । जिस समय लोहा तपाकर लाल सुर्ख कर दिया जाता है, उसी समय उस पर घन की चोट न लगाकर बाद मे लगाने से प्रयोजन सिद्ध नही होता । इसी प्रकार उमग के

समय काम न करके बाद मे करने से यथेष्ट लाभ नही हो सकता।

भगवान के सुनाये धर्म को सुनकर सुवाहु वोले—भगवान ने जिस निर्ग्रन्थ-प्रवचन का श्रवण कराया है, वह सार्थक है। इस निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मेरी बडी श्रद्धा और रुचि है।

वैद्य ने किसी रोगी को देखकर उसका रोग पहचान लिया और रोगी को बतला दिया कि तुम्हे अमुक रोग है। यह निदान रोगी को ठीक मालूम हुआ, अतएव वैद्य पर उसकी श्रद्धा हो गई। लेकिन अभी तक रोगी को यह नही मालूम है कि वैद्य ने जो औषध बताई है वह कैसा लाभ पहुँचाती है ? और इससे किसी को लाभ भी हुआ है या नही ? इसके पश्चात् कुछ ऐसे लोग मिल गये जो उसी औषध से स्वस्थ हुए थे। उन्होने उस दवा की प्रशसा की। तब रोगी को उस दवा पर भी श्रद्धा हो गई। लेकिन दवाई कडवी है और उसका सेवन करते समय पथ्य भी रखना पडता है। इस भय के कारण रोगी अगर औषध का सेवन नही करता तो उसे क्या लाभ हो सकता है ? हाँ, अगर रोगी इस बात पर विचार करेगा कि मैं जिस रोग से पीडित हूँ, उसकी अपेक्षा औषध अधिक कडवी नही है और ऐसा विचार कर वह औषध सेवन करेगा तब उसका रोग अवश्य मिट जायगा।

सुबाहुकुमार कहते है—प्रभो! आपने कर्मरूप महारोग की चिदानन्द द्वारा अनुभूत औषध—(सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) फर्माई, यह मुझे बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुई है। इससे अनादि का कर्म-मलीन आत्मा निर्मल बनता है, शुद्ध हो जाता है। आपकी बताई यह दवा समस्त भव-रोगो को उपशमन करने वाली है। प्रभो! आपके द्वारा प्रतिपादित मार्ग में भोग का तिरस्कार है। जिनकी भोग के प्रति तीव्र लालसा है, उन्हे यह मार्ग अच्छा नहीं लगता। इस मार्ग का नाम निर्ग्रन्थ-प्रवचन मार्ग है। यह भोग से दूर है। भोग की आशा रखने वाले को यह धर्म प्यारा नही लग सकता। ऐसे लोगो

इस धर्म मे कठिनाई मालूम होती है । किन्तु जिस प्रकार कडवी
; पर भी औषध आरोग्य-सुख देती है, इसी प्रकार भोगो से दूर
ो पर भी यह धर्म मुझे प्रिय है । इस धर्म की कठिनाई समझ
रत्नत्रय का आराधन न करूँगा तो क्या वे भोग मुझे नरक मे
ो ले जाएँगे ? भोग के कारण उत्पन्न होने वाले दु खो को देखते
: भोग-त्याग का सुख कुछ कम नही है। यह अक्षय, असीम और
न्त सुख देने वाला है ।

लोग धर्म-पालन मे कठिनाई-ही-कठिनाई देखते है और धर्म
न पालने मे सुविधा दिखाई देती है । वास्तव मे यह एक बडा
म है । यह ठीक है कि कोई एक ही छलाग मे आसमान पर नही
ुँच सकता, तथापि यह नही समझना चाहिए कि धर्म के आराधन
 किसी को कष्ट हो सकता है ।

सुबाहुकुमार कहने लगे—यद्यपि मैंने समझ लिया है कि यह
व ससार तजने योग्य है, फिर भी सहसा एक साथ तजना मेरे लिए
क्य नही है । इस प्रकार अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वह
ोले—भगवान ! आपके बताये महाव्रत पूर्ण लाभदायक है, परन्तु
उनका पालन करने मे मैं अभी असमर्थ हूँ । अतएव अभी मैं गृहस्थ
के बारह व्रत ही धारण करना चाहता हूँ । उनका मैं सुभीते से पालन
कर सकूँगा ।

महाव्रतो के पालन करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करने का
अर्थ यह नहीं है कि सुबाहुकुमार शरीर से अशक्य थे । इस अस-
मर्थता का अर्थ यह कि प्रत्येक कार्य के विषय मे अपना अन्तर्नाद
पहचानना ही चाहिये । अन्तर्नाद की अवज्ञा करके या उसे बिना
पहचाने बाहरी आदेश से प्रेरित होकर जो काम किया जाता है, उस
काम मे प्राय' 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती
है । ऊपरी आदेश मे आकर महाव्रत धारण कर लेने से न तो भली-
भाँति महाव्रतो का ही पालन होता है, न अणुव्रतो का ही ।

भोग-तृष्णा से रहित होकर जब मनुष्य अन्तर्नाद पर विचार करता है, तब उसके चित्त मे एक प्रेरणा जागृत होती है । अन्तर्नाद की उस प्रेरणा को ठीक तरह पहचान कर काम करने वाला मनुष्य कभी चक्कर मे नही पडता। अन्तर्नाद से कैसी प्रेरणा उठती है, यह बात महापुरुषो के जीवन-चरित्र से भली-भाँति मालूम हो सकती है। महापुरुष के हृदय मे अवश्य ही अन्त प्रेरणा होती है । फिर चाहे सारा ससार उसकी अवहेलना करे, मगर महापुरुष वही कार्य करेगा, जिसके लिए उसे अन्त प्रेरणा हुई है । बलवती अन्त प्रेरणा के सामने सारे ससार की शक्ति भी नगण्य हो जाती है ।

सुबाहुकुमार कहते हैं— अभी महाव्रत धारण करने की मुझ मे शक्ति नही है । इसका अर्थ यही है कि मेरी अन्त प्रेरणा अभी महाव्रत धारण करने को प्रेरित नही करती और अन्त प्रेरणा के बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण-रूप से सफल नही होता । अतएव इस समय मैं श्रावक के बारह व्रत ही धारण करना चाहता हूँ ।

सुबाहुकुमार की बात सुनकर भगवान ने कहा— अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह ।

अर्थात्—हे सुबाहु ! तुम्हे जैसे सुख उपजे, वही करो । अगर श्रावक व्रत धारण करना चाहते हो तो यह भी श्रेष्ठ है । परन्तु शुभ काम मे देर मत करो ।

सुबाहुकुमार ने भगवान के समीप श्रावक के बारह व्रत धारण किये और अपने घर लौट गया ।

भगवान महावीर ने सुबाहु से यह नही कहा कि तुम महाव्रत धारण करके साधु बन ही जाओ । उन्होंने सामान्य-रूप से उपदेश दिया, मगर सयम धारण करना या न करना श्रोताओ की इच्छा पर ही छोड दिया । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वक्ता का यह कर्तव्य है कि वह श्रोता की इच्छा के अनुसार ही उसे त्याग, व्रत आदि दे; किसी को बाध्य करके, जोर-जबर्दस्ती से, बहकाकर

या दवाकर नही। ऐसा करने वाला वक्ता धर्म की सेवा नही करता, वरन धर्म के उपहास का साधन बनता है। यह बात दूसरी है कि किसी के हित के लिए, किसी बात को वक्ता अधिक कहे, प्रेरणा-जनक शब्दो का प्रयोग करे, लेकिन श्रोता की स्वतन्त्रता को ठेस पहुँचाना उचित नही है। श्रोता अपने स्वतन्त्र भाव से जो नियम, व्रत आदि धारण करता है, उसके पालन मे उसका विशेष उत्साह होता है और उसके लिए वही विशेष कल्याणकर हो सकता है।

समवसरण सभा मे अनेकानेक साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ मौजूद थी। सुबाहुकुमार के वार्तालाप के समय भी उनमे से अनेक वहाँ उपस्थित होगे। सुबाहुकुमार का यह सौम्य स्वभाव देखकर कौन जाने, किस-किस के हृदय मे क्या-क्या भावनाएँ उत्पन्न हुई होगी! उन सब की भावनाओ का उल्लेख शास्त्र मे नही किया गया है। परन्तु भगवान के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति अनगार—जो गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है—को बैठे-बैठे जो विचार आया उसका वर्णन शास्त्र मे मिलता है। गौतम स्वामी ने विचार किया—सुबाहु ने ऐसा कौनसा पुण्य किया था कि जिसके प्रताप से वह श्रावक-व्रत धारण करने मे समर्थ हुआ? सब लोग अपने-अपने मन मे कहते है कि सुबाहुकुमार को सब सुख प्राप्त हैं, लेकिन यह पुण्य कहाँ से उदित हुआ कि उसमे धर्म रूपी प्राण का सचार हुआ? सुबाहुकुमार इतना इष्ट कैसे हुआ? उसमे एक साथ इतनी विशेषताएँ कैसे आई? इत्यादि विचार आने पर गौतमस्वामी ने भगवान के चरणो मे उपस्थित होकर उन्हे प्रकट करने का तथा उन पर भगवान का निर्णय जानने का निश्चय किया।



७ : इन्द्रभूति की जिज्ञासा

मूल—ते ण काले ण ते ण समए ण समणस्य भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इदभूई जाव एव वयासी—अहो म भते ! सुवाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, कते, कतरूवे, पिए, पियरुवे, मणुण्णे, मणुण्णरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सुभगे, पियदसणे, सुरूवे; वहुजणस्स वि य ण भते ! सुवाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, जाव—सुरूवे, साहुजणस्स वि य ण भते ! सुवाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे जाव सुरूवे, सुवाहुणा भते ! कुमारेण इमेयारूवा उराला माणुस्सरिद्धी किण्णा लद्धा, किण्णा पत्ता, किण्णा अभिसमण्णागया ? के वा एस आसी पुव्वे भवे ? किं नामए वा ? किं वा गोएण ? कयरसि वा गामसि वा, सन्निवेससि वा ? किं वा दच्चा, किंवा भोच्चा, किंवा किच्चा, किंवा समायरित्ता, कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अतिए एगमपि आयरिय सुवयण सोच्चा, निसम्म, सुवाहुणा कुमारेण इमा एयारूवा उराला माणुस्सरिद्धी लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया ?

अर्थात्—उस काल और उस समय भगवान महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति, यावत्—इस प्रकार कहने लगे—भते ! सुबाहुकुमार इष्ट है, इष्ट रूप वाला है, कान्त है, कान्त रूप वाला है, प्रिय है, प्रिय रूप वाला है, मनोज्ञ है, मनोज्ञ रूप वाला है, मणाम है, मणाम रूप वाला है, सौम्य है, सुभग है, प्रियदर्शन है, सुरूप है। भगवन् ! सुवाहुकुमार बहु जन-समाज को और साधुजनो को भी इष्ट, इष्ट रूप यावत्—सुरूप है। भगवन् ! सुवाहुकुमार को यह उदार मनुष्य-ऋद्धि कैसे लब्ध हुई है ? कैसे प्राप्त हुई है ? इसके सामने यह कैसे

आई है ? पूर्व भव मे यह कौन था ? इसका नाम और गोत्र क्या था ? कौन-सा दान देकर, क्या भोगकर, कौन-सा आचरण करके, किस तथारूप श्रमण या माहन (ब्राह्मण-श्रावक) से एक भी आर्य वचन सुनकर और हृदय मे धरकर सुबाहुकुमार ने इस प्रकार की यह उदार मनुष्य-ऋद्धि लब्ध की है, पाई है ? या यह स्वय इसके सामने आई है ।

गौतम स्वामी सुबाहुकुमार की फैलती हुई कीर्ति देखकर मन-ही-मन विचार करने लगे ।

आह ! सुबाहुकुमार मे कौन-से लोकोत्तरगुण है, जिनसे आकृष्ट हुई जनता सुबाहुकुमार की ओर आदर का भाव रखती है ? सुबाहुकुमार की किन-किन विशेषताओ ने जनता के मन को वन्दी बना लिया है ? किन-किन गुणो के कारण सुबाहुकुमार की इतनी कीर्ति फैल रही है ? सुबाहुकुमार का यह चतुर्दिक-व्यापी यश-सौरभ कौन-से सद्‌गुण रूप प्रसूनो से प्रसूत हुआ है ? किस कर्म-प्रकृति का वध करके सुबाहु दूसरो को शान्ति प्रदान करने वाले वने है ? किस पुण्याचरण से वे दूसरो का दुःख दूर करने मे समर्थ हुए हैं ?

इस प्रकार के अनेक प्रश्नो से गौतमस्वामी का चित्त व्यग्र सा हो गया । पर उनके मन ने उनका समाधान नही किया । उन्होंने भगवान महावीर स्वामी का सहारा लिया ।



८ : इन्द्रभूति के प्रश्न

श्री गौतम के प्रश्नो की सक्षेप मे व्याख्या कर देना आवश्यक है। श्री गौतमस्वामी पूछते हैं—सुबाहुकुमार इष्ट और इष्ट रूपवान क्यो है ?

इष्ट रूप किसे कहना चाहिये ? यह बात स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने अतिव्याप्ति दोष का निवारण करते हुए तीन प्रकार से बतला दी है। जिसे जिससे स्वार्थ होता है अथवा जिसकी जिसके प्रति आसक्ति होती है, उसे उसका रूप इष्ट प्रतीत होता है। मगर सुबाहुकुमार का रूप ऐसा इष्ट नही था। इसे स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि सुबाहुकुमार का रूप साधुओं को भी इष्ट है। साधु न तो स्वार्थपरायण होते हैं और न आसक्ति वाले ही। फिर भी उन्हे जो रूप इष्ट मालूम होता है वह कुछ साधारण नहीं, वरन् अलौकिक होना चाहिए। उस रूप की इष्टता कुछ और ही प्रकार की होनी चाहिए।

श्री गौतमस्वामी ने सुबाहुकुमार के जिस रूप को इष्ट बतलाया है, उसका आशय यह है। जो रूप अपने आप मे रूपवान् होकर भी दूसरे को कल्याणमार्ग मे इष्ट अनुभव हो और जिसे देखकर दर्शक की कल्याणमार्ग की ओर प्रवृत्ति बढे वह रूप इष्ट है। जिस रूप पर दृष्टिपात होते ही पाप काँप उठता है—पाप पलायन कर जाता है और अन्तरङ्ग मे दबी हुई विशुद्ध धर्मभावना खिल उठती है वह रूप इष्टकारी है।

एक ओर वल्कल वस्त्रधारी रामचन्द्र हो और दूसरी ओर उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रावण हो। सोचिये, आपको दोनो मे से कौन इष्टकारी प्रतीत होगा ? राम। रावण का रूप आप अनिष्टकर अनुभव करेंगे।

राम-रावण की कथा को आप पौराणिक समझकर कदाचित्

कल्पित मान लें तो दूसरा उदाहरण लीजिये। एक वह पण्डित मोतीलाल नेहरू हैं जो अपने अंग्रेजी वेषभूषा की चमक-दमक से अनेक अंग्रेजो को मात करते थे और दूसरे खद्दरधारी मोतीलाल हैं। दोनो की तुलना करके देखिये, आपको इष्टकारी कौन प्रतीत होता है ?

खद्दरधारी

इससे भी अधिक सादगी का उदाहरण देखना हो तो गाधीजी को देखो। दुवला-पतला शरीर, दातो का ठिकाना नही। लँगोटा मार रखा है। फिर भी क्यो उन्हें देखने के लिये हजारो आदमी टूट पडते हैं ? क्या उनकी अपेक्षा साहवी पोशाक पहनने वाला, तडक-भड़क पसद करने वाला नया ग्रेज्यूएट कम दर्शनीय है ? अगर यह सत्य है तो इसका कारण क्या है ? सादगी, सयतता और सात्विकता मे क्यो इतना अधिक आकर्षण है ? और उस आकर्षण मे लौकिकता का क्यो अभाव है ? इस पर विचार करने से आप सुवाहुकुमार के इष्ट रूप का आशय समझ जाएँगे। चमडे की चमक चर्म-चक्षुओ को चकित कर सकती है, मगर सयम का ओज अन्तरात्मा को आकर्पित करता है। ऊपरी ठस्सा आँखो को आनन्द दे सकता है मगर हृदय का सौन्दर्य हृदय को प्रफुल्लित कर देता है—वह आत्मा का प्रमोद वढाता है।

मित्रो ! आप यदि गणधर की वात की तुलना करके उस पर गहराई के साथ विचार करेंगे तो मालूम होगा कि असल मे पुण्यशाली कौन है ? गहनो-कपडो से सजने वाला अधर्मी पुण्यवान् है कि सादगी वाला धर्मात्मा ?

फकीरी खुदा को प्यारी है,
अमीरी कौन विचारी है ?

फकीरी खुदा को प्यारी लगती है। खुदा का अर्थ है—खुद से होने वाला। अर्थात् जो वनावटी नही है वल्कि स्वय से है। सस्कृत मे उसे स्वयभू कह सकते हैं। इस दृष्टि से हमारा आत्मा भी खुद ही है। हाँ, नाशवान चीजो पर जिसकी मालिकी है, जो

माया का बन्दा है वह खुदा नही हो सकता । मगर जिससे नश्वर पदार्थों से अपना ममत्व और स्वामित्व हटा लिया है, वह खुदा है और फकीरी उसका रूप है । अमीरी और गरीवी मे क्या अन्तर है ? और उनका परिणाम कैसे भोगना पडता है, इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयुक्त होगा ।

अरब के रेतीले मैदान मे एक फकीर घूम रहा था । प्रथम तो ग्रीष्म-ऋतु थी, तिस पर दोपहर का सूरज आकाश से आग वरसा रहा था । पृथ्वी तवे की तरह तपी हुई थी । फिर भी फकीर अपनी मस्ती मे ऐसे घूम रहा था, मानो किसी शीतल उद्यान मे भ्रमण कर रहा हो ।

किसी आवश्यक कार्य से, एक अमीर उधर निकला । अमीर ऊँट पर सवार था । खाने-पीने का समान उसके साथ था । अमीर के पीछे उसी ऊँट पर उसका एक नौकर बैठा था । उसके बाँये हाथ मे छाता था और दाहिने हाथ मे पखा । अमीर महाशय को घूप और गर्मी से बचाने के लिए नौकर पूरा उद्योग कर रहा था । उत्तम वस्त्र और आभूषण अमीर की शोभा बढा रहे थे ।

अमीर की नजर मस्त फकीर पर पडी । उसने कहा—यह भी कोई आदमी है ! कैसा वदशक्ल और मनहूस है ! इसे अपनी जिंदगी की भी चिन्ता नहीं । घूप मे विना कपडा-लत्ता, विना छाता प्रेत की तरह घूम रहा है !

अमीर की उत्सुकता वहुत वढ गई । उसने फकीर को रोका और पूछा—तू कौन है ? फकीर ने लापरवाही से उत्तर दिया—जो तू है सो मैं हूँ ?

अमीर की त्यौरियाँ चढ गई । यह नाचीज मेरी बरावरी करता है ? उसने क्रोध से कहा—मनुष्यता का कोई चिह्न तो तुझ मे नजर नही आता, अलवत्ता तू मनुष्यता को वदनाम करता है । तुझ जैसे वेवकूफ फकीरो ने ही दुनिया को दु:खी वना रखा है ।

...री जिन्दगी से तो तेरी मौत बेहतर है । मौत आ जाय तो मनुष्यो
...ा एक कलक कम हो जाय ।

अमीर लोग मनुष्यता को शायद वस्त्रो और आभूपणो से नापते हैं। अगर मनुष्यता को नापने का यही गज न हो तो वे मनुष्यता की प्रतिस्पर्द्धा मे बहुत पिछड जायें । इसी कारण उन्होंने यह गज मान लिया है । उनकी निगाह मे वह मनुष्य निरा जगली पशु है, जिसके पास पहनने को कपडा नही और सजने को आभूषण नही। मगर बात उलटी है । जिनके पास मनुष्यता का बहुमूल्य आभूषण है, उन्हे जड आभूषणो की क्या आवश्यकता है ? जिन्हे मनुष्यत्व का वास्तविक और सहज आभूपण प्राप्त नही है वही लोग ऊपरी आभूपण लादकर अपने आपको आभूपित घोषित करते हैं।

अमीर की बात के उत्तर मे फकीर ने कहा—हम क्यो मरें ? मरेंगे तो अमीर मरेंगे ।

अमीर ने फकीर को फटकार बताई और सामने से हट जाने को कहा । फकीर पहले की तरह मस्त भाव से चल दिया ।

थोडी ही देर हुई थी कि बडे जोर से आँधी आई । आँधी मे छाता उड गया और छाता उडने के कारण ऊँट भडक उठा । ऊँट भडकने से अमीर और उसका नौकर धडाम से धरती पर आ गिरे । दोनो की मृत्यु हो गई ।

आँधी जब थम गई तो वही फकीर घूमता उधर से आ निकला, जहाँ अमीर और उसका नौकर मरा पडा था । फकीर ने अमीर की लाश को पैर की ठोकर लगाते हुये कहा—साली अमीरी । तूने मेरे दोस्त को इतने जल्दी मार डाला । वह था तो मुझ-सा ही मनुष्य, पर तूने बात-की-बात मे उसके प्राण ले लिये ।

फकीरी इस तरह खुदा को प्यारी है । सब लोग फकीर नही हो सकते, मगर इतना तो सभी कर सकते हैं कि वे फकीर की निन्दा न करें ।

तात्पर्य यह है कि ऊपरी चमक-दमक को इष्ट-रूप नही समझना चाहिए। जिस रूप को देखकर पाप कांपता है और धर्म प्रसन्न होता है, वही सच्चा इष्ट-रूप है। जिसके पुण्य का उदय होता है उसी को इष्टकारी रूप प्राप्त होता है। मित्रो! आपका खाना-पीना, पहनना-ओढना आदि ऐसा हो कि उसके सामने पाप लजा जावे। आपके खान-पान से तथा व्यवहार से ससार का विगाड़ नही होना चाहिये। जिन कामो को लोग पाप मानते हैं, उन्हे करने से कोई वडाई नही होती। ससार के कल्याण मे जितना भाग लोगे उतनी ही तुम्हारी वडाई है। गाय को दुहकर फाग खेलने की तरह मेरी वात को यो ही मत उडा देना। उस पर मनन करो और इष्ट-रूप प्राप्त करो। इष्ट-रूप दया-धर्म के पालन से प्राप्त होता है। कहा भी है—

दया-धर्म पावे तो कोई पुण्यवन्त पावे।
जाने दया की बात सुहावे ॥ दया० ॥

दया के गुण वर्णन करने के लिये भाषा पर्याप्त नही है। शब्दो मे इतनी शक्ति नही है कि उनके द्वारा दया की महत्ता चित्रित की जा सके। दया का दूसरा नाम अनुकम्पा है। किसी भी प्राणी को दुःखी देखकर, हृदय उस दुःख को अपना ही अनुभव करने लगे—हृदय मे सहानुभूति की भावना उमड उठे, तो समझना कि मेरे हृदय मे दया विद्यमान है। जो मनुष्य दुःखी जन को देखकर उपेक्षा-पूर्वक कहता है—'अपने किये का फल भोग रहा है। इसके और इसके किये के वीच मे पडने की मुझे क्या जरूरत है?' उसके दिल मे दया का वास नही है। ऐसा विचार आना एक प्रकार की निर्दयता है—क्रूरता है, अधार्मिकता है। खेद है कि आजकल कुछ भाई धर्म के नाम पर इस निर्दयता का पोषण करते हैं। वे इस दया को मोह—अनुकम्पा कहकर त्याज्य ठहराते हैं। वास्तव मे पुण्यवान् पुरुष ही दया-धर्म का पालन कर सकता है। एक उदाहरण से

यह स्पष्ट होगा—

कहते हैं, काशी मे एक मेला था। विश्वनाथ के मन्दिर मे सोने का एक थाल आया। किसी देवता ने वह थाल मन्दिर मे रखकर आवाज दी—जो सब से अधिक भक्त हो उसे यह थाल उपहार मे दिया जाय। सब से बडे भक्त की पहचान यह है कि भक्त का हाथ लगने से थाल दैदीप्यमान हो उठेगा और जो सच्चा भक्त न होगा उसका हाथ लगने से वह लोहे या पीतल का दिखाई देगा।

थाल को देखकर विश्वनाथ के पडे कांप उठे। उन्होने सोचा यह थाल हमे हजम न हो सकेगा। इसे किसी को दान मे ही दे डालना चाहिये। यह सोचकर एक पडे ने ऊँचे स्थान पर खडे होकर थाल का हाल बताया।

एक तो सोने का थाल हाथ लगता है और दूसरे सब से बडे धर्मात्मा की पदवी मिलती है। भला किसका मन न चलता! सबके मुंह मे पानी भर आया। सभी थाल लेने दौड पडे।

मेले मे एक सेठ लाखो का दान करने वाला आया था। उसे अपने दान का बडा अभिमान था। वह समझता था—मुझसा दानी धर्मात्मा कोई है ही नही। वह पुजारी के पास आया और अपने दान-धर्म का बखान करके थाल पाने का अधिकारी बताने लगा। लेकिन पुजारी ने जैसे ही उसके हाथ मे थाल दिया कि थाल काला पड गया। थाल के काला होते ही सेठजी का चेहरा भी काला हो गया। वह मन-ही-मन लज्जित हुआ, पछताया और नीची निगाह किये चलता बना।

उसके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ व्यक्ति आया। किसी को अपने तप का अभिमान था, किसी को अपने चारित्र पर नाज था। कोई अपने दान के अभिमान मे डूबा था और कोई ठाकुरजी की भक्ति के अहकार मे चूर था। सभी ने थाल को हाथ में लिया, पर थाल ने सबकी पोल खोल दी। थाल काला पड गया। जब उन्होंने थाल को यथास्थान रखा तो थाल पहले की तरह चमकने लगा।

एक गरीब किसान कधे पर हल लादे खेत की तरफ जा रहा था। रास्ते मे उसने एक मूर्च्छित मनुष्य को पडा देखा। कृपक स्वभाव से दयालु था, उसे दया आ गई। वह उसके पास गया। उसे उठाया और बडे यत्न के साथ अपने झोपडे मे ले गया। वहाँ उसने अपनी गाय दुहकर ताजा दूध पिलाया, शीतल उपचार किया। तब उसकी मूर्छा हटी। मूर्छा हटने पर उसने कृपक से पूछा—भाई, तुम कौन हो?

कृपक ने कहा—मैं एक गरीब किसान हूँ। इसी झोपडे मे रहता हूँ। इसके सिवाय मेरा कोई परिचय नही है।

किसान की सरलता से अजनवी मुग्ध हो गया। बोला—मेले मे मेरे कई जान-पहचान वाले है, कई सम्बन्धी भी हैं। उनमे से किसी ने मुझे सँभाला नही। तुमने विना किसी जान-पहचान ही मुझे उठा लिया और जीवन दिया। मैं इस उपकार का वदला कैसे चुका सकूंगा?

कृपक ने कहा—मैंने अपना कर्तव्य पाला है। कर्तव्य-पालन मे वदला लेने की भावना नही होती। आप कृपा करके मुझे किसी प्रलोभन मे न डालिये। आपकी सेवा से मुझे जो सन्तोप और सुख हुआ है, वही मेरे कर्तव्य का उपयुक्त पुरस्कार है। सेवा को आजीविका बनाना मुझे नही रुचता और आप कहते हैं कि तुम्हारा हमारा कोई नाता नही, सो वास्तव मे ऐसी वात नहीं है। आपके साथ मेरा ठाकुरजी के द्वारा नाता है। आप मेरे भाई हैं। मैं अपने एक भाई को वेहोश पडा छोड जाता तो मेरी मनुप्यता मुझे छोड जाती।

अजनवी जव स्वस्थ हो गया तब किसान खेत पर जाने को उद्यत हुआ। परन्तु वह भी किसान के पीछे-पीछे चला। 'किसान वडा धर्मात्मा है', 'इस किसान के मुकाविले का कोई धर्मात्मा नही है', इस प्रकार चिल्लाता-चिल्लाता वह चलता चला। किसान ने कहा—

भाई मेरे, तुम क्यो वृथा चिल्लाते हो ! मैंने कोई बडा काम नही किया है । मै एक मामूली गरीब किसान हूं । इतने पर भी अजनबी न माना और चिल्लाता ही चला गया ।

लोगो ने चिल्लाहट सुनी तो दग रह गये । किसी ने पूछा—इसने धर्म का कौनसा काम किया है ? उसने उत्तर दिया—मनुष्य के प्राण बचाये हैं ।

आखिर दोनो उधर से निकले, जहाँ पुजारी थाल देने के लिये खडा था । उस मनुष्य ने कहा—पुजारीजी, थाल इन्हे दो, थाल के सच्चे अधिकारी यही हैं ।

पुजारी ऐंठ कर बोला—ऐसे ऐरे-गैरे के लिए यह थाल नही है । यह एक मामूली किसान है । खेत जोतकर पेट भरता है । यह सबसे बडा धर्मात्मा कैसे हो सकता है ?

वह बोला—तो जांच कर लेने मे हानि ही क्या है ? तुम्हारे पास धर्मात्मापन की पहचान तो है ही । भले ही यह किसान तिलक-छापा नही लगाता, मन्दिर मे आकर अपनी भक्ति की घोषणा नही करता, फिर भी है यह बडा धर्मात्मा । एक बार थाल हाथ मे देकर देख तो लो !

पुजारी ने किसान को थाल लेने के लिये बुलाया । किसान सकोच मे पड गया । वह थाल लेने से इन्कार करने लगा । जो इन्कार करता है उसे सभी देना चाहते हैं । सभी लोग आग्रह करने लगे । पुजारी ने उसके हाथ पर थाल रख दिया । किसान के हाथ मे आते ही थाल एकदम दैदीप्यमान हो उठा । मानो दया का तेज थाल मे से फूट पडा हो ।

लोग दग रह गये । एक स्वर से सभी उसकी सराहना करने लगे । लोगो को जिज्ञासा हुई—इसने क्या धर्माचरण किया है ? किसान के साथी ने किसान की मानव-दया का वर्णन करके सबका समाधान किया ।

वास्तव मे दया-धर्म का आचरण करने से पुण्य की प्राप्ति होती है और पुण्य के उदय से इष्ट-रूप प्राप्त होता है। कोई व्यक्ति चाहे कुरूप दीखता हो, चाहे सुन्दर, वेष चाहे राजकुमार का हो, चाहे दरिद्री का, मगर इष्टकारी रूप कुछ और ही चीज है।

बहुजन-समाज को जो प्रिय लगता है वह इष्ट कहलाता है। जिसका रूप देखकर जन-समाज कह उठे—'यह मेरा है', वही इष्ट-रूप है। इष्टकारी रूप नीतिज्ञता, सुशीलता और धार्मिकता पर निर्भर है। जो जितना नीतिज्ञ, शीलवान् और धर्मनिष्ठ होगा, उसका रूप उतना ही इष्टकारी होगा। इससे विपरीत जिसके देखने से पाप फैलता हो, वह देखने मे भले ही सुन्दर मालूम होता हो, परन्तु अनिष्टकारी रूप कहा जायगा।

इष्ट और इष्ट-रूप के आगे गौतमस्वामी ने 'कन्ते, कन्तरूवे' कहा है अर्थात् सुबाहुकुमार को कान्त और कान्तरूप वाला बतलाया है।

इष्ट और कान्त मे क्या अन्तर है, यह थोडे मे समझ लेना आवश्यक है। कोई वस्तु इष्टकारी तो है मगर वह किसी के लिये इच्छा करने योग्य नहीं होती। अथवा देश, काल के अनुसार वह कमनीय है, मगर कभी-कभी कमनीय नही होती। उदाहरण के लिये घी-दूध को लीजिये। घी और दूध इष्टकारी माना जाता है परन्तु जीम लेने के पश्चात् क्या कोई उनकी इच्छा करता है? नही। उस समय घी-दूध कमनीय नही रहता, क्योकि उसमे रुचि नही रह जाती।

यह दोष सुबाहु मे नहीं है। वह कभी अरुचिजनक रूप वाला नही होता। उसका रूप सदैव आह्लाद-जनक होता है। अत सुबाहु कुमार इष्ट, इष्ट-रूप वाला और कान्त तथा कान्तरूप वाला है। तात्पर्य यह है कि सुबाहु इष्टकारी होने के साथ-साथ सदा कमनीय है।

इस प्रकार का रूप मिलना बडे पुण्य का कार्य है। शास्त्र मे पुण्य दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) पुण्यानुबंधी पुण्य और (२) पापानुबंधी पुण्य। पुण्यानुबंधी पुण्य के प्राप्त होने पर प्राणी अपना भी

कल्याण करता है और दूसरो का भी। मगर पापानुबंधी पुण्य वह है, जिसके द्वारा धन-वैभव तो मिलता है, पर बहुतो का अकल्याण करके अन्त मे नरकगति भोगनी पडती है।

कान्त और कान्तरूप कहने के पश्चात् श्री गौतम ने सुबाहुकुमार को प्रिय और प्रियरूप कहा है। इसका तात्पर्य यह हैं कि कोई वस्तु इष्टकारी और कमनीय होने पर भी प्रीति से योग्य नही होती। उदाहरणार्थ—आपके भोजन मे एक कटोरा भरा आम-रस आया और एक कटोरा कढी आई। भूख होने के कारण दोनो ही वाछनीय हैं और दोनो से भूख शान्त करने मे सुविधा होती है पर आपकी प्रीति किस तरफ दौडेगी ? आम-रस की तरफ। इसी प्रकार ससार मे इष्ट-कारी और कमनीय तो बहुत होगे, परन्तु कढी और आम-रस मे जो अन्तर है वही उन मनुष्यो मे और सुबाहुकुमार मे अन्तर है। आशय यह है कि सुबाहुकुमार ससार को अत्यन्त प्रिय लगता है।

इसके पश्चात् गौतमस्वामी ने 'मणुन्ने' और 'मणुन्नरूवे' कहा है। अर्थात् सुबाहुकुमार मनोज्ञ और मनोज्ञ रूप वाला है सो किस पुण्य का फल है ?

कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनसे प्रीति तो होती है, परन्तु वे मनोज्ञ नही होती, अर्थात् उनसे मन को और इन्द्रियो को शान्ति नही मिलती। कोई भोज्य वस्तु ऐसी हो सकती है जो इष्ट, कमनीय और प्रीतिकारी तो है लेकिन खाने के पश्चात् विकार उत्पन्न करती है। यथा—अम्ब रोग से ग्रस्त राजा को आम बहुत प्रिय था, परन्तु वह हानिकर सिद्ध हुआ। अतएव आम उस रोगी राजा के लिए मनोज्ञ न कहलाया। दुर्बल मनुष्य को मूंग की दाल का हलुवा प्रिय तो होता है पर उसे वह हजम नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे हलुवा उसके लिये मनोज्ञ नही। तात्पर्य यह है कि अन्यान्य वस्तुएँ किसी के लि[ए] मनोज्ञ होती हैं, किसी के लिए नही—एक ही वस्तु सबके लिए मनो[ज्ञ] नही होती, मगर सुबाहुकुमार इस त्रुटि से रहित है। वह सबके लि[ए]

मनोज्ञ है ।

तदनन्तर गौतमस्वामी ने सुवाहुकुमार को 'मणामे' और 'मणामरूवे' वतलाया है। अर्थात् सुवाहु लाभदायक और लाभदायक रूप वाला है ।

कोई वस्तु मनोज्ञ भी हो सकती हैं और पथ्य भी, मगर शक्तिदायक नही भी हो सकती। भगवती सूत्र मे आहार के गुण वतलाते हुए पथ्यापथ्य का निर्णय किया गया है। वहाँ कहा कि जिस आहार से हड्डियो को शक्ति मिले, वह मोटी हो और खून, चर्वी आदि मे पतलापन आवे, वह सवके लिए इष्टकारी है। इसमे विपरीत जो भोजन हड्डी मे पतलापन पैदा करके रक्त आदि को गाढा वनाता है वह भोजन अनिष्टकारी है ।

सुवाहुकुमार मणाम और मणामरूप वाला है, इसका तात्पर्य यह है कि वह ताकत देने वाला और उसका रूप भी ताकत देने वाला है। अन्य वस्तुएँ किसी को शक्ति देती है, किसी को नही, पर सुवाहुकुमार सभी को शक्तिदाता है ।

गौतमस्वामी ने सुवाहु को सोमे, सोमरूवे, सुभगे, सुभगरूवे भी कहा है। अर्थात् सुवाहुकुमार का चन्द्रमा सरीखा यह रूप, जिसे देखकर सव लोग सुवाहु को आत्मीय मानते हैं—किस पुण्य का फल है ?

आजकल के लोग वढिया खाना और वढिया पहनना ही पुण्य का फल मानते हैं। उन्हें इस वात का पता नही कि उनके इस खाने और पहनने से कितने गरीवों के कलेजे तडपते हैं ? लोग चाहते हैं—उनके भोजन, वस्त्रो की उत्तमता से लोग खुश हो जायें, लेकिन उन्हे वास्तविक खुशी किस प्रकार हो सकती है, यह उन्हे पता नही है ।

भगवान गौतम कहते हैं—सुवाहुकुमार सौम्य और सुभग है ।

चन्द्रमा देखने मे प्रिय लगता है और शीतलता का सचार करता है, पर वह 'सुभागी' नहीं वनाता। चन्द्रमा शीतलता तो देता है मगर

भूख का कष्ट नही भगाता। मगर सुबाहुकुमार सब दु खो को दूर कर देता है।

उत्तमोत्तम स्वादिष्ट भोजन करना, बहुमूल्य आभूषणो को धारण करना और यथेच्छ अमोद-प्रमोद करना 'सुभागी' होने का लक्षण नही है। कबीरजी कहते हैं—

कबीर सौ कोस्या फिरयो, मनखा बड़ा सुकाल।
जिनके देखे दुःख टले, उनका बड़ा दुकाल॥

अर्थात्—ससार मे मनुष्यो की कमी नही है, परन्तु जिनके देखने से दु:ख दूर हो, ऐसे मनुष्यो की बहुत कमी है।

भगवान गौतम के कथन से स्पष्ट है कि सुबाहुकुमार मे उल्लिखित सभी विशेपताएँ विद्यमान हैं। वे सुबाहुकुमार को बहु जन-समाज का प्रिय कहते है। अर्थात् सुबाहु किसी-किसी को ही प्यारा नही लगता, वरन् मनुष्य मात्र को प्यारा है।

बहु जन-समाज कदाचित् भय, स्वार्थ या खुशामद से भी प्यारा कह सकता है, पर साधुओ को किसका भय है? उन्हे किसी की खुशा-मद से क्या प्रयोजन है? लेकिन गौतमस्वामी कहते हैं—सुबाहु साधु-जनो को भी इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मणाम सौम्य, सुभग, सुरूप और प्रियकारी लगता है।

जो निस्पृह महात्मा आरम्भ-समारम्भ से दूर हैं, जिनके मन मे तृण और मणि तुल्य हैं, जो कञ्चन-कामिनी के त्यागी हैं, जिन्होंने ससार के समस्त प्रलोभनो पर विजय प्राप्त की है, उन्हे भी सुबाहुकुमार इष्ट, कान्त आदि प्रतीत होता है। अतएव सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सतो को प्यारा लगने वाले व्यक्ति मे क्या विशेषताएँ होनी चाहिए? नि सदेह वह विशेषताएँ भौतिक नही, आधिभौतिक भी नही, वरन् आत्मिक ही हो सकती हैं।

सत-जन खुशामद के कारण किसी को प्रिय नही समझते। जैसे पवन, किसी की खुशामद की अपेक्षा न रखकर सर्वत्र समान रूप

से सौरभ फैलाता है और प्राणियो को जीवन देता है, इसी प्रकार सत पुरुष परोपकार को ही स्वोपकार समझकर, सबको समान भाव से धर्म का उपदेश देते हैं और जनता मे नवीन जीवन फूंकते हैं। जो मनुष्य अपने मे गुण प्रकट नही करता या गुण होने पर भी उन्हें सत-समागम रूपी पवन नही लगने देता, वह साधुओ को प्यारा कैसे लग सकता है?

राम और महावीर अपने आप प्रसिद्ध नही हुए थे, सतो ने उन्हे प्रसिद्ध किया था। सत इनकी खुशामद नही करते थे, बल्कि उनके गुणो की पूजा करते थे। सत गुणो के भूखे हैं। सत्य पर चलने से सतजन निश्चय ही तुम्हारे गुणो को प्रकट करेंगे और तुम सुबाहु की तरह इस लोक मे तथा परलोक मे सबको प्रिय लगोगे।

मूलपाठ मे एकार्थक प्रतीत होने वाले 'लद्धा' और 'पत्ता' दो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। यहाँ दोनो शब्दो के अर्थ मे थोडा अन्तर है। एक दृष्टान्त से उनका अन्तर समझना ठीक होगा—

किसी मनुष्य को राजा की ओर से इनाम देने की आज्ञा हुई। आज्ञा खजांची के पास पहुँच गई, पर अब तक इनाम नही मिला। इस अवस्था मे इनाम 'लद्ध' (लब्ध) तो हो गया है मगर 'पत्त' (प्राप्त) नही हुआ है। इनाम की रकम हाथ मे आ जाने पर पत्त—प्राप्त कहलायेगी। रकम जब तक हाथ मे न आ जावे तब तक सभव है और कोई बाधा आ पडे और राजाज्ञा होने पर भी इनाम न मिल पावे। अतएव लब्ध और प्राप्त होने पर ही सिद्धि होती है। यथा—मनुष्य-शरीर की प्राप्ति के योग्य कर्म बध जाना 'लद्ध' है और उस शरीर का मिल जाना 'पत्त' है। अतएव यहाँ दोनो पदो का अर्थ यह हुआ कि सुबाहुकुमार को सुन्दर मनुष्य-शरीर आदि ऋद्धि का लाभ भी हुआ है और अपने सुकृत को सुरक्षित रखने की सामग्री भी प्राप्त हो गई है।

लद्धा और पत्ता के पश्चात् गौतम स्वामी ने 'अभिसमण्णागया' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य को इनाम का हुक्म हुआ और इनाम भी मिल गया। परन्तु वह बीमार हो गया या और कोई

ऐसा कारण उपस्थित हो गया जिससे इनाम उसके काम न आया । इस स्थिति मे कहा जायगा कि इनाम 'अभिसमण्णागय' नही हुआ । सुवाहु-कुमार को मानव-शरीर की सामग्री प्राप्त हुई है, सुकृत से सुरक्षित रखने की सामग्री भी मिली है और वह अपने सुकृत को वढा भी रहा है ।

ज्ञानी जन यह नही देखते कि आत्मा की किसी विशेप समय मे उत्पत्ति हुई है । उन्हे भलीभाँति विदित है कि जैसे कोई पुरुप नये वस्त्र धारण कर लेने से नया नही हो सकता उसी प्रकार आत्मा नवीन शरीर धारण करने मात्र से नया नही होता । आत्मा की सत्ता त्रैकालिक है—आदि-अन्त से हीन, काल की सीमाओ से परे । न उसकी कभी उत्पत्ति है, न कभी विनाश है । इस अक्षय सत्य को ध्यान मे रखकर श्री गौतमस्वामी ने भगवान महावीर से सुवाहुकुमार का पूर्वभव और तत्कालीन नाम जानने की अभिलापा प्रकट की है ।

ससार का कोई भी पदार्थ विना नाम व्यवहार मे नही आता । आज कोई मनुष्य किसी पर दावा करने जाए तो उसे उसका नाम बताना होगा । नाम के विना न्यायालय मे कोई वात नही सुनेगा । मगर एक नाम वाले अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं । उनमे भिन्नता समझने के लिए गोत्र का व्यवहार किया जाता है । इसी उद्देश्य से गौतम ने नाम के साथ पूर्वभव का गोत्र भी पूछा है ।

६ : किया वच्चा !

उपकारी पुरुष के उपकार को स्वीकार करके उपकार का बदला चुकाना कृतज्ञ पुरुप का कर्तव्य है । जो पुरुष कृतघ्न होते हैं, गुणों के चोर होते हैं, वे भले ही इससे विपरीत आचरण करें, मगर कृतज्ञ सज्जन ऐसा नही करते । उपकारी का उपकार मानना, उसका आदर करना, उसकी पूजा करना कृतज्ञता का खास लक्षण है । माता पूजनीय क्यों मानी जाती है ? इसीलिये कि माता का सन्तान पर अप्रतिम उपकार है । माता ने गीली जगह सोकर सन्तान को सूखे मे सुलाया है । माता नें अपनी सन्तान के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है । जननी ने अपनी प्यारी सन्तान के लिए क्या-क्या मुसीवतें नही झेली ?

दान देने से पुण्य का वंध होता है । आज आप जो सेठ-साहूकार बने हैं सो यह किस का प्रताप है ? यह सव पूर्वाचरित पुण्य का ही परिणाम है । अगर आप इस सत्य को सदा ध्यान मे रखें तो आपका जीवन वहुत उच्च वन सकता है ।

भगवान महावीर से गौतमस्वामी का दूसरा प्रश्न यह है कि पूर्वभव मे सुवाहुकुमार ने कौनसा दान दिया था, जिसके फल-स्वरूप उसे यह मनुष्यजन्म सम्वन्धी सम्पत्ति मिली है ?

शास्त्रकारों ने दान के दस भेद वताये हैं— १. अनुकम्पादान, २. सग्रहदान, ३ भयदान, ४. कारुण्यदान, ५ लज्जादान, ६. गर्वदान, ७. अधर्मदान ८ धर्मदान, ९ काहिदान १०. कतन्तीदान ।

किसी दीन-दुखी पर दया करके उसकी सहायतार्थ जो दान दिया जाता है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं । जैसे भूख से चिल्लाते

ो भोजन देना । अपने आपका कष्ट मिटाने के लिये जो दान दिया
ाता है, उसे सग्रहदान कहते हैं, । जैसे घूस देना । भय के कारण
जो दान दिया जाता है, उसे भयदान कहते हैं, । जैसे—ये हमारे
स्वामी के गुरु हैं, इन्हें आहार न देने से स्वामी नाराज होगा, इस
भय से साधु को आहार देना । किसी प्रियजन के वियोग मे दिया
गया दान कारुण्यदान कहलाता है । जैसे शैयादान देना । लज्जा के
वश होकर दिया गया दान लज्जादान कहलाता है । जैसे—ये साधु
हमारे घर आये हैं, यदि इन्हे आहार न देंगे तो अपकीर्ति होगी—
इस विचार से साधु को रोटी देना । वात पर चढकर यानी गर्वविश
मे जो दान दिया जाता है, वह गर्वदान कहलाता है । जैसे जोश मे
आकर भाड आदि को देना । अधर्म का पोपण करने के लिए जो
दान दिया जाता है, उसे अधर्मदान कहते हैं । जैसे विपय-भोग के
लिये वेश्या को देना या चोरी करवाने, भूठ बुलवाने आदि के लिये
देना । धर्म का पोषण करने के लिये दिया गया दान धर्मदान कहलाता
है । जैसे—इन साधुओ ने धर्मवृत्ति के लिये ही ससार छोडा है,
इनको देने से धर्म की वृद्धि होगी—इस विचार से देना । भविष्य
मे किसी उपकार की आशा से दिये गये दान को काहिदान कहते
हैं । जैसे—मैं इन्हें दूंगा, तो ये मुझे पढाएँगे, इस विचार से देना ।
किसी उपकार के बदले मे दिया गया दान कतन्तीदान कहलाता है ।
जैसे—इनने मुझे पढ़ाने का उपकार किया है, इनने मेरा पालन-पोषण
किया है या इनने मेरा अमुक काम किया है—इस विचार से देना ।

इन दस प्रकार से दानो का फल दान के नामो से ही प्रकट
है । जैसे—अधर्मदान से अधर्म का फल होगा और अनुकम्पादान से
अनुकम्पा का फल होगा । इसी प्रकार लज्जादान से लज्जा का रहना,
भयदान से भय का मिटना और सग्रहदान से कष्ट का मिटना आदि ।

कुछ लोगों का कथन है कि धर्मदान के सिवा और सब दान
अधर्मदान के ही समान हैं और धर्मदान के सिवा दूसरे दानो का देना

मास-भक्षण तथा वेश्या-गमन के समान पाप है, फिर चाहे अनुकम्पा करके किसी अन्धे या कोढी को दिया गया हो या अपने पर उपकार समझकर माता-पिता को। लेकिन धर्मदान के सिवा शेष सभी दानो को अधर्मदान मे मानना, जैन-सिद्रान्त के सर्वथा विरुद्ध है। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकारो को दान के दो ही भेद करने की आवश्यकता होती अर्थात् दस भेद न करके धर्मदान और अधर्मदान ये दो भेद ही किये जाते। लेकिन ऐसा नही किया गया। इससे इन दस प्रकार के दानो मे से नौ प्रकार के दान को एक ही श्रेणी मे मानना उचित नही। इसके सिवा विचार-शक्ति से काम लेने पर भी धर्मदान के सिवाय शेष दान अधर्मदान मे नही ठहरते। उदाहरण के लिए—अपने घर आये हुए मुनि को रोटी न देंगे तो अपकीर्ति होगी—इस लज्जा से या ये मेरे स्वामी के गुरु हैं, इन्हे रोटी न देने से मालिक नाराज हो जावेगा, इस भय से मुनि को दिया गया दान अधर्मदान, जो मांस-भक्षण और वेश्या-गमन के समान पाप माना जाता है—कैसे हो सकता है ? मतलब यह कि एकान्त धर्म तो धर्मदान मे है और एकान्त पाप अधर्मदान में है। शेष आठ दानो मे न एकान्त धर्म या पुण्य ही कहा जा सकता है, न एकान्त पाप ही कहा जा सकता है।



१०: किंवा भुच्चा ?

भगवान महावीर से गौतमस्वामी ने तीसरा प्रश्न यह किया है कि सुबाहुकुमार ने पूर्वभव मे क्या खाया था ?

ससार मे दो प्रकार के जीव हैं। एक तो वे जो खाने के लिये जीते है और दूसरे वे जो जीने के लिये खाते है। जो लोग खाने के लिये जीते हैं उनकी भावना यह रहती है कि मैं खाने के लिये ही जन्मा हूँ अत. खूब खा लूं। ऐसी भावना वाले लोग भक्ष्याभक्ष्य तथा समय-असमय नही देखते। वे तो केवल खाने ही मे ध्यान रखते हैं। वे यह विचारना भी अनावश्यक समझते हैं कि हमारी इस भोजन-शूरता से किसी जीव को कष्ट तो नहीं होता ? भक्ष्याभक्ष्यविवेकरहित लोगो के लिये ही पशु-पक्षी मारे जाते हैं, दीन-दु.खी सताये जाते हैं और अनेक प्रकार के पाप होते है। वास्तविक बात तो यह है कि संसार मे पाप की वृद्धि भूखे मरने वाले लोगो की अपेक्षा इन खाने के लिये जीने वाले लोगो ने अधिक की है। यदि भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखा जावे तो इतना अधिक पाप न फैले। लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान वे ही लोग रख सकते है जो खाने के लिये न जीते हो किन्तु जीने के लिये खाते हो।

जो लोग जीने के लिये खाते हैं, उन लोगों का ध्येय यह नहीं रहता कि हम खाकर शरीर तथा उसकी शक्ति बढावें और फिर पाप करें। किन्तु वे इसलिये खाते हैं कि हमारा शरीर बना रहे, जिससे हम धर्म की सेवा कर सके। क्योंकि धर्म-सेवा के लिये शरीर का होना आवश्यक है और शरीर-रक्षा के लिये भोजन करना आवश्यक है। जीने के लिये खाने वाले भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखते

हैं। वे इस बात के लिए सदा चिंतित रहते हैं कि हमारे खाने के कारण किसी जीव को अनावश्यक कष्ट न हो और वह दिन कौनसा होगा जब हमारे कारण से किसी जीव को कष्ट न होगा। यद्यपि खाने को तो दोनो ही तरह के लोग खाते है, परन्तु खाने के लिए जीने वाला तो पाप प्रकृति बाँधता है और जीने के लिए खाने वाला खाकर भी पुण्य-प्रकृति बाँध सकता है। मतलब यह कि खाने मे भी भेद है। एक खाना पाप के लिये होता है और एक धर्म के लिये। इसी को दृष्टि मे रखकर गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछ रहे हैं कि सुबाहुकुमार ने ऐसा क्या खाया था, जिससे इसने पुण्य-प्रकृति बाँध ली और इसे यह सम्पत्ति मिली ?

मित्रो! आप इस प्रश्न पर गहराई से विचार कीजिये। गौतमस्वामी के इस प्रश्न से स्पष्ट ध्वनित होता है कि खाना-खाना सब एक ही नही होता और भोजन भी भावी जीवन के निर्माण मे निमित्तभूत होता है। मनुष्य का भोजन क्या होना चाहिये, इस सम्बन्ध मे भलीभाँति विचार करने की आवश्यकता है। मगर इस प्रकार का विचार सन्तो साधुओ की सगति करने से आता है। दुनियादारी के आरम्भमय काम-काज पापबध के कारण बनते हैं और साधु के सत्सग से उन पापों का अन्त आ जाता है। प्रभव चोर चिलायती सन्त के सग मे आकर पवित्रात्मा बन गया था। इसी प्रकार बाल्मीकि अपने जीवन मे महाकवि ऋषि बन गया, जिसकी बनाई हुई रामायण को लोग बड़ी भक्ति के साथ पढ़ते हैं और अपने जीवन को आदर्श बनाते हैं।

सच्चा सत वह है जो दूसरों का दु ख देखकर पसीज उठता है, जो प्रत्येक आत्मा को आत्मतुल्य मानता है और जिसकी बुद्धि परोपकार मे लगी रहती है।

गौतमस्वामी ने प्रश्न किया है—'किंवा भुच्चा ? क्या खाना चाहिये ?' यह प्रश्न भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न है। अर्थात् मनुष्य को क्या खाना और क्या नही खाना चाहिए ? वास्तव मे जिस मनुष्य ने भक्ष्या-

भक्ष्य का विचार नहीं किया वह मनुष्य नही, राक्षस है। स्मरण रखना चाहिये कि जिस मनुष्य को भक्ष्याभक्ष्य का भान नही है उसे गम्यागम्य का भी अवगम नही रहता और जिसे गम्यागम्य का अवगम नही रहता वह अपनी स्त्री के समान समस्त स्त्रियो को गम्य समझ लेता है। उसका मन इतना मलीन हो जाता है कि बडे से बडा कुकर्म करने से भी नहीं हिचकता। जिसे गम्य और अगम्य का विचार करना है, उसे भक्ष्य और अभक्ष्य का भी विचार करना चाहिए। यह कितने परिताप की बात है कि जिस आर्यावर्त के निवासी सब से पहले यह विचार करते थे कि—मेरे खाने योग्य क्या चीज है ? वही लोग आज इस विचार को भूलते जा रहे हैं।

दौलत के लोभ से जिस अनार्य (साहब) के सामने आर्य कहलाने वाले आज थर-थर काँपते हैं, उसके चरित्र के साथ जरा अपने चरित्र का मिलान तो कीजिये। उन्नति के शिखर पर पहुँचे कहलाने वाले इग्लैण्ड और अमेरिका आदि देशो मे कितनी और कैसी कुचालें चली जाती हैं, इस बात का विचार मात्र ही हृदय मे कँपकँपी पैदा कर देता है। वहाँ कुमारी कहलाने वाली कन्या २–१ गर्भ धारण कर प्रसूतिगृह मे बच्चा पैदा कर आती है, फिर भी वह कुमारी कहलाती है। क्या ऐसी घृणित सभ्यता आर्यों की है ? आर्यों ने अपनी समाज-व्यवस्था मे इस प्रकार की गन्दगी को स्थान दिया है ? पर भाइयो, खेद है कि आप ऐसे चरित्रहीनो को पैसे के लोभ के मारे देवता मान बैठे हो। ऐसी स्थिति मे अपने देश मे जन्मे हुए सच्चे चरित्रवान् पुरुष की कौन कद्र करे ?

आपको यह नही भूल जाना चाहिए कि आपने आर्य-देश मे जन्म धारण किया है। आपकी जाति के, आपके कुल के और आपके समाज के नियम बडे अच्छे उद्देश्य से और अच्छे ढग से निर्माण किये गये हैं। इन नियमो को इग्लैण्ड और अमेरिका के विद्वान् पुरुष समझाने पर भी सरलता से उतनी जल्दी नहीं समझ सकते, जितनी जल्दी और सरलता

से हमारे यहाँ का धर्मभीरु मूर्ख कहलाने वाला मनुष्य समझ सकता है। यह पुण्यभूमि का ही प्रताप है। जिसका पुण्य प्रकृष्ट होता है वही इस पुण्यभूमि मे जन्म लेता है। अफसोस है कि धनाढ्य लोग यहाँ अपने भाइयो की—जो उच्च चरित्रवान् हैं, आर्य हैं, कद्र नही करते। अलबत्ता मजदूरी कराते समय उन्हे सबसे पहले याद करते हैं। एक ही जन्मभूमि मे जन्मे हुए भाई का मान क्या इसी प्रकार करना चाहिए ?

देश के दुर्भाग्य से इस देश के किसी जमाने के सुधारक, ब्राह्मण भाई भी पैसे के लोभ मे फँसकर इस ओर कुछ भी ध्यान नही देते। न उन्हे देश की मान-मर्यादा का विचार रहा है और न अपने परमोच्च सामाजिक आदर्शों के सरक्षण की ही चिन्ता है। वे अपने जाति-भाइयो की दुर्दशा का विचार ही नही करते। आज उनकी स्थिति भी वही है जो अन्य लोगो की है।

वैदिक शास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मानव-समाज विराट का रूप है। अस्पृश्य समझे जाने वाले भाई उस विराट के पैर माने गये हैं। अतएव अस्पृश्यो की सेवा करना उस विराट पुरुष की सेवा करना है। अस्पृश्यो-अछूतो का उद्धार करना आर्य जाति का उद्धार करना है। ऐसा करने से ही आर्य-जाति अक्षुण्ण बनी रह सकती है।

शान्त चित्त से विचार तो कीजिए कि हमारे देश की वर्ण-व्यवस्था कितने ऊँचे दर्जे की सभ्यता की द्योतक है ? हमारे देश का रहन-सहन किस उच्च आशय पर अवलम्बित है ? पर आज हम घोर अज्ञान मे पडकर आर्यों की रीति-नीति को, उनके रहन-सहन को, उनके खान-पान को और उनकी उत्तम प्रणाली को धिक्कारते हैं, उससे घृणा करते हैं और अनार्यों की प्रणाली, उनका वेष-भूषा एव खान-पान अपनाने मे अपना गौरव मानते हैं। मगर तुम जिस देश मे रहते हो उस देश की उत्तम-से-उत्तम सभ्यता को धिक्कारने मे तुम्हे लाज नही आती। तुम आर्य-पोशाक को, आर्य-भाषा को, आर्य-खानपान को मूर्खों की चलाई हुई रीति मानते हो और अनार्यों की पोशाक, अनार्यों की भाषा, अनार्यों

का खान-पान तुम्हे अच्छा लगता है ! तुम उसकी सराहना करते नही अघाते। ऐसी दशा मे क्या तुम्हे आर्य-माता का सपूत कहा सकता है ? जो पुत्र अपनी माता की वास्तविक महिमा को कलकित करता है, उसके सद्‌गुणो को दुर्गुण समझता है, जिसे अपनी माता की महत्ता का अभिमान नही है, वह अपनी माता का सपूत कैसे कहला सकता है ? पुत्र का अर्थ है—दु.खो को निवारण करने वाला। क्या तुम अपनी माता के दु खो को दूर करने की ओर ध्यान देते हो ? क्या माता की विपदाओ को हरने के लिये कभी आपने कोई छोटी-सी विपदा भी सहन करने का विचार किया है ? जो माता का वश नही दिपाता वह पुत्र कैसा ?

तुम्हारे देश मे १० हजार मील दूर इग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशो से लोग आते है। उनमे से कोई वायसराय बनता है, कोइ गवर्नर बनता है, कोई कलक्टर बनकर आता है। क्या उनमे से किसी एक ने भी तुम्हारे देश की पगडी पहनी है ? भारतीय भोजन खाया है ?

नही।

क्यो ? इसलिये कि वे दस हजार मील दूर से आये तो क्या हुआ, पर वे इतनी दूर अपनी प्यारी मातृ-भूमि को भूलने नही आये हैं। वे यह सोचकर आये है कि हम अपनी मातृभूमि की छाप तुम्हारे हृदय पर अकित करें, जिससे यहाँ के लोग मातृभूमि इगलैण्ड आदि को आदर के साथ स्मरण करें।

आप अग्रेजो के साथ अपनी वर्तमान दशा की तुलना कीजिये। एक वे अग्रेज हैं जो कभी अपने वेष-भूषा और खान-पान आदि का भारत मे आकर के भी त्याग नही करते और दूसरे आप हैं जो भारत मे बैठे-बैठे अपनी मातृभूमि को धिक्कारते हैं ! आज अग्रेजी भाषा पढे हुए चरित्रहीन व्यक्ति को आदर मिलता है और अग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ चरित्रवान् का जगह-जगह अपमान होता है। यह सब क्या मामला है ? यह हमारे ही पापो का फल है। आज हम भारतीयो मे अपने देश के प्रति आदर का भाव नही है, पर अनार्य देश के प्रति हृदय

मे कूट-कूट कर भक्ति भरी है। यह उस देश के निवासियो के उद्योग का फल है।

दुनिया की निगाहो मे अमेरिका, इग्लैण्ड आदि युरोपियन देश सुधरे हुए कहलाते हैं, पर यह मानने का कोई कारण नही है कि उन देशो मे सव अच्छा-ही-अच्छा है, वहाँ कोई वुराई नही है। वहाँ जो अच्छा है उसको अच्छा मानते हुए भी वहाँ की वुराइयो की ओर से नेत्र वन्द नही किये जा सकते। उन देशो के निवासियो मे अनेक ऐसे गुण हैं जो यहाँ वालो को सीखने योग्य है। कई वातें ऐसी भी हो सकती हैं जो वहाँ के लिये गुण हो पर यहाँ के लिए अवगुण हो। इस प्रकार उन देशो की वुराइयो को त्यागकर अच्छाइयो को ग्रहण कर लेने मे कोई वुराई नही है। पर अन्धानुकरण की प्रवृत्ति की सराहना नही की जा सकती, जो प्रचुर परिमाण मे हमारे यहाँ फैल रही है और जिसकी वदौलत भारतीय अपने सद्‌गुणो के मूल्य पर अनेक दुर्गुण खरीदते हैं, अपनी भलाई को छोडकर उनकी वुराई को भलाई समझकर अपना रहे हैं और अपनी सभ्यता एव सस्कृति का उच्छेद करने मे लगे हुए हैं।

मैं पहले वता चुका हूँ कि जिसे भक्ष्याभक्ष्य का भान नही, उसे गम्यागम्य का भी विचार नही रहता। जो शराव और पानी को समान समझेगा, वह सभी स्त्रियो को अपनी स्त्री के समान क्यो नही समझेगा ? शराव पी लेने पर दिल पर ऐसा असर होता है कि पीने वाले को भले-वुरे का कुछ भी ध्यान नही रहता। शराव ही क्यो, आप चुरुट को ही लीजिये, जिसके सेवन मे वडा दोप नही समझा जाता। एक अग्रेज विद्वान् को चुरुट पीने का वहुत शौक था। एक दिन उसे चुरुट का वहुत तेज नशा चढ आया। उसकी पत्नी गाढी नीद मे सोई हुई थी। उसने अपनी पत्नी को नशे मे उन्मत्त होकर मारना चाहा पर थोडी देर मे नशा उतर जाने पर इस नीचतम विचार के लिये अपने को धिक्कारने लगा। थोडी देर हुई कि उसने फिर चुरुट पिया। अव की वार वह इतना वेभान हो गया कि उसने अपनी प्रियतम पत्नी की गर्दन पर छुरा

चला ही दिया। पत्नी के प्राण-पखेरू उड गये।

जब चुरुट पीने से ही इतना अधिक पतन हो जाता है तो शराब पीने से कितना पतन होता होगा, इस बात का विचार आप स्वय कर देखिए। शराब पीने वालो के हाथो हजारो खून हुए हैं। अमेरिका जैसे अनार्य कहलाने वाले देश के निवासियो ने भी शराब का वहिष्कार कर दिया है। पर आर्य-देश भारत मे इसकी दिनोदिन वृद्धि होती जाती है और इसके उपासको की सख्या बढ रही है। यह कैसी उलटी गगा बह रही है ?

ओसवाल जाति ने मदिरा और मास का त्याग किया है, पर सुना जाता है कि अब कई ओसवाल लुक-छिपकर इनका सेवन करने लगे हैं। ऐसे लोग अपनी जाति के शत्रु हैं। जाति वालो की तरफ से उनके इस कृत्य का तिरस्कार होना चाहिये।

भाइयो, आज तुम्हारे अछूत भाइयो मे मदिरापान का दोष बढा हुआ है और बढता चला जा रहा है। उनके इस दोष को दूर करने का प्रयत्न कीजिये। अगर लडका मूर्ख रहे तो मा-बाप का दोष माना जाता है। भारत मे ब्राह्मण समाज के माता-पिता के तुल्य समझे जाते हैं। अगर अछूत भाइयो का और साथ ही सवर्ण लोगो का यह दोष दूर नही होता तो इसका अधिकाश कलक ब्राह्मणो के सिर पर है। उन्हें चाहिए था कि वे मनुष्य जाति के सुधार-कार्य में लगते।

यही बात मैं अपने साधुओ से कहता हूँ। अगर साधु अपने बिगडे हुए भाइयो को नही सुधारते तो समझना चाहिए कि उनके साधुत्व मे ही त्रुटि है। जो साधु निराधार का आधार बनता है, गरीबो का सखा बनता है और मुक्ति का मगा बनता है वही साधु सच्चा साधु है। ऐसा ही साधु धन्यवाद का पात्र होता है।

यहाँ उपस्थित अछूत कहलाने वाले भाइयो से शराब के विषय मे मैं पहले कह चुका हूँ। आज फिर कहता हूँ। भाइयो इस बात का विचार करो कि शराब पीना स्वाभाविक है या अस्वाभाविक है ? यदि

शराब पीना स्वाभाविक होता तो सभी प्राणी शराबी होते। शराब न पीने वाला एक भी प्राणी न मिलता। जिसके बिना जीवन निर्वाह न हो सके वही वस्तु स्वाभाविक कहलाती है। पानी के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, अत पानी जीवन के लिए स्वाभाविक है। क्या शराब के विषय मे यह बात कही जा सकती है ? नही। हम देखते हैं शराब के बिना आज करोडो आदमी जीवित रह रहे हैं। हम यह भी देखते हैं कि शराब पीने वालो की हालत बहुत बुरी होती है। शराब के कारण अनेक राजाओ तक का खून हुआ है। शराब ने जोधपुर, बीकानेर और कोटा आदि के राजाओ एव सरदारो के प्राण हरण किये हैं, ऐसा एक चारण कवि ने अपनी कविता मे कहा है। इस कवि ने और भी बहुतेरे नाम गिनाये हैं जो शराब के शिकार बने हैं। इस दुष्ट दारू ने न जाने कितनो के कलेजे सडाये है ! न मालूम कितने दैवी प्रकृति वालो को राक्षसी प्रकृति वाला बना डाला है ! कौन जाने कितने आबाद घर बर्बाद कर दिये हैं ! शराब की बदौलत असख्य मनुष्य अपने सुखमय जीवन से हाथ धोकर दु खो के पात्र बने हैं।

जिस घर मे शराब पीने का रिवाज है उस घर की दशा देखिये तो कलेजा काँपने लगेगा। उस घर के स्त्री बच्चे टुकडे-टुकडे के लिये हाय-हाय करते हैं पर घर-मालिक शराब के चगुल मे ऐसा जकड जाता है कि उसका उस ओर लक्ष्य ही नही जाता। वह शराब के नशे मे झूमता रहता है। उसे पता नही कि शराब के दुष्परिणाम स्वरूप उसके धन का, उसकी शक्ति का और उसके सपूर्ण जीवन का किस प्रकार नाश हो रहा है ?

शराब के विषय मे इतना ही कहकर मास के विषय मे कुछ कहना चाहता हूँ। शास्त्र मासभक्षण की निन्दा करता है, यह कौन नही जानता ? अतएव मैं शास्त्र के वाक्यो का उल्लेख न करके प्रत्यक्ष प्रमाणो से ही मास के विषय पर आपका ध्यान खीचना चाहता हूँ। मासभक्षण करना अच्छा है या नही, इस बात की परीक्षा अमेरिका मे

दस हजार विद्यार्थियो पर की गई थी। पाँच हजार विद्यार्थी शाक, फल, फूल आदि पर रखे गये और पांच हजार मासाहार पर रखे गये। छह महीने तक वह प्रयोग चालू रहा। इसके बाद जो जाच की गई तो मालूम हुआ कि जो विद्यार्थी मासाहार पर रखे गये थे उनकी वनिस्वत शाकाहारी विद्यार्थी सभी वातो मे तेज रहे। शाकाहारियो मे दया, क्षमा आदि मानवोचित गुण अधिक परिमाण मे विकसित हुए। मासाहारियो की अपेक्षा शाकाहारियो मे वल अधिक पाया गया और उनका मानसिक विकास भी अच्छा हुआ। इस परीक्षा के फल को देखकर वहाँ के लाखो मनुष्यो ने मास खाना त्याग दिया।

गाधीजी एक बार विलायत के किसी नगर मे किसी के घर आमन्त्रित किये गये। वहाँ उन्होने देखा कि हिन्दुस्तानियो की अपेक्षा यूरोपियन अधिक सख्या मे निरामिष भोजी थे।

अनार्य देश मे आर्य देश के नियमो पर अमल किया जाय और आर्य देश मे आर्य देश के निवासी ही अपने नियमो के प्रति उदासीन रहे यह कितनी शोचनीय वात है!

मासाहार की स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता की जाँच कर लेनी चाहिये। इस बात की जाँच पशुओ से सहज ही की जा सकती है। मनुष्य तो वौद्धिक विकास की उस सीमा को भी पार कर गया है, जहाँ स्वाभाविक-अस्वाभाविक का भेद ही नही रहा। उसने इस विवेक को तिलाजलि दे दी है। वह अस्वाभाविक को स्वाभाविक और स्वाभाविक को अस्वाभाविक मान वैठा है। बेईमानी और झूठ को सत्य का रूप देने मे वुद्धिशाली वकील जितनी सफलता पा सकता है, उतनी सफलता पाना—क्या साधारण वुद्धि वाले के वूते की वात है? यह वुद्धि जव निरर्गल हो जाती है—हृदय के और निसर्ग के नियमो के वन्धन से छूट जाती है तव वन्धनमुक्त घोडे की तरह भागती फिरती है। उसे भले ही कोई सपत्ति माने, मगर वास्तव मे वह विपदा है। वेचारे पशु-पक्षी मनुष्यो की भाँति

वुद्धि के धनी नही हैं । वे पढे-लिखे नही हैं । इसलिये उनमे प्रकृति के नियमो को तोडने की हिम्मत नही है । प्रकृति के कानूनो की परीक्षा इन पर बहुत अच्छी तरह हो सकती है ।

पशुओ मे दो दल हैं—एक मासाहारी दल और दूसरा शाकाहारी दल अर्थात् घास खाने वालो का समूह । मासाहारी दल के पशुओ के नाखून पैने होते हैं, जैसे कुत्ता, विल्ली, सिह, चीता, आदि के । घास खाने वाले पशुओ मे यह वात नही पाई जाती । उनके नाखून पैने नही होते, जैसे गाय, भैंस आदि के । घास दल के पशु मनुष्यो के मित्र होते हैं । वे घास खाते हैं और दूध देते हैं। पर कुत्ता मास-भक्षी होने के कारण मनुष्यो की रोटी भी खाता है और काटने से भी नही चूकता । घास खाने वाले पशु शान्त होते हैं और मास खाने वाले क्रूर होते हैं ।

भोजन-पान का शरीर और मन पर अवश्य प्रभाव पडता है। सात्विक भोजन करने से सतोगुणमयी प्रकृति बन जाती है, राजस भोजन करने से रजोगुणमयी और तामस भोजन से तमोगुणमयी प्रकृति बन जाती है । खाने से पुण्य-प्रकृति भी बधती है और पाप-प्रकृति भी बधती है । अतएव खाने के विषय मे शान्त चित्त से, स्वच्छ हृदय से विचार करने की बडी आवश्कता है ।

मासाहारियो की दूसरी पहचान यह है कि उनके जवडे लम्बे होते हैं, जवकि शाकाहारियो के गोल होते हैं । गाय और कुत्ते के जबड़े ध्यान-पूर्वक देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी ।

मासाहारियो की तीसरी पहचान यह है कि वे जीभ से चप-चप करके पानी पीते हैं जब कि घास खाने वाले पशु होठ टेक-कर पानी पीते है । गाय, भैंस, वन्दर और सिह तथा कुत्ते को पानी पीते देखने से यह भेद भी स्पष्ट मालूम हो जायगा ।

मासाहारी और अमासाहारी जीवधारियो की जो परीक्षा वत-लाई गई है, उसके अनुसार मनुष्य निर्विवाद रूप से निरामिष-भोजी

ही ठहरता है। मासभोजी प्राणियो के साथ उसकी समानता न होकर अमासभोजी के ही लक्षण उसमे पाये जाते हैं ।

कई विद्वान् डाक्टरो ने सिद्ध कर दिखाया है कि घास खाने वाले, मास खाने वाले और अन्न खाने वाले प्राणियो की आतें एक-सी नही होती। इन सब की आतो मे भिन्नता पाई जाती है।

बन्दर के शरीर मे मास को पचाने वाली आतें नही है। इसलिये बन्दर कभी मास नही खाता—फल पर वह टूटकर गिरता है। जरा विचार कीजिये, जो प्राणी—बन्दर—मनुष्य की शक्ल का है वह तो मास नही खाता, पर मनुष्य कहलाने वाला प्राणी मास-भक्षण कर लेता है !

अब आप पक्षियो की ओर दृष्टि दौडइये। क्या आपने कभी कबूतर को कीडा खाते देखा है ?

कभी नही।

और कौवा को ?

हाँ !

तो कबूतर और कौवा को यह पाठ किसने पढाया है ? प्रकृति ने ही ।

आपने तोते को मास खाते कभी नही देखा होगा। वह आपकी भाषा सिखाने से बोल सकता है। जो मनुष्यो की भाषा सीखे वह तो मास न खाये, पर जिसकी अपनी भाषा है, वह मनुष्य मांस खा ले यह कैसे आश्चर्य की बात है।

अरे मनुष्य ! तू तकदीर लेकर आया है, जरा तकदीर पर भरोसा रख और प्रकृति का कानून मत तोड। क्या मास न खाने वाले भूखो मरते हैं ? हम देखते हैं, जितने मासाहारी भूखो मरते हैं उतने शाकाहारी नही। व्यवहार दृष्टि से शाकाहारी सब प्रकार से सुखी और मासाहारी दुःखी दिखाई देते हैं।

आत्मिक उत्कर्ष मे भोजन किस प्रकार सहायक बनता है,

यह बात गौतमस्वामी के 'किंवा भुच्चा'—क्या खाकर—भोगकर सुवाहुकुमार ने यह ऋद्धि प्राप्त की है ? इस प्रश्न से स्पष्ट हो जाती है। श्री गौतमस्वामी, भगवान से प्रश्न करते हैं—भगवान, सुवाहुकुमार का तीये का छक्का कैसे हो गया ?

जीव-मात्र किसी से कुछ लेता है और किसी को कुछ देता है। इसी क्रिया से ससार-व्यवहार चल रहा है। इस क्रिया को करने से तिया का छक्का और छक्के का तिया वन जाता हैं। दान देना अच्छा है परन्तु कुपात्र दान का फल उलटा होता है। मृगा लोडा के अध्ययन मे वतलाया गया है कि कुपात्र दान के फल से वह मृगा लोडा हुआ था।

वेश्या और चोर आदि को कुकर्म करने के लिए दिया जाने वाला दान कुपात्र दान है। किसी की सहायता के लिए करुणा-वुद्धि से जो दान दिया जाता है वह कुपात्र दान नही—अनुकम्पा दान है।

वहुतेरे भाई विवाह और मृत्यु-भोज आदि के अवसर पर मुक्तहस्त से खर्च करते है पर किसी भले सार्वजनिक कार्य मे खर्च करते समय उनका हाथ थर-थर काँपता है। ऐसे वल को शास्त्र कुवल कहता है।

आत्मा मे शुभ वल और अशुभ वल दोनो विद्यमान हैं। शुभ वल से आत्मा की उन्नति होती है और अशुभ वल से आत्मा का पतन होता है। अशुभ वल उलटा काम करता है और शुभ वल सुलटा। तीन और छ के अक मे जितना अन्तर है, उतना ही शुभ और अशुभ वल मे है। तिये को छक्के मे अर्थात् दु ख को सुख रूप मे और छक्के को तिये मे अर्थात् सुख को दु ख रूप मे परिणत करना आत्मा के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

गौतम स्वामी ने इसलिए यह प्रश्न किया है कि सुवाहुकुमार ने किस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा अपने दु खो को सुख मे परिणत कर लिया है ? जो लोग अपने कल्याण की कामना रखते है उन्हे गौतम

स्वामी के 'किवा दच्चा' और 'किवा भुच्चा' आदि का अर्थ समझ लेना चाहिए ।

आजकल के अधिकाश लोग 'किवा भुच्चा' की ओर जरा भी ध्यान नही देते । भोजन के विषय मे मनुष्य ने पशुओ को मात कर दिया है । जो कुछ उसके सामने आता है, जिससे उसकी लोलुप जीभ सन्तोष अनुभव करती है, वही वस्तु वह खा जाता है । मगर प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य का जीवन खाने के लिए है ? जिह्वा की तृप्ति ही क्या इस मानव जीवन का उद्देश्य है ? अगर ऐसा हो तो मानव-जीवन की उत्तमता का राग आलापना बकवाद ही है ।

मैंने सुना है, किसी जमाने के रोम देश के बादशाह को खाने का बहुत शौक था । वह दिन मे कई बार नये-नये भोजन तैयार कराया करता और उन्हे खाता रहता था । खाते-खाते पेट मे जब जगह न रहती और दूसरा नवीन भोजन तैयार हो जाता तो वह औषध का उपयोग करके पहले के भोजन का वमन कर डालता । इस उपाय से उसका पेट कुछ खाली हो जाता था और फिर तत्काल ही वह खाली स्थान को भरने बैठ जाता था । परिणाम यह हुआ कि उसे भयकर रोग हो गया और थोडी ही उम्र मे वह ससार से चल बसा । ऐसे लोगो के लिए भोजन विष बन जाता है ।

सच्चा श्रावक मर्यादाहीन भोजन से दूर रहता है । वह जीवनोपयोगी छब्बीस बातो की मर्यादा बाँध लेता है और उसी मे भोजन सम्बन्धी मर्यादा भी अन्तर्गत हो जाती है ।

गौतम स्वामी ने 'किवा दच्चा' 'किवा भुच्चा' आदि प्रश्न करके तुम्हारे लिए समुद्र का मथन करके अमृत निकालने का काम किया है । माता दही मथकर मक्खन निकालती है और अपने बच्चे के हाथ में दे देती है । उसे गले के नीचे उतारना बालक का काम है । तुम्हारे सामने अमृत पडा है । इच्छा हो तो इसका उपयोग करके अमरत्व प्राप्त कर सकते हो ।

१० : किवा किच्चा ?

गौतमस्वामी का तीसरा प्रश्न है—'किवा किच्चा ?'—अर्थात सुबाहुकुमार ने क्या कृत्य किया था ? यह प्रश्न कितना ज्ञानप्रद है ! इस प्रश्न को भलीभाँति समझने से कृत्याकृत्य का विवेक उत्पन्न हो जाता है । प्रत्येक कार्य से पुण्य और पाप प्रकृति का बन्ध होता है पर पुण्य और पाप के बन्ध का मुख्य आधार मानसिक विचार हैं । मानसिक विचार के प्रभाव से आस्रव सवर हो जाता है और सवर भी आस्रव हो जाता है ।

सच बात यह है कि किसी बाह्य क्रिया से वस्तु-तत्त्व का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता । खास कर आत्मिक-शुद्धि और अशुद्धि का प्रधान आधार मानसिक भावना पर निर्भर है । कृत्याकृत्य के विषय मे आज जनता मे बहुत-सी भ्रान्त धारणायें प्रचलित हो रही हैं । उन्हे दूर कर सत्य का प्रचार करना बुद्धिमान् पुरुष का सर्व-प्रथम कर्तव्य है ।

ससार मे ऐसा कोई कार्य नही, जिसे करने मे पाप और पुण्य न हो । फिर भी ज्ञान-पूर्वक विवेक के साथ उसी काम को करने से पाप का बन्ध कम होता है और उसी को अज्ञान-पूर्वक करने मे अधिक एव भयकर पाप का बन्ध हो सकता है ।

कई भाई सोचते होगे—रोटी बनाने वाली बाई पाप से नहीं बच सकती । मैं कहता हूँ—वह बहुत अशो मे पाप से बच भी सकती है, पुण्य प्रकृति का बन्ध भी कर सकती है । जो बाई रसोई बनाना अपने ऊपर आया हुआ कर्तव्य समझती है, वह यह भी समझती है कि मेरी बनाई हुई रोटी से बहुतों को शान्ति मिलेगी । इस प्रकार

दूसरो को शान्ति-साता पहुँचाने की प्रशस्त भावना के साथ, अपने को मजदूरिन न समझकर, यतनापूर्वक लकडी, कडा चूल्हा आदि उपकरणो को साफ करती हुई, जीवो को वचाती हुई, जो महिला भोजन वनाती है वह पाप प्रकृति मे भी पुण्य प्रकृति वाँधती है। इससे विपरीत अपने को मजदूरिन समझने वाली और लापरवाही से भोजन वनाने वाली और खाने वालो को राक्षस के समान समझने वाली वाई पाप प्रकृति मे और अविक पाप प्रकृति का वध करती है।

बहुत-सी वहिनें रसोई न वनाने से अपने आपको पाप से वची हुई समझती हैं, पर मैं कहता हूँ—यह उनका एकान्त यथार्थ ख्याल नही है।

आजकल की अधिकाश वहिनें आलस्यमय हो गई हैं। उनसे श्रम नही होता। उनके लिए रसोइया चाहिये, पानी लाने वाला चाहिए, आटा सीवा मोल आना चाहिए। यह तो केवल आभूषण पहनकर अग को मोडती-मरोडती हुई चलने मे ही अपनी शान समझती हैं। रसोई आदि कार्य हाथ से करने मे यह पाप समझती हैं। यह कैसी विपरीत वुद्धि है। इन वहिनो को यह नही मालूम कि रसोई करने मे, आटा पीसने मे अथवा पानी लाने में जितनी यतना हम कर सकेंगी, उतनी मजदूर या मजदूरिन नही कर सकती।

आज कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय मे वडी उलटी समझ हो रही है। लोगो ने न जाने किस प्रकार अपनी धारणाएँ वना ली हैं। वाजार से घी लाने मे पुण्य है और घर पर गाय का पालन करके घी उत्पन्न करने मे पाप है, ऐसा कई लोग समझते हैं। मगर विचार करना चाहिए—'क्या वाजार का घी आकाश से टपक पडा है ? नही। वाजार का घी खरीदने मे किनने जानवरो की हिंसा का भागी होना पडता है, इस वात पर आपने कभी विचार किया है ?

यह सभी जानते है कि एक रुपये का जितना विदेशी घी आता है उतने देशी घी के लिए दो रुपये लगते हैं। पर परदेशी घी मे

किन-किन वस्तुओ की मिलावट होती है, वह स्वास्थ्य को किस प्रकार बिगाडता है, इस बात का भली-भाँति विचार किया जाय तो नफे-टोटे की बात मालूम हो जायगी ।

जिस देश वाले भारतवर्ष से हजारो मन मक्खन ले जाते हैं, लाखो मन गेहूँ ले जाते है, वही लोग जब आधी कीमत पर वह वस्तुएँ हमे लाकर देते हैं तो समझना चाहिए कि उसमे कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य है । क्या वे दीवालिया बनने के लिए व्यापार करते हैं ?

घर पर उत्पन्न हुए घी से बाजार के घी मे अधिक पाप क्यो है, इस प्रश्न पर ऊपरी दृष्टि से विचार मत कीजिए । आप उस शास्त्र पर नजर रखते हुए विचार कीजिए जो धनुष-बाण बनाने मे घोर आरम्भ-समारम्भ का होना बतलाता है । परदेशी घी तैयार करने के लिए कितने बडे-बडे कारखाने खडे किये जाते हैं और उसके लिए कितने पशुओ का वध किया जाया है, इस बात का जब आपको पूरा पता लग जायगा तब सहज ही आप जान सकेंगे कि थोडा पाप किसमे है और अधिक पाप किसमे है ?

बहुत से भाई कहते है कि मैं गायें पालने का उपदेश देता हूँ । वे कहते हैं—महाराज गायें पलवाते हैं, पर मैं क्या उपदेश देता हूँ, क्या कहता हूँ, किन शब्दो मे कहता हूँ और किस आधार से कहता हूँ, इस बात को समझने का वे कष्ट नही करते । उन्हे कौन समझाए कि साधु का कर्तव्य जुदा है और गृहस्थ का कर्तव्य जुदा है । दोनो की परिस्थिति मे इतना अधिक भेद है कि उनका कर्तव्य एक नही हो सकता और साधु कभी सावद्य भाषा का प्रयोग नही करते ।

जिसने गृहस्थ के बारह व्रतो का रहस्य जान लिया उसने कृत्याकृत्य का भेद पहचान लिया है । जो कृत्य विवेक-पूर्वक, बुद्धि-पूर्वक, वस्तु-स्थिति को समझकर किया जाता है उसके करने मे निराला ही आनन्द होता है । गेहूँ के दाने मे सर्व-साधारण लोग झाड के

रूप को नही देख पाते पर वैज्ञानिको ने उसे देख पाया है। जो शक्ति आपके इस देह मे है वही शक्ति आपके भीतर के कार्मण शरीर मे है। उसे केवल ज्ञानी प्रत्यक्ष से जानते हैं। भगवती सूत्र मे प्रश्न किया गया है—जीवधारियो के कर्म का आकार वेर के बराबर होगा ? भगवान ने समाधान करते हुये कहा है कि—सम्पूर्ण ससार के कर्म एकत्र किये जाएँ तो मूँग के बराबर भी नही होगे। यह कैसी बात है ! जिस कर्म के कारण ससार मे उथल-पुथल मच रही है उसका रूप इतना छोटा ! कैसे विस्मय की बात है ! भाइयो, शुभ कर्म करते रहो। शुभ कर्मों के अभाव मे एक भी श्वास व्यर्थ न चला जाय, इस बात का पूरा ध्यान रखो।

दम पर दम हर भज नहीं भरोसा दम का।
एक दम में निकल जाएगा दम आदम का॥
है जब तक दम मे दम सुमर हर हर तू,
दम आवे न आवे इसकी आशा मत कर तू।
एक नाम प्रभु का जप हृदय मे धर तू,
नर इसी नाम से तर जा भव-सागर तू॥
छल कर ना थोड़े जीने के खातिर तू,
वह है साहब जलाल जरा तो डर तू।
वहां अदल खड़ा इंसाफ होगा दम दम का,
एक दम में निकल जावेगा दम आदम का॥

जितने श्वास लिये जाते है वे सब सस्कार-रूप मे परिवर्तित हो रहे हैं। जैसे-जैसे श्वास लोगे वैसे-वैसे कर्माण शरीर के चित्र बनकर सामने आते जाएँगे। दुनिया के काम हमेशा करते हो तो तुम्हे ईश्वर के नाम लेने का भी काम करना चाहिये। ईश्वर का नाम लेने से तमाम कुवासनाएँ मिट जाती हैं। राजा जिसका हितचिन्तक बन जाता है उसे चोर डाकुओं का भय नहीं रहता। इसी प्रकार जो राजाओ के राजा—परमेश्वर के साथ नाता जोड लेता है उसे क्रोध, मान, मद, लोभ आदि

लुटेरे नही सता सकते ।

ऊपर कृत्याकृत्य का कुछ विवेचन किया गया है। वास्तव मे कृत्य और अकृत्य के विवेचन मे समस्त शास्त्र समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि मनुष्य को अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिये सदैव उद्यत रहना चाहिये। नीति मे भी कहा है—

> कर्त्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
> अकर्त्तव्य न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

अर्थात् जब प्राण कण्ठ मे आ जावें तब भी अपने कर्तव्य का अनुष्ठान करना चाहिये। उस समय भी कर्तव्य को त्यागना उचित नही है। इससे विपरीत प्राण कण्ठ मे आ जावे तब भी अकर्तव्य कर्म का आचरण नहीं करना चाहिये। कर्तव्यनिष्ठा मे जीवनोत्सर्ग कर देना अच्छा है और अकर्तव्य न करने से अगर जीवनोत्सर्ग करना पडता हो तो भी अकर्तव्य न करना चाहिये।

इस विवेचन से आप 'किंवा किच्चा ?' का आशय समझ गये होंगे।

आज कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का अर्थ भली-भाँति न समझने के कारण ही बहुत से भाई अपने कर्त्तव्य का पालन करने मे ढीले दिखाई देते हैं। कभी-कभी उपदेशक भी कर्त्तव्य को उलट-पलटकर समझा देते हैं। इस कारण भी लोग कभी कर्तव्यपालन के लिये कमर कसते हैं तो कभी एकदम सुस्त हो जाते हैं। इस दोष का दायित्व पालन करने वाले पर नही वरन् समझाने वाले पर है। जो उपदेशक गृहस्थ से साधु के कर्तव्य का पालन करने के लिये कहता है, वह उसे अपने मार्ग से च्युत करता है। इस गडबडी का परिणाम अच्छा नही आता। आज गृहस्थ के सिर पर सूक्ष्म जीवो की—स्थावर प्राणियो की रक्षा करने का भार इतना अधिक डाल दिया जाता है कि वे उसके पीछे लगकर ज्ञान-हीन होने के कारण स्थूल-हिंसा से भी नही बच पाते। गृहस्थ के सामने अपने कर्तव्य की ठीक कसौटी नही रहती। शास्त्रो से यह

मालूम होता है कि गृहस्थ के लिये स्थूल हिंसा से बचने का विशेष आग्रह किया गया है। अगर स्थूल-हिंसा के सिवाय सूक्ष्म हिंसा से बचना गृहस्थ के लिए प्रधान कर्तव्य होता तो शास्त्र मे 'थूलाओ पाणाइवा-याओ वेरमण' के बदले 'सुहुमाओ पाणाइवायाओ वेरमण' ऐसा पाठ भी मिलता। मगर ऐसा पाठ नही है।

पानी मे असख्यात जीव माने गये हैं और वह भी एक बूद मे। ऐसी स्थिति मे अगर कोई प्यासा मनुष्य आवे तो उसे पानी पिलाना चाहिए या नही ? अगर पिलाना चाहिए तो क्यो ? कुछ लोग कहते हैं—पानी पिलाने से एक जीव की रक्षा हुई मगर असख्यात पानी के जीव मारे गये। एक मनुष्य की रक्षा करने मे जो असख्य जीवो का घात होता है उस पाप का भागी कौन होगा ? मगर शास्त्र मे तीर्थंकरो ने हिंसा का जहाँ वर्णन किया है, उसे देखने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पचेन्द्रिय जीव के सामने सूक्ष्म जीवो को उतना महत्त्व नही दिया गया है। पचेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाला नरक गति का अतिथि बनता है, ऐसा शास्त्र मे उल्लेख मिलता है। मगर एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाला नरक गति मे जाता है, ऐसा उल्लेख किसी भी शास्त्र मे दृष्टिगोचर नही होता। शास्त्र मे जहाँ नरकगति के बध के चार कारणो का उल्लेख किया गया है, वहाँ भी 'पचिदियवहेण' अर्थात् पचेन्द्रिय जीव के बध से (नरकगति का बध होता है) ऐसा पाठ है, 'एगिदियवहेण' अर्थात् एकेन्द्रिय जीव के बध से (नरकगति का बध होता है) ऐसा पाठ नही है।

भगवान नेमिनाथ के विवाह-सम्बन्धी प्रकरण से इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सक्षेप मे उसे विचार लेना उचित होगा।

नेमिनाथ भगवान बाईसवे तीर्थङ्कर थे। उनसे पहले के इक्कीस तीर्थङ्करो ने यह बात प्रसिद्ध की थी कि नेमिनाथ बाल-ब्रह्मचारी रहकर दीक्षा धारण करेंगे। शास्त्र मे यह बात प्रसिद्ध थी और साथ ही

विशिष्ट ज्ञानी नेमिनाथ स्वय यह जानते थे कि मै बाल-ब्रह्मचारी रहूँगा । यह सब जानते-बूझते भी उन्होंने विवाह का नया आडम्बर क्यो खडा किया ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि उस समय यादवो मे घोर हिंसा प्रचलित हो गई थी । उस हिंसा का निवारण करने के लिए विवाह-प्रसग को उपलक्ष्य करके, बाडे मे बन्द किए हुए पशुओ को करुणा पूर्वक छुडाकर और विवाह का त्याग करके भगवान नेमिनाथ ने अहिंसा और महान् त्याग का आदर्श जगत के समक्ष प्रत्यक्ष उपस्थित कर दिखाया । कहने की आवश्यकता नही कि इस महान् त्याग का तत्कालीन यादवो पर ही नही वरन् अन्य लोगो पर भी इतना अधिक प्रभाव पडा जो सैकडो उपदेशो का नही पड सकता था ।

स्थावर जीवो की हिंसा पचेन्द्रिय जीवो के ही सदृश होती तो भगवान उसी समय विवाह का त्याग कर देते जब विवाह के अवसर पर उनके स्नान के लिए जल का कुण्ड भरा गया था । वे कह सकते थे— मेरे स्नान के लिए असख्य जीवो का घात हो रहा है, अतएव मैं विवाह का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण करता हूँ । पर उन्होने ऐसा नही किया । बिना कुछ कहे उन्होंने स्नान किया और ठाठ के साथ हाथी पर विराजमान हो गये । बरात के आगे-आगे दूल्हा बनकर वे महाराज उग्रसेन के महल की ओर अग्रसर हुए । वहाँ एक बाडे मे पचेन्द्रिय पशुओ को बन्द देखकर जगत् को अहिंसा का माहात्म्य समझाने के लिये सारथी से पूछा—

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो ।
वाडेहिं पञ्जरेहिं च, सन्निरुद्धा य अच्छहिं ॥

अर्थात्—हे सारथी, यह सब सुख के अर्थी प्राणी बाडे और पींजरे मे किस प्रयोजन से रोककर रखे गये ?

सारथी ने कहा—

अह सारहियो भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुज्झं विवाहकज्जम्मि, भोयावेउं बहुं जणं ॥

अर्थात्—यह सब भद्र, सुख के अर्थी प्राणी तुम्हारे विवाह-प्रसग पर बहुत जनो का भोजन बनने के लिये अवरुद्ध किये गये हैं।

सारथी का उत्तर सुनकर भगवान नेमिनाथ ने सोचा—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मन्ति सुबहु जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥

अगर मेरे विवाह के निमित्त यह बहुत से प्राणी मारे जाते हैं तो यह हिंसा परलोक मे मुझे शान्ति देने वाली न होगी।

भगवान का सकेत पाकर सारथी ने बाडे का द्वार उन्मुक्त कर दिया और जीव स्वतन्त्र हो गये। तब उन्होने सारथी को यह इनाम दिया—

सो कुंडलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए॥

अर्थात्—भगवान नेमिनाथ ने कुण्डल आदि समस्त आभूषण उतारकर सारथी को पारितोषिक रूप मे दे दिये।

उपर्युक्त कथन को सामने रखकर विचार करना चाहिए कि यहाँ जो 'पाणिविणासण' अर्थात् जीव-हिंसा की बात कही गई है सो वह बहुतेरे प्राणी जल के कुड मे थे या बाडे मे ? अगर दोनो स्थानो के प्राणियो की सख्या पर विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि बाडे की अपेक्षा जलकुड मे बहुसख्यक प्राणी थे। बाडे मे गिनती के ही प्राणी थे, जब कि जल के कुड मे एक-एक बूद मे असख्य-असख्य प्राणी थे। इस बात को बुद्धिपूर्वक समझना चाहिए। अगर एकेन्द्रिय जीवो का महत्व पचेन्द्रिय जीवो के समान ही होता तो भगवान नेमिनाथ स्नान करते समय ही यह बात कहते कि बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदायक न होगी। मगर वहाँ उन्होंने ऐसा कुछ भी न कहा। जब वे बाडे के समीप आये और पचेन्द्रिय जीवो को बन्द देखा तो कहने लगे—इन प्राणियो की हिंसा मुझे शान्तिदायक न होगी। अब यह बात स्पष्ट है कि पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा महारक्षा है। भगवान नेमिनाथ ने

पचेन्द्रिय जीवो को छुडाकर इस सत्य को उदाहरण-पूर्वक स्पष्ट कर दिया है ।

यह तर्क किया जा सकता है कि एक पचेन्द्रिय जीव की रक्षा करने मे अनेक एकेन्द्रिय जीवो का घात होता हो तो एकेन्द्रियो की सख्या अधिक होने के कारण पचेन्द्रिय जीव की रक्षा के पुण्य से एकेन्द्रियो के घात का पाप अधिक हो जायगा । मगर यह तर्क मिथ्या है । अगर ऐसा होता तो जीवदया का माहात्म्य प्रकट करने के लिए स्नानादिक का आरम्भ और बरात सम्बन्धी आडम्बर भगवान नेमिनाथ ने स्वीकार न किया होता ।

तात्पर्य यह है कि आज उपदेशको की असावधानी से साधु और गृहस्थ के कर्तव्यो मे जो विचित्र-सा सम्मिश्रण हो रहा है, उसके कारण गृहस्थ अपने धर्म का भी शुद्ध रूप से पालन नही करते । अतएव यह आवश्यक है कि गृहस्थो को उनका वास्तविक कर्तव्य समझाया जाय । ऐसा न होने से कभी-कभी बडे अनर्थ हो जाते हैं ।

एक भाई ने मुझे बतलाया था कि किसी प्रसूता बहिन को प्यास लगी । उसने एक श्राविका बहिन से पानी मागा । मगर उस श्राविका ने पानी इसलिए नही दिया कि पानी पिलाने से तेले का दण्ड आता है ! समझ मे नही आता, इस बहिन ने किस शास्त्र मे से इस दण्ड का आविष्कार कर लिया !

दूर देश अमेरिका से आकर लोग हमारे भाइयो की सेवा करते हैं, पर हम अपने उन भाइयो और बहिनो का तिरस्कार करते हैं । यह कैसा औचित्य है ? यह न्याय किसने सिखलाया है ? मनुष्य पशु पर दया करे, पक्षी की रक्षा के लिए लालायित रहे, छोटे-छोटे जीवो की रक्षा के लिए प्रयत्न करे, मगर मनुष्य के प्राणो की रक्षा के लिए विचार भी न करे और उसे मर जाने दे, यह कितनी बडी नासमझी है ! धर्म के नाम पर यह घोर अधर्म है ।

साधु के प्रकरण मे साधु के लिये जिन कर्तव्यो का निर्देश

किया गया है, उनका साधु पालन न करे तो उसे यथायोग्य प्रायश्चित्त का पात्र बनना पडता है । उदाहरणार्थ कल्पना कीजिये—दो साधु हैं । उनमे से एक ने अपना काम-काज करके, पात्र साफ करके कही रख दिये । इतने मे एकाएक वर्षा आने लगी । पात्र या साधु की अन्य उपधि भीगने लगी । अब एक साधु सोचता है—'अगर पात्र लाने जाऊँगा तो हिंसा होगी—जल के जीवो की विराधना होगी । पात्र नही उठाऊँगा तो उस विराधना से वच जाऊँगा ।' दूसरा साधु पात्र उठा लाया । अव विचार कीजिये आराधक कौन है ? निशीथ-सूत्र के अनुसार नही उठाने वाले मुनि को प्रायश्चित्त का भागी होना पडता है ।

एक साध्वी पानी मे वह गई । उसे निकालने मे जो घृणा प्रकट करता है—उसे वचाना वुरा मानता है, वह साधु विराधक होगा । इसके विपरीत साध्वी को वचाने वाला साधु आराधक होगा ।

साधु षट्काय की हिंसा का त्यागी होता है, गृहस्थ इतना त्याग नही कर सकता । फिर भी जो गृहस्थ सूक्ष्म जीवो की ओट मे अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता दिखलाता है, वह उचित नही है ।

हिंसा के सम्बन्ध मे अनेक विधि-विकल्प है । स्थावर-हिंसा की अपेक्षा त्रस-हिंसा स्थूल है । उसमे अज्ञात रूप से—अनजान मे हुई हिंसा सूक्ष्म है और जान-वूझकर की जाने वाली हिंसा स्थूल है । उसमे भी अनेक विकल्प हैं । डॉक्टर ऑपरेशन करता है । रोगी उसका अपराधी नही है । रोगी की प्राण-रक्षा के लिये डाक्टर चीर-फाड करता है । अनेको वार ऑपरेशन करते समय रोगी मर जाता है । यह सापेक्ष हिंसा है । इससे डाक्टर का अहिंसाणुव्रत भग नहीं होता ।

शास्त्र मे प्रतिपादित कर्त्तव्य क्या है और आधुनिक श्राविकाएँ उसे किस रूप मे समझती हैं, इस वात का विचार करने से आश्चर्य होने लगता है । एक श्राविका चक्की न फेरने की प्रतिज्ञा

लेती है। वह समझती है—चक्की न चलाऊँगी तो पाप से बच जाऊँगी। मगर उसे यह विचार नही आता कि आटा तो खाना ही पडेगा, फिर वह पाप से कैसे बच जायगी। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि मशीन से आटा पिसवाने की अपेक्षा हाथ से पीसकर खाने मे कम पाप होता है। इसका कारण है। हाथ से आटा पीसने मे यतना रखी जा सकती है। पीसते समय गेहूँ आदि मे कोई जीव-जन्तु गिर जाय तो उसे बचाया जा सकता है। चक्की के पाटो के बीच छिपे हुये जीवों की रक्षा की जा सकती है। हाथ से इतना अधिक आटा नही पीसा जाता कि उसका बहुत अधिक सग्रह हो जाय। इसलिए हाथ का आटा प्राय ताजा रहता है और उसमे जीव-जन्तु उतने नही पड सकते जितने एक-साथ बहुत से पिसाये हुए मशीन के आटे मे पड जाते हैं। मजूरी देकर मशीन मे आटा पिसाने से हर तरह अधिक पाप होता है। गेहूँ आदि मे रहे हुए त्रस जीवो की रक्षा नहीं हो सकती, चक्की मे छिपे हुये जीवो की भली-भांति रक्षा नहीं होती और आटा बहुत दिनो का हो जाने के कारण उसमे अनेक जीव पड जाते हैं। ऐसा आटा खाने वाले अपना स्वास्थ्य खराब कर बैठते हैं और कभी-कभी तो उन्हें प्राणो से भी हाथ धोना पडता है। यह सब पाप किसके सिर है? इस पाप का उत्तरदायित्व अविवेक के कारण चक्की न चलाने की प्रतिज्ञा करने वाली बाई पर पडता है। परन्तु इतना विचार कौन करे? इतनी परवाह किसे है? अगर परिश्रम का त्याग करने से धर्म की आराधना होती है तो इतना सस्ता धर्म कौन न करना चाहेगा? मगर ऐसा निठल्लापन धर्म नहीं हो सकता। धर्म कर्त्तव्यपालन मे है।

बाइयाँ आज सुकुमार बनती जाती हैं। मजदूरिनों से काम कराने मे वे अपनी शान समझती हैं। मजदूरिन समय पर न आई तो क्रोध से लाल हो जाती हैं, बेभान हो जाती हैं। अनेक कटुक वचन बोलती हैं। मजदूरिन के हृदय को पीडा पहुँचाती हैं। स्वय

निकम्मी बैठी निन्दा-विकथा मे अपना समय बर्बाद करती हैं ।

जरा सावधानी से विचार कीजिए, चक्की चलाने से पाप घटता है या बढता है ? पानी लाना, चक्की चलाना, रसोई बनाना, आदि कामो मे वहिनें स्वय जितनी अधिक यतना रख सकती हैं, उतनी यतना अबोध मजदूरिनी नही रख सकती, क्योकि चटपट काम करके पैसा लेना उनका उद्देश्य होता है । वहिनो ! याद रखिए जल्दी अपना सुधार न कर लोगी तो एक दिन ऐसा आ सकता है जब मजदूर लोगो के सामने तुम्हे नीचा देखना पडेगा ।

प्राचीन काल की स्त्रियाँ कितनी धीर, वीर और बुद्धिशालिनी होती थी, इस बात का पता महाभारत मे वर्णित द्रौपदी देवी के चरित्र से साफ मिल जाता है । पाडव लोग ग्यारह वर्ष का वनवास पूर्ण करके, बारहवें वर्ष को विराट नगर मे अज्ञात रूप से बिताने के लिए निकले, उस समय वे ऐसे प्रकाशित हुए मानो भस्म मे से अग्नि चमक उठी हो । विराट नगर से वे द्वारिका आये ।

सत्यभामा और द्रौपदी एक ही रथ मे बैठी थी । सत्यभामा द्रौपदी का रूप-लावण्य देखकर दग रह गई । उसने मन-ही-मन सोचा—नारी के रूप मे यह शक्ति कहाँ से आई है ? इसका शान्ति देने वाला अवतार कितना मनमोहक है ? फिर प्रकट रूप से कहा, हे द्रौपदी, ओ पाचाली, तुम्हारे भीतर यह अलौकिक शक्ति है कि तुम पाँच पतियो की पत्नी होकर भी उन सब पर काबू किये हुए हो । जान पडता है तुमने किसी वशीकरण मत्र की साधना की है ।

सत्यभामा फिर कहने लगी—पाचाली, क्या वह मत्र मुझे नही बता सकती जिससे तुमने पाचो पाडवो को एक सूत्र मे बाँध रखा है ? मैं अपने पति श्रीकृष्ण को वश मे रखना चाहती हूँ । अगर वह मत्र मुझे बतला दोगी तो मैं तुम्हारा बडा अहसान मानूँगी ।

द्रौपदी ने उत्तर दिया—वहिन सत्यभामा, वह मत्र मैंने किसी और से नही सीखा । वह मैंने अपनी माता की गोद मे ही सीखा है ।

सत्यभामा—तब जान पडता है, वह तुम्हारी वशपरम्परा का मत्र है ।

द्रौपदी—हा, बहिन तुम्हारा विचार ठीक है ?

सत्यभामा—तो फिर मुझे बताने मे कोई हर्ज तो नही है ?

द्रौपदी—नही, हर्ज क्या है ? उसे तो तुम जानती भी हो। फिर भी मैं कहे देती हूँ। मेरी माता ने कहा था—बेटी, तुम राजा की बेटी हो तो क्या, ऊँचे कुल मे जन्मी हो तो क्या हुआ ? जब तक तुम सासरे वालो को अपने वश मे न करो, अपने अनुकूल एव मधुर व्यवहार से उनका मन न जीत लो, तब तक सब व्यर्थ है। दूसरे को वश मे करने की सब से अच्छी तरकीब यह है कि जिसको वश मे करना हो, उसके वश मे स्वय हो जाना। बस, यही वशीकरण मत्र है। यह मन्त्र अमोघ है। औरो की बात जाने दीजिये, ईश्वर भी इस मन्त्र से वश मे हो जाता है।

बहिन, तुम कहोगी—इसमे क्या रखा है ? बात ठीक भी हो सकती है। अक्षरो मे शक्ति नही है, शक्ति उसकी साधना मे है। इस मन्त्र की साधना क्या है ? यही कि अगर पत्नी अपने पति को वश मे करना चाहती है तो पत्नी स्वय पति के वश मे हो जाय। जो पत्नी इस महामत्र का प्रयोग न करके दूसरे मत्रो, तत्रो और गंडा-तावीजो का प्रयोग करती है, वह पत्नी नही, ठगोरी है। वह छलिनी है। पति को वश मे करने के लिये यह आवश्यक है कि लाखो दास-दासियो के होते भी पति की सेवा पत्नी स्वय अपने हाथ से करे। सेवा किस प्रकार की जाती है ? यह बात भी मेरी माँ ने मुझे बताई थी।

माँ ने कहा था—प्रातःकाल पति के उठने से पहले ही उठ जाना और ईश्वर का स्मरण करना। ईश्वर से प्रार्थना करना कि हे प्रभो ! मुझे ऐसा बुद्धि-बल दे कि मैं अपने पति के अतिरिक्त जगत् के अन्य पुरुषो को पुरुष ही न समझूँ। परमात्मा से धन,

वस्त्र और सन्तान की भीख मागना तुच्छ भावना है ।

जो स्त्री पति के पहले विस्तर नही त्याग देती और लम्बे पैर पसार कर सूर्योदय तक सोती रहती है, वह दरिद्रणी हो जायगी, वह मखिनी बन जायगी, ऐसा समझना चाहिये । बेटी, मन मे सदा यही प्रार्थना करना कि—हे प्रभो ! मुझ से सब प्राणियो को सुख-ही-सुख मिले, सब मुझ से शान्ति पावे । मैं किसी के कष्ट का कारण न बनूं तथा पति के सोकर उठने के पहले उनकी आवश्यकता के अनुसार सब सामग्री तैयार रखना । इतना सब करके भी मन मे अहकार मत लाना कि मैंने ऐसा और इतना किया है।

बहिन सत्यभामा, मेरी माँ ने मुझसे कहा था—तू दास-दासियो के भरोसे मत रहना । उनसे दुगुना-चौगुना काम स्वय करना । भोजन की सब तैयारी अपने हाथो से करना । घर मे कौन किस प्रकृति का है, किसे कैसे भोजन की आवश्यकता है, इस बात का ध्यान रखना । पति से पहले उनके पूजनीय पुरुषो को—अपने गुरुजनो को—सास-ससुर आदि को—भोजन कराना । फिर पति को भोजन कराना । उसके बाद दास-दासियो को भोजन करा कर, सब के अन्त मे आप भोजन करना ।

यह है—'किवा किच्चा ?' का अर्थ । द्रौपदी की माता ने द्रौपदी को उसके कृत्य की शिक्षा दी है । आज की अनेक बहिनें अपने कर्तव्य को भूलकर, पति-सेवा को तुच्छ समझकर, धर्म के नाम पर ढोग करती हैं ।

अगर आपका कोई मुनीम काम के समय सामायिक करने बैठ जाया करे तो आप उसे क्या कहेंगे ?

विश्वासघाती ।

क्यो ? क्या सामायिक करना बुरा है ? सामायिक करना धर्म है, फिर भी आप उसे बुरा कहेगे, क्योकि उसने अपने स्वामी के साथ विश्वासघात किया—काम करने से मुंह छिपाया ।

वह वीर क्षत्रिय था, बनिया नही था। वह वेले की जगह तेला करके सग्राम के लिए रथ पर सवार होकर चल दिया। वह वर्णनाग नतुवा आदर्श-श्रावक था। इसे कहते हैं—कर्तव्यपालन।

हाँ तो द्रौपदी की वात पर ध्यान दीजिये। द्रौपदी की माता ने द्रौपदी को सव को खिला कर स्वय खाने की शिक्षा दी है। द्रौपदी उस शिक्षा को अच्छी समझती है। वह सोचती है—माता का उपदेश है कि जो वहुतो को खिलाकर खाता है, वह अमृत खाता है। वह कभी भूखा नही रहता। वैष्णव लोग ठाकुर जी को नैवेद्य देकर खाते हैं। वे कहते हैं—हम ठाकुर जी का प्रसाद खाते हैं। इस प्रसाद मे दूसरो को भोजन कराकर भोजन करने मे कितना आनन्द है! ऐसे भोजन से शरीर मे कैसा अमृत फैलता है, सो वाणी द्वारा कहा नही जा सकता। गीता मे कहा है :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।

अर्थात्—यज्ञ से वचा हुआ अन्न खाने वाले सव पापो से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ यज्ञ का मतलव अग्नि मे घी की आहुति देना नही है। यज्ञ का अर्थ निष्काम कर्तव्य करना है। गीता फिर कहती है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। —गीता अ० ३

अर्थात्—जो पुरुष अपने ही पेट की पूर्ति करने के लिये अन्न पकाते हैं वे पाप-रूप भोजन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष कर्तव्य-कर्म को भूलकर सिर्फ अपने ही लिए पकाता है वह नरक खाता है। भाइयो, यह शब्द मेरे नही, गीता के हैं।

भोजन के विषय मे जैनशास्त्र क्या कहता है, इसे भी सुनिये—

असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठं पगडं इमं॥

—दशवैकालिक

इस गाथा की टीका मे लिखा है :—

ननु—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टाना पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्ते । तथाहि—न पितृकर्मा दिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्ववत् प्रवर्त्तन्ते शिष्टा इति । नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञात् । स्वभोग्यातिरिक्तस्य देवस्यैव पुण्यार्थकृतस्न निषेधात् ।

गाथा मे यह निषेध किया गया था कि जो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य भोजन पुण्य के लिए बनाया गया है, वह साधु के लिये ग्राह्य नही है । साधु को ऐसा आहार नही लेना चाहिये ।

इस निषेध के सम्बन्ध मे टीका मे शका और उसका समाधान किया गया है । शका यह है कि पुण्य के लिए बनाये हुए भोजन का साधु यदि त्याग कर दें तो शिष्ट कुलो मे साधु कभी भिक्षा ले ही नही सकेंगे, क्योकि श्रेष्ठ पुरुषो की पुण्य के लिए ही भोजन बनाने मे प्रवृत्ति होती है । श्रेष्ठ पुरुष पिता आदि की सेवा को छोडकर केवल अपने खाने के लिये ही, क्षुद्र पुरुषो की भाँति भोजन पकाने मे प्रवृत्त नही होते । इस शका का समाधान करने के लिये आचार्य कहते हैं—पुण्य के लिये बनाये हुए भोजन का त्याग करने का अभिप्राय तुमने ठीक नही समझा । उसका अभिप्राय यह है कि अपने खाने-पीने के सिवा, केवल पुण्य के लिये ही—दूसरो को पुण्यार्थ देने के उद्देश्य से ही जो भोजन बनाया गया हो वह भोजन नि को नही ग्रहण करना चाहिये । जिस भोजन मे से आप भी ाता हो उसके लेने का निषेध नही किया गया है ।

टीका के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कोई भी शिष्ट पुरुष सिर्फ अपने ही खाने के लिये भोजन नही पकाता और श्रावक भी शिष्टजनो के अन्तर्गत है। अतएव उसके सम्बन्ध मे भी यह कथन लागू होता है । इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध मे गीता और जैन-शास्त्र का अभिप्राय एक ही सिद्ध होता है ।

श्रावक अतिथिसविभाग करके भोजन करता है । सच्चा श्रावक आज के श्रावको की भाँति चटपट भोजन अपने पेट मे नही भर

लेता। वह भोजन करने से पहले सुपात्र को दान देता है। अगर सुपात्र का योग न मिले तो सुपात्र दान की भावना करता है।

एक बार मैं बीकानेर नगर मे गोचरी के लिये गया। मैं जिस घर मे गया उस घर मे एक बाई सोती थी। मैंने समझा—किसी कारण विशेष से सो रही होगी। मेरे जाने पर वह उठ बैठी थी। तब उसने पूछने पर बतलाया—महाराज! हमें और काम ही क्या है? खाना और सो जाना, यही तो दो प्रधान काम हैं। मैंने मन-ही-मन सोचा—यह श्राविका है या कौन है?

समझदार श्राविकाएँ भोजन के अनन्तर गृह-व्यवस्था की ओर ध्यान देती हैं। घर की व्यवस्था से समय मिलता है तो सुने हुये धर्मोपदेश पर विचार करती हैं, उसका मनन करती हैं। तदनन्तर सायकालीन भोजन के पश्चात ईश्वर प्रार्थना करके सास-ससुर और पति के सोने के बाद आप सोती हैं।

द्रौपदी का चरित्र जिसे विस्तार से देखना है उसे महाभारत मे देखना चाहिये। सीतादेवी का पतिव्रत कुछ कम नही है। उसका सतीत्व बडा ही जाज्वल्यमान है, पर द्रौपदी भी कुछ कम नही है। यह एक प्रखर नारी है, सीता सौम्यमूर्ति थी, वह शान्ति का अवतार थी, पर द्रौपदी भीष्मपितामह आदि महापुरुषो के सामने भाषण देने वाली थी। वह वीरागना काम पडने पर युद्ध-शिक्षा देने से भी नही चूकी थी।

पति को प्रसन्न करने की जो विधि बताई है, उसी विधि से ईश्वर को भी प्रसन्न किया जा सकता है। पर यहां एक बात विशेष है। कोई महिला कुचाल चलते हुये भी पतिव्रता बनने का ढोंग कर सकती है और अपने पति की आँखो मे धूल झोंक देती है, पर यह चालाकी ईश्वर के सामने नही चल सकती। पति हृदय की बात नही जानता मगर ईश्वर मनुष्य के हृदय की भी जानता है। वह सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। अगर कोई ईश्वर को धोखा देने की चेष्टा

करता है तो वह आप ही धोखे का शिकार होता है ।

ज्ञानी जनो ने कहा है—तलवार की धार पर नाचना सरल है पर कर्त्तव्य–पथ पर चलना कही कठिन है । हाँ, इसमे तनिक भी सन्देह नही कि जो कर्तव्य-पथ पर चलता है, ईश्वर से उसकी भेट शीघ्र हो जाती है ।

कर्तव्य-कर्म की व्याख्या इतनी विस्तृत है कि पूर्ण रूप मे उसका दिग्दर्शन यहाँ नही कराया जा सकता । तथापि यहाँ उसके सम्बन्ध मे जो विवेचन किया गया है वह मार्ग-दर्शक हो सकता है ।

गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछ रहे हैं—प्रभो ! सुवाहुकुमार किस कारण से जगत-वल्लभ हो गया ? किस कारण वह ससार का श्रेष्ठ पुरुष माना गया ? भगवन्, दान से भी उच्च वन सकता है, भक्ष्याभक्ष्य के विवेक से अर्थात्—अभक्ष्य का त्यागकर भक्ष्य मे सन्तोष धारण करने से भी उच्च वन सकता है तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को समझकर कर्तव्य का आचरण करने से भी महान वन सकता है। सुवाहुकुमार इन कारणो मे से किस कारण से महान वन सका है ? क्या यह दान देने से महान् वना ? या शुद्ध अन्न खाने से वड़ा वना ? या कृत्याकृत्य का विवेक प्राप्त कर कृत्य के अनुष्ठान से उत्तम वना ? इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे ऊपर व्याख्या की जा चुकी है ।



११ : किंवा समायरित्ता ?

गोतमस्वामी का अगला प्रश्न है—'किंवा समायरित्ता ?' अर्थात् सुबाहुकुमार ने किस शील का आचरण किया है ? आजकल शील का अर्थ प्राय' संकुचित किया जाता है। स्त्री-संसर्ग का त्याग ही शील अर्थ सर्वसाधारण मे प्रचलित हो गया है। मगर शील शब्द मे बहुत व्यापक अर्थ अन्तर्हित है। यद्यपि स्त्री-संसर्ग का त्याग भी शील के ही अन्तर्गत है, मगर सिर्फ इसी अर्थ मे शील शब्द की समाप्ति नही है।

जब कोई मनुष्य किसी मन्त्र को सीखता है तो उसे बडी सावधानी रखनी पडती है। वह उसी ओर ध्यान लगाये रहता है। शील महामन्त्र है। मैं चाहता हूँ, उसे सीखने के लिए आप सावधान हो जाएँ। कोई मनुष्य आकाशगामिनी विद्या सीखता है, कोई तांबे को सोना बनाने का मन्त्र सीखता है, कोई विषैले जानवरो के विष को उतारने का मंत्र सीखता है, क्या शील का मन्त्र इनसे छोटा है ? नही। जिस मन्त्र से सुबाहुकुमार समस्त विश्व का महान् पुरुष बन गया, वह मन्त्र क्या छोटा हो सकता है ? इस मन्त्र से तो अर्हन्त भी बना जा सकता है, फिर यह छोटा कैसे ? शील मन्त्र की बदौलत मनुष्य आकाशगामी ही नही बनता वरन लोकाकाश के अग्रभाग पर सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। शील मन्त्र के प्रभाव से तांबा सोना ही नही बन जाता वरन नरक का जीव भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्विकार परमात्मा बन सकता है। शील मन्त्र से जानवरो के विष का अपहरण ही नही होता वरन् समस्त विकार-विष नष्ट हो जाता है। ऐसा है शील-महामन्त्र का प्रभाव !

जो भद्र पुरुष शील-मन्त्र को भली-भाँति सीख लेगा, जो इस मत्र की आराधना करेगा उसे अद्‌भुत आनन्द की प्राप्ति होगी। उसके हृदय मे अपूर्व जागृति आ जायगी।

शील क्या है ? बुरे कामो मे निवृत्त होना और अच्छे कामो मे प्रवृत्त होना शील कहलाता है। यह शील की सामान्य व्याख्या है। इस व्याख्या से यह प्रश्न स्वत उत्पन्न हो जाता है कि बुरा क्या है और अच्छा क्या है ? ससार के समस्त शास्त्रो का सार अच्छे और बुरे की व्याख्या मे ही आ जाता है। समय इतना नही है कि इसकी विस्तृत व्याख्या की जाय। फिर भी शील का रहस्य समझाने के लिए सक्षेप मे व्याख्या करना आवश्यक है। पाँच बातें बुरी हैं। उनका त्याग करके उनसे विपरीत पाँच बातो मे प्रवृत्ति करना शील का स्वरूप है। पाँच बुरी बातें यह हैं—(१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) परस्त्री-गमन और (५) शराब पीना। इन पाँच बातो का त्याग करना चाहिये। पाँच अच्छी बातें हैं—(१) दया (२) सत्य (३) प्रमाणिकता अर्थात् अन्याय की वस्तु की अपेक्षा न करना (४) परस्त्री को माता बहिन समझना और (५) नशे की किसी भी चीज का उपयोग न करना अर्थात् ऐसी वस्तुओ का खान-पान मे उपयोग करना जिनसे सत्य गुण की वृद्धि हो।

परस्त्री से परहेज करना और स्वस्त्री-सेवन की मर्यादा करना ही शील है, ऐसा जो अर्थ समझते हैं वे शील का एकागी अर्थ समझते हैं। जिसके हाथ मे एक ही उँगली हो वह मुट्ठी नही बाँध सकता। इसी प्रकार जो पूर्वोक्त पाँच बातो का त्याग और उनसे विपरीत पाँचो का ग्रहण नही करता वह शीलजन्य परम कल्याण का पात्र नही ब सकता। एक उदाहरण और लीजिये। मान लीजिये, एक आदमी प लिखने बैठा। उसे स्वरो का ज्ञान तो है पर व्यजन उसे नही आते या यो कहिये कि व्यजन तो आते हैं पर स्वर नही आते। ऐसी स्थि मे वह क्या पूरी चिट्ठी लिख सकेगा। जैसे स्वर और व्यजन मे

किसी एक के अभाव से भाषा पूरी नही वनती, उसी प्रकार केवल परस्त्री-त्याग और स्वस्त्री-सतोष से शील की व्याख्या पूर्ण नही होती। शील की पूर्णता के लिए उक्त पाँचो की निवृत्ति और पाँचो मे प्रवृत्ति होना आवश्यक है।

ऊपर जिन पाँच वातो को त्याज्य वतलाया गया है उनमे हिंसा का नाम सबसे पहले आया है। आज हिंसा का अर्थ समझने मे बडी गड-वडी मची हुई है। सूक्ष्म हिंसा से बचने के भ्रम मे पडकर बडी-बडी स्थूल हिंसाएँ की जा रही हैं और इस ओर किसी का ध्यान ही नही जाता।

एक आदमी गगा के किनारे खडा रो रहा था। वह इतने जोर से रो रहा था कि राहगीरो को भी उस पर दया आ जाती थी। किसी राहगीर ने उससे पूछा—भाई, रोते क्यो हो ? तुम्हे क्या कष्ट है ?

रोने वाला रोते-रोते बोला—मुझे जोर की प्यास लगी है।

राहगीर—तो रोने से मतलव ? सामने गगा बह रही है। निर्मल जल है। शीतल है, मधुर है। पी ले। प्यास बुझा ले।

रोने वाले ने कहा—हाय ! गङ्गा-जल पीऊँ कैसे ? गगा की की धारा इतनी चौडी है और मेरा मुंह जरा-सा है। यह धारा मुंह मे समाएगी कैसे ?

राहगीर का करुणा-रस हास्य-रस मे परिवर्तित हो गया। उसने हँसते हुए कहा—मूर्खराज, तुझे अपनी प्यास मिटाने से मतलब है या गगा की धारा मुंह मे भरने से ? अगर तू इसी विचार में डूबा रहेगा तो प्यास के मारे प्राण खो बैठेगा। न गगा की धारा इतनी छोटी होगी कि तेरे मुंह मे समा जाय, न तेरा मुंह इतना वडा होगा कि वह उसे अपने भीतर घुसेड सके।

तात्पर्य यह है कि आजकल अनेक लोग तो हिंसा की व्यापकता को देखकर उससे जरा भी निवृत्त होने की चेष्ठा नही करते और कुछ लोग सूक्ष्म हिंसा को अपनी जवावदेही समझते है। ऐसे लोग न स्थूल हिंसा से वच पाते हैं, न सूक्ष्म हिंसा से ही। वे न इधर

के रहते है, न उधर के रहते हैं ।

जो लोग गृहस्थी मे रहना चाहते हैं, गृहस्थी का उत्तरदायित्व सिर पर ओढे हुए हैं, मगर साधु की क्रिया का पालन करना चाहते हैं, वे एक साथ दो घोडो पर सवार होने के समान हास्यास्पद चेष्टा करते हैं। गृहस्थ को अग्नि से काम पडता है, पानी का व्यवहार करना पडता है, मिट्टी का उपयोग करना पडता है । जैन शास्त्र ने इन सब मे जीवो का अस्तित्व स्वीकार किया है । ऐसी दशा मे वह गृहस्थ हिंसा से कैसे बच सकते हैं ? हिंसा-अहिंसा का मर्म न जानने के कारण आज सूक्ष्म हिंसा के बदले स्थूल हिंसा की प्रचुरता हो गई है। यह दोष शास्त्र का नही, उसे न समझने वाली बुद्धि का है।

गृहस्थ को पहले स्थूल हिंसा से बचने का प्रयत्न करना चाहिए । स्थूल हिंसा से मेरा मतलब उस हिंसा से है जिसके करने से जगत मे मनुष्य हिंसक कहलाता है, जिसके लिए राजा दण्ड देता है, जिसका कानून निषेध करता है और जिसे शास्त्र मे श्रावक के लिए त्याज्य ठहराया गया है ।

मैंने स्थूल हिंसा की जो व्याख्या की है उसका अभिप्राय आप समझ गये होगे । इसीलिए मैं पूछता हूँ—किसी गृहस्थ के घर मे चोर घुस जाय अथवा कोई दुष्ट पुरुष स्त्री की लज्जा का हरण करे और उस दुष्ट मनुष्य को ऐसा न करने देने के प्रयास मे उसके प्राण चले जाएँ तो क्या राजा मरने वाले को हिंसा का अपराधी ठहरायेगा ? कोई उसे हिंसक कहेगा ? पापी कहेगा ? नही । व्यवहार मे ऐसा पुरुष बहादुर कहलाता है, वीर कहलाता है । ऐसी हिंसा शास्त्र मे सापराध की हिंसा कहलाती है । जो पुरुष ऐसी हिंसा से बचना चाहता है वह गृहस्थ कहलाने योग्य नही है । उसे पडिमा धारण करके, ससार के सब झझट त्यागकर जगल का रास्ता लेना चाहिए। फर्ज कीजिये कोई राजा श्रावक है। उसके देश पर दूसरा राजा चढाई करने आया । अब उस श्रावक राजा का क्या कर्तव्य होगा ? देश

की रक्षा के लिए आक्रमणकारी का अस्त्र-शस्त्र से सामना करेगा या घर मे छिपकर बैठा रहेगा ? जो राजा संग्राम से डरेगा उसे लोग कायर और क्रूर कहेगे । यदि उस राजा को वैराग्य हो तो उसे राजपाट छोड देना चहिए । राजकाज और वैराग्य, दोनो साथ-साथ नही चल सकते । शास्त्रकार ऐसी हिंसा का श्रावक के लिए निषेध नही करते ।

आज दस लखपती कहलाने वाले श्रावको मे इतनी हिम्मत नही है कि अपने साथ रही हुई एक स्त्री के ऊपर कोई हमला करे तो उसे वचा लें । वे अपने प्राणो के भय से उस स्त्री को छोडकर भाग जाएँगे । क्या यही सच्चे श्रावक का लक्षण है ?

कई लोग कहेगे—वे अहिंसा के उपासक हैं, इसलिए भाग जाएँगे । मगर यह सव झूठी बात है—लीपापोती है । मैं कहूँगा—उनमे वीरता नही थी, इसलिए वे भागे । आप याद रखिये, इस प्रकार की अहिंसा कायरता है । अहिंसा कायरो के लिए नही है । अहिंसा वीरो का भूषण है । जो गृहस्थ अपनी वेटी का वाप वनना चाहता है, पुत्र का पिता वनना चाहता है और स्त्री का पति वनना चाहता है, मगर उन पर आपत्ति आने के समय भाग छूटता है, वह वेटी का बाप नही है, पुत्र का पिता नही है और वहिन का भाई नही है । स्त्री का पति भी नही है । वह डरपोक है । जैनशास्त्रो ने ऐसे समय मे भागना वताया होता तो तीर्थङ्करो के समय मे राजा लोग जैनधर्म को स्वीकार ही कैसे करते ?

चेडा राजा के घर, उसका एक दौहित्र हार और हाथी लेकर आया । मगधपति कोणिक ने कहलाया—हार और हाथी वापस भेजो अन्यथा युद्ध करना होगा । राजा चेडा ने सोचा—मेरे शरण मे आया हुआ न्याय-पथ पर है । मुझे इसी का साथ देना चाहिये । कोणिक अन्याय-पथ पर है, क्योंकि इसे इसके हिस्से का राज्य नही देता । राजा चेडा को यह भी विचार आया कि कोणिक के साथ

दस राजा और भी हैं । मैं अकेला हूँ । कैसे उनका सामना करूँगा ?

मगर चेडा के पक्ष मे न्याय था, सत्य था । सत्य के सामने ससार की समस्त शक्तियाँ परास्त हो जाती हैं । सत्य के प्रचण्ड बल के सामने शस्त्रास्त्रो का बल नाचीज है । यह विचार कर चेडा ने इस बात की तनिक भी चिन्ता न की । वह सत्य का सहारा लेकर अपनी बात पर अडा रहा ।

चेडा राजा शरणागत का नाना था । आप ख्याल कर सकते हैं—चेडा ने नाना होने के कारण ही शरणागत का साथ दिया । मगर बात ऐसी नही है । नौ लच्छी (लिच्छिवि-वशीय राजा) और नौ मल्ली (राजवश-विशेष) तो शरणागत के कुछ नही लगते थे । वे श्रावक थे । उन्होने इसका साथ क्यो दिया ? इसीलिए कि वे वीर थे । उन्होने अन्याय देखना सहन नही किया । वे सत्य के पक्षपाती थे ।

भाइयो, जिन दिनो ऐसे वीर श्रावक होते थे उन्ही दिनो जैनधर्म की जाहोजलाली थी । आज के धनवान तो अपनी धोती भी नही सम्भाल सकते । धोती न सम्भाल सकने का मतलब है—अपनी लाज नही सम्भाल सकते, अपने गौरव की रक्षा नही कर सकते ।

आखिर कोणिक और चेडा का युद्ध हुआ । युद्ध मे कोणिक के छक्के छूट गये । तब इन्द्र उसकी सहायता के लिये आया । जिस युद्ध मे साक्षात इन्द्र भाग लेता है, वह कितना भयानक युद्ध होगा ? इन्द्र के विरुद्ध लडने वाले श्रावको के धैर्य का, उनकी वीरता का और उनके पराक्रम का जिह्वा कैसे वर्णन कर सकती है ?

क्या सग्राम करना पाप नही है ? है । पर इस युद्ध का दायित्व कोणिक के सिर पर आता है, क्योकि हिंसा की प्रवृत्ति करने वाला कोणिक है । चेडा का उद्देश्य अन्याय का प्रतिकार करना है । अस्तु इस दृष्टान्त से यह विदित हो जाता है कि गृहस्थ आवश्यकता पडने पर— न्याय धर्म एव सत्य की रक्षा के लिये अपने

कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करने के लिये सापराधी हिंसा काम लेता है । वह केवल निरपराधी जीवो की हिंसा का त्याग होता है । इस प्रकार की अहिंसा शील का प्रथम रूप है ।

शील का दूसरा रूप है—असत्य का त्याग । कई भाइयो क कहना है, झूठ बोले विना व्यापार नही चलता । मगर विचार करने पर मालूम होगा कि यह कल्पना मिथ्या है । सत्य इतना व्यापक है कि क्या धार्मिक क्षेत्र मे और क्या व्यापारिक क्षेत्र मे सर्वत्र लाभदायक है । जो व्यापार मे सत्य का प्रयोग करके देखेगा उसे सत्य की सफलता देखकर चकित रह जाना पडेगा । हृदय की पामरता के कारण ही असत्यमय विचार होते हैं । इन तुच्छ विचारो के कारण आज भारतीय व्यापार की वह प्रतिष्ठा नही रह गई है, जो प्राचीन काल मे थी । व्यापारियो मे आज जो अप्रामाणिकता की प्रचुरता दिखाई देती है, उसने उन्हें अविश्वसनीय बना दिया है । भारत की बनी हुई वस्तु लोग उस विश्वास के साथ नही खरीदते, जो विश्वास विदेशी वस्तु के सम्बन्ध मे पाया जाता है । इसका कारण व्यापारियो का असत्य है । इस असत्य का त्याग करके व्यापारी देश का मस्तक ऊँचा उठा सकते हैं । इससे उन्हे भी अधिक प्रतिष्ठा और सफलता मिल सकती है ।

सत्य जिसके जीवन मे ओतप्रोत हो जाएगा, उसका आचरण धर्म-स्थान मे और दुकान मे परस्पर विरोधी नही हो सकता । वह सदा सत्य के ही दर्पण मे अपने कर्तव्य को देखेगा और सत्य का ही अनुसरण करेगा । वह असत्य की परछाई भी अपने ऊपर नही पड़ने देगा ।

शील का तीसरा रूप है—चोरी का त्याग करना । किसी की चीज चुरा लेना ही केवल चोरी नही है, वरन् अमर्यादा-रूप से व्यवहार करना भी चोरी है ।

आज एक रुपये की चोरी करने वाले पर मुकदमा चलाया

जाता है। पुलिस के अधिकारी और सरकारी वकील, न्यायाधीश के सामने जाते है और चोरी करने वाले को दड दिलवाते हैं। न्यायाधीश अपना निर्णय लिखकर सुनाता है—एक रुपये की चोरी के अपराध मे अमुक सजा दी जाती है। मगर दूसरी ओर वही न्यायाधीश और पुलिस का अधिकारी कहलाने वाला व्यक्ति रिश्वत खाता है, हजारो की थैली घूंस मे डकार जाता है। क्या यह चोरी नही है? मगर इसका कोई विचार नही करता। पुलिस का काम है—जनता के जान-माल की रक्षा करना, मगर आज उसकी बदौलत कैसी रक्षा हो रही है सो कहने की आवश्यकता नही। अपने सिर पर लिये हुए कर्तव्य का पालन न करना भी एक प्रकार की चोरी है। दुनिया के तमाम अन्याय और नीति के विरुद्ध की जाने वाली खीचा-तानी चोरी के विभिन्न रूप हैं।

एक वकील साहब की पत्नी बडी सुशील और धर्मभीरु थी। एक दिन वकील भोजन करने बैठे और उसी समय एक सेठ आया। सेठ को वकील ने एक मुकदमे मे जिताया था। उसने आते ही वकील साहब के सामने पचास हजार के नोट रख दिये। वकील समझ तो गये मगर अपनी पत्नी के आगे रौब जमाने के लिये पूछने लगे—यह नोट किस बात के हैं?

सेठ ने कहा—वकील साहब, मुकदमे मे मेरा पक्ष सरासर झूठा था। जिसे मुझे देना था, उससे आपने मुझे उल्टा दिलवाया है। मुझे आपके बुद्धि-कौशल के प्रताप से लाखो की सम्पत्ति मिली है। उसी के उपलक्ष्य मे यह तुच्छ भेंट आपकी सेवा मे उपस्थित की गई है।

वकील के हर्ष का पार न रहा। अपनी बुद्धि के अभिमान मे फूला न समाया। सोचा—कैसी प्रखर बुद्धि है मेरी! मैं सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा प्रमाणित कर सकता हूँ।

वकील ने अभिमान भरी आँखो से अपनी पत्नी की ओर दे

तो उसके आश्चर्य का पार न रहा। पत्नी की आँखो मे अश्रुधारा का प्रवाह फूट रहा था। वकील साहब ने पूछा—हँसने के समय यह रोना कैसा ? तुम रो क्यो रही हो ?

पत्नी ने कहा—इसमे खुशी की क्या बात है ? क्या आप इसी प्रकार के अन्याय की रोटी हमे खिलाते है ? क्या इसी कमाई से यह जेवर बनवाये गये हैं ? क्या मेरी प्राणप्यारी सन्तान के उदर मे यही अन्याय का अन्न गया है ? मुझे इस सुख-विलास की आवश्यकता नही है। मुझे आभूषणो की परवाह नही है। मैं भूखी रहना पसन्द करूंगी, नगी रहना कबूल करूँगी, मगर अन्याय के धन से दूर रहूँगी। ससार मे कोई अजर-अमर होकर नही आया। एक दिन सब छोड-छाडकर जाना होगा। फिर पैसे के लिये ऐसे पाप क्यो ? आप अपनी प्रखर बुद्धि का झूठे को सच्चा बनाने मे उपयोग करते हैं, यह कल्पना ही मेरे लिए असह्य है। फिर यह तो सचाई बन गई है। इसे मैं किस प्रकार सहन करूँ ?

वकील साहब ने अपनी पत्नी की बातें सुनी तो उनकी अक्ल ठिकाने आ गई।

बहिनो को चाहिए कि वे इस वकील-पत्नी का अनुकरण करें। पति अन्याय से धन उपार्जन करता हो तो नम्रता से, मगर दृढता-पूर्वक प्रार्थना करो—हमे अधिक आभूषणो की आवश्यकता नही है। हम विषय-विलास पसन्द नही करती। आप घर मे अन्याय की दमडी भी न लाइए। बहिनो, अगर तुम इस नीति को अपनाओगी तो इस लोक मे और परलोक मे तुम्हारा और साथ ही तुम्हारे पति का भी कल्याण होगा। इससे तुम पति के प्रति भी अपना कर्त्तव्य पालन करोगी।

अब शील के चौथे रूप पर विचार कीजिये। इस विषय मे मनुष्य समाज मे जैसी पोल नजर आती है, वैसी दूसरी जगह शायद ही मिले। जो बात पशुओ मे भी नजर नहीं आती वह श्रावक

कहलाने वालो मे देखी जा रही है । आज जो लोग परस्त्री का त्याग करते हैं वे भी स्वस्त्री के विषय मे अपने आपको एकदम निरकुश समझते हैं । जरा मेरी बात पर ध्यान दीजिये । जो पराये घर की जूठन त्यागकर अपने घर मर्यादा से अधिक भोजन करता है उसे क्या अजीर्ण नही होता ? क्या वह रोग से इसीलिए बच जायगा कि उसने घर का ही भोजन किया है ? नही भाइयो, चाहे पराये घर की जूठन आपने त्याग दी है, फिर भी यदि अपने घर पर खाने की मर्यादा नही रखोगे तो याद रखना—शरीर का शीघ्र नष्ट होना नही रुकेगा ।

श्रावक के लिये परस्त्री त्याग जैसे आवश्यक है, उसी प्रकार स्वस्त्री-सन्तोष भी आवश्यक है । प्राचीन काल मे बिना पूर्ण वयस्क हुए कोई ससार कृत्य नही करता था । परन्तु आज आठ-आठ, दस-दस वर्ष के छोकरा-छोकरी इस काम मे लग जाते हैं । जो अज्ञानी माता-पिता इस उम्र मे उनका लग्न कर देते हैं, क्या वह कायदे के मुताबिक कहा जायगा ? बडे-बडे नामधारी श्रावक सूक्ष्म हिंसा की ओर ध्यान देते हैं पर इस कृत्य से होने वाली भयकर हिंसा उनके ध्यान मे ही नही आती । धनवानो ने यह विनाशकारिणी प्रथा चलाकर भोली जनता के सामने एक अत्यन्त नीच आदर्श खडा किया है। यों तो यह प्रथा साधारणतया भारत भर मे प्रचलित है मगर मारवाड मे इसका प्रचलन अत्यधिक मात्रा मे पाया जाता है ।

लग्न के प्रकरण मे शास्त्र मे 'सरिसवया' पाठ आता है । इसका तात्पर्य है—सदृश वय वाले अर्थात् लग्न-क्रिया के योग्य उम्र दोनों की होनी चाहिए । विवाह के पश्चात् जो स्त्री 'धम्मसहाया' समझी जाती थी अर्थात् गृहस्थ-धर्म का पालन करने मे सहायक मानी जाती थी, आज वही धर्मपत्नी भोग की सामग्री गिनी जाती है । पुरुषों के लिये यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि वे तीसो दिन स्त्री के साथ नीच आचरण करते हैं। जो वस्तु सजीवनी जडी

से भी बहुत अधिक मूल्यवान है उसे इस प्रकार नष्ट करना मूर्खता की पराकाष्ठा है। क्या अमृत से पैर धोने वाला बुद्धिमान कहला सकता है ? जिस चीज से तीर्थङ्करों के पावन शरीर का निर्माण हुआ, जिससे बडे-बडे राजा-महाराजा बनें, उस चीज को पानी की तरह वृथा वहा देना मूर्खता नही तो क्या है ? जो लोग अल्प-वयस्क बालक-बालिकाओ को विवाह-सम्बन्ध मे गूंथ देते हैं वे ससार को कोल्हू में पेर रहे हैं।

गाय, भैंस, कुत्ता आदि पशु कहलाने वाले प्राणी बिना समय के ससार-कृत्य नही करते, पर हाय रे मनुष्य कहलाने वाले प्राणी ! तू आँखें मींचकर कामभोग के लिये ऐसे पिल पडता है मानो विषयभोग के लिये ही तेरा जन्म हुआ है।

जो भाई-बहिन अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करेंगे, वे संसार को अनमोल रत्न प्रदान करने मे समर्थ हो सकेंगे। हनुमानजी का नाम कौन नही जानता ? आलकारिक भाषा मे कहा जाता है कि उन्होने लक्ष्मणजी के लिये द्रोण पर्वत उठाया था। उसी पर्वत का एक टुकड़ा गिर पडा, जो गोवर्धन पर्वत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अल-कार का आवरण दूर कर दीजिये और विचार कीजिये तो इस कथन मे हनुमानजी की प्रचण्ड शक्ति का दिग्दर्शन आप पायेंगे। हनुमानजी मे इतनी शक्ति कहाँ से आई ? यह महारानी अजना और महाराज पवन के बाईस वर्ष पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना का प्रताप था। उनके ब्रह्मचर्य-पालन से ससार को एक ऐसा उप-हार, ऐसा वरदान मिला जो न केवल अपने समय मे ही अद्वितीय था; वरन् आज तक भी वह अद्वितीय समझा जाता है और शक्ति-साधना के लिये उसकी पूजा की जाती है।

बहिनो ! अगर तुम्हारी हनुमान सरीखा शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने की साध है तो अपने पति को कामुक बनाने वाले साज-सिंगार और हाव-भाव त्यागकर स्वयं ब्रह्मचर्य की साधना करो और पति

ब्रह्मचर्य-पालन करने दो ।

शील के पाँचवें रूप का—मदिरा आदि नशीले पदार्थों के त्याग विवेचन पहले किया जा चुका है । अतएव यहाँ उसे दोहराने की ावश्यकता नही है ।

१२ : किंवा सुच्चा ?

गौतमस्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं कि सुबाहुकुमार ने यह जो अनुपम कीर्ति प्राप्त की है, उसका कारण क्या है ? क्या यह दान देने का प्रताप है या किंवा भुच्चा का प्रताप है ? यह 'किंवा किच्चा' का फल है या 'किंवा समायरित्ता' का फल है ? इसके साथ ही श्री गौतम पूछते हैं—अथवा 'किंवा सुच्चा' का प्रताप है ? अर्थात् सुबाहुकुमार ने कौन से कल्याणकारी वचन सुनकर यह कीर्ति प्राप्त की है ? सुबाहुकुमार ने यह श्रेष्ठता कैसे प्राप्त की है ?

सामायिक आदि धर्म-क्रिया घर पर भी की जा सकती है। फिर श्रावक यहाँ—साधुओ के पास, उपाश्रय मे, क्यो आते हैं ? इसका प्रयोजन यही है कि यहाँ भगवान की वाणी सुनने का अवसर मिलता है। स्मरण रखना चाहिये कि वचन मे अपूर्व शक्ति है। कहा भी है—

एक वचन श्री सद्गुरु केरा, जो बसे ते दिल मांहि रे प्राणी।
नरक निगोद में ते नहिं जावे, इम कहियो जिनराय रे प्राणी॥
साधुजी ने वन्दना नित-नित कीजे।
प्रभाते उठी ने सुन साधांरा वखान,
ज्यां पुरुषांरी अनन्त पुण्याई पमपे अमर विमान रे प्राणी॥

इस पद मे मुनि-वचन की बडी महत्ता बतलाई गई है। जब मुनि के वचन के प्रताप से सुबाहुकुमार बन सकता है, तो आप सरलता से समझ सकते हैं कि शास्त्र-श्रवण मे कितनी अधिक शक्ति होनी चाहिये ?

हीरे की अंगूठी पहनने वाले एक आदमी को उसकी कीमत का पता नही है । उसके पूर्वज वंशपरम्परा से अंगूठी पहनते आते है, इसलिये वह भी पहनता है। वंशपरम्परागत होने से उस अंगूठी के प्रति उसका आदरभाव है। ऐसी स्थिति मे अगर एक जौहरी अंगूठी का मूल्य सवा लाख रुपया बतला दे तो पहनने वाले को कितना आनन्द होगा ? इसी प्रकार आप अपनी वंशपरम्परा से धर्म-ध्यान करते चले आते हैं, अतएव आपको धर्म-ध्यान के प्रति हार्दिक रुचि है । मगर जब आप भगवान के वचन ध्यान-पूर्वक सुनेंगे तो हृदय निराले आनन्द से परिपूर्ण हो जायगा ।

एक आदमी को फांसी की सजा मिली। नियत दिन पर फांसी के तख्ते पर ले जाते समय रास्ते मे वकील का घर आया । अगर वकील उस दण्डनीय व्यक्ति से कहे कि मेरी बात सुनो । मैं तुम्हे एक बात ऐसी बतलाये देता हूं कि फांसी के तख्ते पर लटकते समय अगर तुम वह बात कह दोगे तो फांसी से मुक्त हो जाओगे। इस स्थिति मे वह वकील की बात कितने ध्यान से सुनेगा ? वह समझेगा—मानो साक्षात् ईश्वर ही मिल गया है । आप इस स्थिति मे उसकी ठीक-ठीक कल्पना नही कर सकते । जिस पर आकर पड़ती है वही उसकी वास्तविकता समझ सकता है। मगर यहाँ तो यह समझना है कि एक जन्म की फांसी से छुडाने वाले वचन जब इतनी उत्कंठा से सुने जाते है तब जिन वचनो से अनेक जन्मो की-सदा की—फाँसी कट जाती है, उन वचनो के श्रवण मे कितनी तत्परता, कितनी उत्कण्ठा और कितना मनोयोग होना चाहिये ?

धर्म-गुरु के मुखारविन्द से धर्म-वचन सुनने का अद्भुत असर होता है। इसका कारण यह है कि धर्म-गुरु की आत्मा धर्म के रंग मे रंगी होती है। उसके वचन मे आत्मा की अलौकिक शक्ति इस भाँति मिली रहती है, जैसे तिलो मे तेल । जिन शब्दो मे आत्मा का बल नही होता वह प्रभावहीन होते हैं और कानो तक ही पहुंच-

कर विलीन हो जाते है। आत्मा तक उनकी पहुँच नही होती। यही कारण है कि सामान्य आदमी जव बोलता है तव उसका प्रभाव कुछ भी नही जान पडता और वही शब्द जब किसी धर्मनिष्ठ महात्मा के मुख से निकलते हैं तो अन्तरग को स्पर्श करते है, हृदय को हिला देते हैं और चेतना को रस मे डुबा देते हैं।

आपने हाथी का दात देखा होगा। हाथी का दात जब हाथी के पास होता है, तो वह उससे नगर के मजबूत-से-मजबूत किवाड तोड फैकता है। पर जब वही दात खैरादी के यहाँ पहुँचकर, चूडा का रूप धारण कर महिलाओ की शोभा बढाने लगता है, तब उसमे वह प्रचड शक्ति नही रहती। यही हाल वचन का है। धर्म-गुरु के वचन उस दात के समान हैं जो हाथी के पास होता है और साधारण लोगो के वचन चूडा का रूप धारण किये हुए दात के समान हैं। उनमे वह सामर्थ्य नही, पराक्रम नही। वह शोभावर्धक भले ही हो पर प्रभावशाली नही होते। इसी प्रकार केवल भेषधारी साधु के वचनो मे भी वह शक्ति न होगी, जो ध्यानी, ज्ञानी, मौनी और योगी मुनि के वचन मे होगी।

प्रश्न यह चल रहा है कि सुवाहुकुमार ने किस धर्म का बीज बोया है, जिससे उसे इस फल की प्राप्ति हुई है ? यह निर्विवाद है कि जैसा वीज वोया जायगा, वैसा ही फल लगेगा। नीम के वीज से नीम का फल मिलेगा और आम वोने से आम मिलेंगे। वीज और वृक्ष भले ही अलग-अलग दिखाई दें पर वास्तव मे वह एक हैं। वृक्ष, वीज पर और वीज, वृक्ष पर अवलवित है।

यह याद रखना चाहिए कि क्या दान देने मे, क्या खाने मे, क्या अन्य सुकृत्य करने मे, एक ही वीज काम कर रहा है। वह वीज है—शुभ-भावना। शुभ-भावना रूपी वीज से ही इनमे मधुर फल लगते है। जो दान शुभ-भावना के विना दिया जाता है, जो सुकृत लोक-लज्जा से प्रेरित होकर ही किया जाता है, वह दिखावा

है, वचना है। उसका परिणाम वैसा अच्छा नही मिलता। जो व्यक्ति शील की महिमा को स्वीकार नही करता, शील के प्रति शुभ-भावना भी नही रखता, फिर भी मजबूर होकर या लोक-दिखावे के लिए ही शील पालता है वह बगुला-भक्ति करता है। चित्त की शुद्धि असली चीज है। जिसका चित्त मलीन है, जिसके चित्त मे दुर्वासनाएँ ताण्डव-नृत्य करती रहती है, उसके दिखावे से लोग भ्रम मे पड सकते है, पर उसकी आत्म-शुद्धि नही हो सकती।

किसी माली ने बगाल मे या विलायत मे, किसी बगीचे मे खेती की। आपको नही मालूम कि खेती कहाँ की गई है। फिर भी जब फलो की टोकरी आपके सामने आयेगी तो प्रश्न उठेगा ही कि कही-न-कही खेती जरूर की गई होगी। विना फलो की खेती किये फल आकाश से तो टपक नही सकते थे। भाइयो! मनुष्य पुण्य-पाप कही करता है और फल कही पाता है। कौन जानता है कि यहाँ बैठा मनुष्य जो सुकृत कर रहा है उससे दुनिया को कहाँ सुख मिल रहा है? और यहाँ जो पाप किया जा रहा है उसका फल दुनिया को कहाँ पहुँच रहा है? सुवाहुकुमार ने बीज कहाँ लगाया था और फल कहाँ मिल रहा है? इस सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है—

अहो ण भन्ते! सुबाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, कन्ते, कन्तरूवे, पिये, पियरूवे, मणुन्ने, मणुन्नरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सोमरूवे सुभगे, सुभगरूवे, पियदसणे, सुरूवे। बहुजणस्स वि य ण भते सुवाहुकुमारे इट्ठे सोमे, साहुजणस्स वि य ण भते सुवाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे जाव सुरूवे। सुवाहुणा भते! कुमारेणा इमा एयारूवा उराला माणुस्सरिद्धी किन्ना लद्धा? किन्ना पत्ता? किन्ना अभिसमन्नागया? के वा एस आसी पुव्वभवे?

भाइयो! गौतमस्वामी ने भगवान महावीर से सुवाहुकुमार के सम्बन्ध मे जो प्रश्न पूछे है, उनके रहस्य को सोचिये। उनमे

क्या तत्त्व निहित है ? सुबाहुकुमार ने किस कारण जगत्वल्लभता प्राप्त की है ? किस कारण से उसे मनुष्य की ऋद्धि उत्तम मिली है ? गौतम स्वामी ने प्रश्न को इतना लम्बा करके क्यो पूछा है ? इसलिए कि जगत सुबाहु सम्बन्धी प्रश्न को अपना ही प्रश्न समझे और आप स्वय सुबाहु बनने का प्रयत्न करे ।

'किवा दच्चा', 'किवा भुच्चा', आदि प्रश्न को लम्बा करने का उद्देश्य भी यही था कि अच्छा दान देने से भी उच्चता प्राप्त हो सकती है, अच्छा अर्थात् शास्त्रोक्त सात्विक भोजन करने से भी उच्चता प्राप्त हो सकती है । अगर इस प्रकार उच्चता न मिल सकी तो सुकृत्य या शील का आचरण करके और मुनि-वचन सुनकर उच्चता प्राप्त की जा सकती है । पुण्य प्रकृतियो के बंध के निमित्त नाना होते हैं । उनका सामान्य परिचय करा देने के लिए ही महात्मा लम्बा प्रश्न करते हैं ।

ज्ञानी पुरुष मन से, वचन से और तन से क्षण-क्षण मे पुण्य कार्य करके पुण्य-प्रकृति का बध करते हैं और अज्ञानी पापाचरण करके पल-पल मे पाप की पोटली बांधते हैं । ज्ञानी का प्रत्येक कार्य विश्व-कल्याण की कामना से होता है और अज्ञानी का स्वार्थ-लिप्सा से प्रेरित होकर । अतएव उसके वह कार्य उसे नरक का अतिथि बनाते हैं ।



१३: भगवान का समाधान

(सुबाहु का पूर्वभव)

भगवान महावीर स्वामी श्री गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हैं—'एव खलु गोयमा ! तेण कालेण तेणं समएण इहेव जबूदीवे २ भारहेवासे हत्थिणाउरे णाम णयरे होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे । तत्थ ण हत्थिणाउरे णयरे सुमुहे णाम गाहावई परिवसइ, अड्ढे, दित्ते, अपरिभूए ।

अर्थात्—हे गौतम ! निश्चय समझ । उस काल मे और उस समय मे इसी जम्बूद्वीप मे, भारतवर्ष मे हस्तिनापुर नाम का नगर था— ऋद्धि-वैभव से सम्पन्न । उस हस्तिनापुर नगर में सुमुख नामक गाथापति निवास करता था वह आढ्य, दीप्त और अपराभूत था ।

जब तक स्थान को न जान लिया जाय तब तक उस स्थान पर होने वाली क्रिया का स्वरूप भलीभांति नही जाना जा सकता । प्रत्येक क्रिया का स्थान होता अवश्य है, फिर भले ही वह कोई भी हो । विना स्थान के क्रिया का होना असम्भव है । इसके अतिरिक्त क्रिया पर स्थान का गहरा प्रभाव पडता है, अतएव क्रिया के तारतम्य को समझने के लिए भी स्थान को जान लेना आवश्यक होता है ।

क्रिया पर जैसे स्थान का प्रभाव पडता है, उसी प्रकार काल का भी । कहना चाहिये कि प्रत्येक क्रिया काल के रंग से रंगी हुई ही होती है । काल की अनुकूलता न हो तो पुरुष का पुरुषार्थ व्यर्थ बन जाता है । अत देश की तरह काल का स्वरूप समझ लेने पर ही क्रिया का ठीक-ठीक रहस्य अवगत किया जा सकता है । देश-

काल के पश्चात् अन्य बातो पर विचार करना चाहिए।

भगवान ने सुबाहुकुमार के पूर्वभव का वृत्तान्त बतलाते हुए काल और समय दो बातो का कथन किया है। दोनो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। आप अपने बही-खाते मे सवत् और मिति—दोनो का उल्लेख करते है। सवत् लगा दिया जाय पर मिति न लगाई जाय तो बही-खाता प्रामाणिक नही माना जाता। अतएव काल और समय दोनो से वस्तु का निर्धारण होता है। काल सवत् के स्थान पर है और समय मिति के स्थान पर। भगवान कहते हैं—उस काल और उस समय मे—अर्थात् चौथे काल मे, उस समय जब कि सुबाहुकुमार उस भव से इस भव मे आया।

सुबाहुकुमार वन्दना-नमस्कार करके जब सभा मे से चला गया, तब गौतमस्वामी ने यह प्रश्न किया और भगवान उसके पूर्वजन्म की कथा कहने लगे। यह कथा सुनने वालो को बडा आश्चर्य हुआ होगा—उन्हे पूर्वभव या पुनर्जन्म की प्रतीति हुई होगी। पुनर्जन्म आज भी सिद्ध किया जा सकता है। आत्मा एक भव के पश्चात् दूसरे भव मे जाता है। शरीर के साथ उसका विनाश नही होता, इस सत्य को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण मौजूद है।

भगवान महावीर कहते हैं—सुबाहु पूर्वभव मे जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर नामक नगर मे निवास करता था। उस समय सुबाहु का नाम सुमुख था। वह गाथापति था।

हस्तिनापुर अत्यन्त प्राचीन नगर है। भारतवर्ष के इतिहास मे उसका बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह नगर पहले भगवान शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ की राजधानी था, फिर वह पाण्डवो का राजधानी-नगर बना। आजकल हस्तिनापुर का नाम दिल्ली है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आजकल की दिल्ली ही प्राचीन समय का हस्तिनापुर है, पर यह निश्चित-सा है कि वह दिल्ली के सन्निकट ही कही होना चाहिए। दिल्ली पहले हिन्दू राजाओ की

राजधानी रही, फिर मुगल साम्राज्य की। पहले-पहल अंग्रेजो ने कलकत्ते को राजधानी बनाया था, मगर बाद मे उन्होने भी दिल्ली को ही राजधानी बनाया। क्षेत्र मे भी कोई अद्भुत शक्ति होती है। सम्भवत इसी कारण दिल्ली और प्राचीन हस्तिनापुर सुदूर अतीत से लेकर आज तक भारत के भाग्य-विधाता रहे है।

इसी हस्तिनापुर नगर मे सुबाहुकुमार अपने पूर्वभव मे 'सुमुख' गाथापति के रूप मे प्रसिद्ध था। जिसका मुख सुन्दर हो, जिसके मुख से मधुर वचन निकलते हो, जो अपने मुख से अश्लील, असत्य, कठोर और अप्रिय वचन न निकाले, वह 'सुमुख' कहलाता है। सुबाहुकुमार इसी प्रकार का 'सुमुख' था।

पहले जमाने मे गुण के अनुसार नाम दिया जाता था। आजकल केवल लोक-व्यवहार की प्रवृत्ति के लिये नामकरण किया जाता है। पहले के नामो से व्यवहार भी हो जाता था और उसके गुण का परिचय भी मिल जाता था। अतएव पहले के नाम आज-कल के नामो की भाँति अर्थ-शून्य नही होते थे। उदाहरण के लिए धर्मघोष अनगार को लीजिये। धर्म-घोष का अर्थ है—धर्म की घोषणा करने वाला। अर्थात् धर्म की घोषणा करना—धर्म को फैलाना जिसके जीवन का ध्येय बन गया हो वह 'धर्म-घोष' कहलाता है।

सुमुख 'यथा नाम तथा गुण' वाला था। इसी कारण वह 'सुमुख' कहलाता था। उसके वचन बडे मीठे और बडे हितकारी होते थे। जो शान्ति मनुष्य को लाखो के आभूषणो से भी प्राप्त नही होती, उत्तमोत्तम सुस्वादु भोजनो से जिस शान्ति का लाभ नही हो सकता, वह एक सुभाषित से सहज ही प्राप्त हो सकती है। तुलसीदास जी ने कहा है:—

> तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चहुं ओर।
> वशीकरण एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर॥

अर्थात् मीठे वचन चारो ओर सुख-शान्ति फैलाने वाले होते

हैं। यह वशीकरण मन्त्र है। जो दुनिया को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है उसे कटुक वचन त्यागकर मधुर भाषण करना चाहिये।

आजकल इस समाज मे वचन की सभ्यता की बडी कमी है। समाज भोजन आदि से किसी मनुष्य का अच्छा सत्कार कर देगी, मगर वचन ऐसे असभ्यता-पूर्ण निकलेंगे कि मानो सभ्यतापूर्ण शब्द उसके कोष मे हैं ही नहीं। वास्तव मे वचन की सभ्यता के बिना कोई भी आदर-सत्कार पूर्णता को नही पहुँच सकता। शास्त्र मे नौ प्रकार के पुण्य का वर्णन आया है। उनमे मीठे वचन बोलना भी एक प्रकार का पुण्य गिना गया है। फिर इस सहज पुण्य का उपार्जन क्यो नही करते ? 'वचने का दरिद्रता ?' मगर जो मनुष्य हृदय मे कुछ और भाव रखता है और मुंह से मीठी वाणी बोलता है, उसे शास्त्रकार छलवादी कहते हैं।

शास्त्र मे चार प्रकार के घडो का वर्णन आया है —(१) पहला घडा वह जिसमे मधु भरा हुआ है और मधु का ही ढक्कन है (२) दूसरा अमृत से भरा मगर विष के ढक्कन वाला (३) तीसरा विष का घडा पर अमृत के ढक्कन वाला और (४) विप का घडा और विष के ही ढक्कन वाला।

घडा पार्थिव होता है। उसमे चाहे मिट्टी भर दो, चाहे अमृत भर दो। जैसा पदार्थ उसमे भरोगे वैसा ही उसका नाम पड जायगा। पर याद रखिये, हम मनुष्य भी घडे के ही सामान हैं। यह पुतला—शरीर—पार्थिव है और नामकर्म रूपी कुंभार की कृति है। इसे अमृत से भरना या विष से भरना और अमृतघट कहलाना या विपघट कहलाना अपने हाथ की वात है। इस अपेक्षा से घडे की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के हैं। जो मनुष्य मुख से मीठे वचन निकालता है और जिसके हृदय मे भी मधुरता होती है वह मधु के और मधु के ढक्कन वाले घट के समान है। इसी प्रकार अन्य मनुष्यो की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। सक्षेप मे इतना कहना ही पर्याप्त है

कि विष से पूर्ण और विप के ढक्कन वाला घडा वनना अत्यन्त निकृष्ट है। विप के ढक्कन वाला अमृत का घडा और अमृत के ढक्कन वाला विष का घडा बनना भी उचित नही है। अलवत्ता विष के ढक्कन वाले अमृत के घडे के समान पुरुष, अमृत के ढक्कन वाले विष के घडे के सदृश पुरुष से अपेक्षाकृत अच्छा है। क्योकि यद्यपि वह दुनिया मे अपना सुयश नही फैला सकता, फिर भी किसी का बुरा नही करता। वह मुख से कितने ही कटुक और कठोर शब्द बोले, मगर हृदय उसका बुरा नही। उसके हृदय मे माधुर्य भरा होता है। लेकिन जो 'विपकुम्भ पयोमुखम्' होता है—जिसके हृदय मे विष और मुख मे अमृत होता है, उसे अतीव भयकर समझना चाहिए। ऐसे मनुष्य को 'गोमुख व्याघ्र' कहते हैं। व्याघ्र से सहज ही बचा जा सकता है मगर गोमुख व्याघ्र के पजे से वच निकलना आसान नही होता। खुले मुख का कुंआ अच्छा या घास-फूस से ऊपर से ढँका हुआ अच्छा ? खुले मुख वाले कुंए से मनुष्य और पशु सावधान रहते हैं पर घास-फूस से ढँके कुंए से वचना कठिन है। इसलिये मैं कहता हूँ—हृदय मे कपट रखकर मीठे वोलने वाले की अपेक्षा हृदय मे दया रखने वाला कटुभापी कही अच्छा है। जो मनुष्य हृदय मे दया रखता है और मुख से भी मधुर वाणी वोलता है उसका तो कहना ही क्या है !

आप एक प्रश्न का उत्तर दीजिये। आपके घर के पास एक मीठे पानी का कुंआ है और दूसरा खारे पानी का। आप किस कुंए का पानी पसन्द करोगे ? मीठे कुंए का। जब आप मीठा पानी पीकर अपनी आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहते हैं तो खारे वचन छोडकर मीठे वचनो से दूसरे को शान्ति पहुंचाने का प्रयत्न क्यो नही करते ?

सुमुख गाथापति वास्तव मे सुमुख अर्थात् मधुरभाषी था। वह अमृत का घडा और अमृत के ढक्कन वाला था।

सुमुख गृहपति था। सच्चा गृहपति कौन हो सकता है, य विचारणीय है। वह गृहपति वास्तव मे गृहपति पद का अधिकार नही है, जो दूसरो को भूखो मारकर अपना पेट भर लेता है गृहपति का मुख्य कर्तव्य है—घर आये अतिथि का यथायोग्य सत्का करना। कहावत प्रसिद्ध है—

घर आयो माँरो जायो।

अर्थात् जो अपने घर आया है वह सहोदर भाई के समा है। गृहपति प्रकृति का उदार और महान होना है। वह अने जीवो को शान्ति देकर अपना निर्वाह करता है। वह ईट-पत्थर घर को अपना घर नही समझता। वह समझता है—'मेरा घ स्वर्ग मे है। मैं यहाँ जगत् की सेवा करने आया हूँ।' और अधिक से-अधिक सेवा करके भी वह अभिमान नही करता। उसके पा धन कम हो या ज्यादा, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नही होती, मगर उसमे उत्साह खूब होता है। दूसरो को दुःख से बचाने मे वह कभी शिथिलता नही आने देता। परोपकार उसके जीवन का व्रत होता है।

सुमुख गाथापति आढ्य-सम्पन्न था, दीप्त-तेजस्वी था और अपरिभूत था अर्थात् उसका पराभव कोई भी नही कर सकता था। किसी के पास ऋद्धि हो, मगर वह सदाचारी न हो तो एक तुच्छ बालक भी उसका पराभव कर सकता है। दुराचारी की पद-पद पर दुर्गति होती है। वह आँख उठाकर ऊपर नही देख सकता। दुश्शील मे तेजस्विता कहाँ? उसके चेहरे पर एक प्रकार की झेंप मौजूद रहती है। उसकी आँखो मे लज्जा तैरती रहती है। रावण कितना सम्पन्न था? उसका वैभव अपरिमित था। उसका पराक्रम असाधारण था। उसकी धाक के सामने बडे-बडे राजा-महाराजा पीपल के पत्ते के समान काँपते थे। मगर वह दुराचारी था। दुराचारी होने के कारण पर्याप्त साधनो के अभाव मे भी रामचन्द्र ने उसका परा-

``व किया । रावण के पास और सब प्रकार के बल थे, मगर दाचार का अलौकिक बल न था। इसी बल के अभाव के कारण मे पराभूत होना पड़ा ।

सुमुख के पास ऋद्धि है और वह प्रकाशमान है । दीपक मे ल हो, बत्ती हो और सब सामान हो । लेकिन जब तक वह अग्नि ो समीप न आने देगा, अपना तेल आग मे नही जलायगा, तब क उसमे प्रकाश न होगा । जब वह अग्नि को समीप आने देगा, पना तेल अग्नि मे जलायगा, तब लौ उत्पन्न होगी, तभी प्रकाश ी उत्पत्ति होगी । प्रकाश होने पर उसे वायु के झकोरो से, बुझने , बचाने के लिये और उसमे आकर गिरने वाले पतङ्ग आदि जन्तुओं ी रक्षा के लिये, फानूस रखा जाता है ।

भगवान कहते हैं—सुमुख भी एक दीपक है । इसके घर में न-धान्य आदि भरा हुआ है । मगर धन-धान्य का होना उसकी वेशेपता नही है । धन-धान्य की प्रचुरता से किसी मनुष्य की महत्ता ही बढती । वह तो कृपण और दुश्शील मनुष्य के पास भी हो कता है । सुमुख की विशेषता इस बात में थी कि उसका धन रोपकार मे व्यय होता था । दीपक स्वय अपने प्रकाश से लाभ नही उठाता । वह जलता है—दूसरो के लिये । दूसरो को प्रकाश देने के लिये वह अपने 'स्नेह' को तिल-तिल करके जलाता है । दीपक आग को नियमित मात्रा मे तैल-दान करता है । एक साथ बहुत-सा अमर्यादित तेल दे तो भभका होता है ।

इसी प्रकार सच्चा गृहपति मर्यादा के साथ धन का उपयोग करता है । वह न कृपण होता है, न उडाऊ होता है । वह दीपक की भाँति परोपकार के लिये अपना धन व्यय करता है । वही धन का सद्व्यय है ।

आजकल के बहुत से लोग अपने धन का सद्व्यय न करके ब्याह मे, शादी मे, वेश्यानृत्य मे और फुलवाडी लुटाने मे व्यय करते हैं।

गरीबो को भी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए उनकी देखादेखी ऐसा करना पडता है। उन्हें नीति और सत्य के काम पसन्द नही आते। लेकिन बाजार जब मन्दा होता है—आमदनी का द्वार बन्द हो जाता है तब उनकी आखें खुलती हैं। उस समय इन खर्चों की बुराइया उनकी समझ मे आती हैं। ऐसे समय मे वह परोपकार के कार्यों को पहले बन्द करते हैं, जहाँ धन का विशेष और अनावश्यक व्यय होता है वहाँ फिर भी व्यय करते रहते हैं। प्रकृति से भद्र मनुष्य परोपकार का कार्य कडी-से-कडी और बडी-से-बडी मुसीबत आने पर भी बन्द नही करते। एक दन्तकथा प्रसिद्ध है —

युद्ध के समय महाराणा प्रताप जगल मे एक छोटे से खेमे मे परिवार सहित रहते थे। नौकर अगर कोई रहा होगा तो केवल भील। बादशाह अकबर ने ऐसे समय राणा की शक्ति और धैर्य की परीक्षा करने का विचार किया। स्वय अकबर फकीर का भेष बना कर उस जगल मे जा पहुँचा। वह राणा के खेमे पर पहुँचा। सूचना मिलने पर राणा प्रताप बाहर आये। फकीर ने कहा—राणाजी आपका बडा नाम और प्रताप सुनकर आया हूँ। चादी के थाल मे मेवे की खिचडी खाना चाहता हूँ। खिलाओगे ?

फकीर की याचना से राणा को मार्मिक व्यथा होने लगी। राणा ने सोचा—यहाँ जगली फल-फूल खाकर काम चलाया जा रहा है और फकीर चादी की थाली मे मेवा की खिचडी माँग रहा है। यह कोई असाधारण घटना है। साधारण फकीर की यह माँग नही हो सकती। मैं नाही करूँ तो कैसे ? और हाँ करके खिलाऊँ कैसे ?

राणा ने फकीर को बैठने का आमन्त्रण दिया और आप खेमे मे गया। राणा का धैर्य जवाब दे रहा था। अतिथि का यथेष्ट सत्कार न कर सकते हुये जीवित रहने से तो मृत्यु हो जाना श्रेष्ठ है। इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपघात करना निश्चित कर लिया।

पीछे के द्वार से निकलकर राणा जगल मे चले गये और सोचने लगे—किस प्रकार मरना चाहिये ? सयोग से उस समय एक मनुष्य लदा हुआ बैल लेकर उनके समीप आया और कहने लगा—आप थोड़ी देर बैल को थामे रहें तो मैं शौच हो आऊँ । राणा ने सोचा मुझे मरना तो है ही, अन्तिम समय मे इसका छोटा-सा काम क्यो न कर दूं ? राणा ने बैल पकड लिया । बैल का मालिक आँखों से ओझल हो गया । वह गया सो सदा के लिए चला गया, फिर लौटकर न आया । राणा ने उसे आवाजें लगाईं । चिल्ला-चिल्लाकर पुकारा, मगर प्रतिध्वनि के सिवाय और कही से कोई उत्तर न मिला ।

इधर राणा को खेमे मे न देख परिवार के लोग चिन्ता में पड गये । कुछ लोग इधर उधर खोजने निकले । राणा मिले, बैल को थामे हुए । उन्होंने ऐसा करने का कारण पूछा । राणा ने सब वृत्तान्त कहा और बैल के स्वामी को खोज निकालने का आदेश दिया । लोग उसकी तलाश मे निकले । पैरो के निशान देखते वे आगे बढ़े तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न था । कुछ ही दूर जाकर पैरो के निशान गायब थे । जान पडता था—वह अचानक विलीन हो गया है ।

लाचार राणा बैल लिये अपने खेमे पर आये । बैल पर लदी गौन उतार कर देखा तो उसमे एक ओर मेवा भरा था, दूसरी ओर चांदी के थाल !

राणा ने मेवा की खिचडी बनाई और फकीर वेषधारी बादशाह को इच्छा-भोजन कराया । बादशाह यह देखकर हैरान रह गया । 'प्रकृति जिसका साथ दे रही है, उसे कौन हरा सकता है'?' इस प्रकार सोचता हुआ बादशाह वहाँ से चल दिया ।

ऐसी ही एक कथा सुप्रसिद्ध यूरोपीयन वीर नैपोलियन बोनापार्ट के विषय मे भी प्रचलित है । कहते हैं, नैपोलियन की माता ने एक बार उससे कुछ पैसे मांगे । नैपोलियन के पास पैसे नही थे । उसे बडी लज्जा हुई और वह मरने का सङ्कल्प करके नदी की ओर

चला। इसी बीच उसके एक मित्र ने आकर उसके हाथ मे रुपयो से भरी थैली दी और कहा—जरा इसे लीजिए। लघुशका कर आता हूँ। थैली देकर वह मित्र ऐसा गायब हुआ कि फिर आया ही नही।

इन कथाओ का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के उदार मनुष्य सत्य के काम को कभी नही विगाडते और प्रकृति भी उनकी सहायता करती है।

आज लोग आय कम होने पर सब से पहले धर्म और परोपकार के कार्य वन्द करते हैं, लेकिन भोग-विलास के अनावश्यक और पापमय कार्यों को वन्द नहीं करते। सच्चे गृहस्थ का यह लक्षण नही है। सच्चा उदाराशय गृहस्थ मृत्यु-पर्यन्त भी परोपकार के कार्य वन्द नही करता।

सुमुख मे दान का गुण था। वह सच्चा दानवीर था और साथ ही खान-पान सम्वन्धी विचार रखता था। कौन वस्तु भक्ष्य है, कौन अभक्ष्य है, इस वात का उसे पूरा खयाल था। ऐसा न होता तो मुनिराज उसके घर गोचरी के लिए कैसे आते ?

सुमुख प्रकृति से उदार था। यदि वह क्रोधी होता, अतिथि-सत्कार न करता होता, अपने घर आये का अनादर करता होता तो मुनि के समान उत्तम पात्र की प्राप्ति उसे कैसे होती ?

गृहागत अतिथि का आदर करने से क्या लाभ होता है, यह वात एक दृष्टान्त द्वारा समझना सुगम होगा—

किसी राजा के हाथ मे एक छाला हो गया। उस छाले का नाम मोती छाला था और वह वडा विषैला था। चिकित्सकों ने राजा से कहा—अगर शस्त्र से इसकी चीरफाड की गई तो आपका वचना कठिन होगा। यह छाला अगर हस की चोच से फूटे तो अच्छा हो जायगा।

राजा ने चिन्तित होकर कहा—हस मिले और वह छाले को फोड़े ! ऐसा योग कब और कैसे मिलेगा !

चिकित्सको ने कहा—उद्योग करने वालो के लिए कोई बात असम्भव नही है। राजहस के मिलने का उपाय हम बतलाते हैं।

राजा के पूछने पर चिकित्सको ने कहा—समुद्र के किनारे, ऊँची छत पर, एक तख्ता कटवाकर आप उसके नीचे सो रहिये। कटे हुए तख्ते के नीचे हाथ इस प्रकार रखिए कि केवल छाला ही बाहर दीखे—आपका शरीर और शेष हाथ भी तख्ते के बाहर न दिखलाई पडे। उस छाले के आस-पास मोती बिखेर दीजिए और वही अन्य पक्षियो का भी भोजन रख दीजिये, जिससे अन्य पक्षी भी वहाँ एकत्र हो जावें। पक्षियो को देखकर पक्षी आते हैं। इस उपाय से सम्भव है राजहस भी आ जावे और अपनी चोच से मोती समझकर आपका छाला भी फोड दे।

मरता क्या न करता ? इस कहावत के अनुसार राजा ने ऐसा ही किया। सयोग से अन्यान्य पक्षियो की तरह एक दिन राजहस भी वहाँ उतर आया। मोती समझकर उसने छाले में चोच मारी। छाला फूट गया। राजा को अत्यन्त शान्ति का अनुभव हुआ।

राज को अन्य पक्षियो से प्रयोजन नही था। उसे केवल राजहस की अपेक्षा थी। मगर यदि वह उदारता से काम न लेता—अन्य पक्षियो को दान न देता या उनके आने पर उन्हें मार भगाता तो क्या राजहस उसके पास फटकता ?

नही !

राजा को जैसा छाला था, वैसा ही छाला आपको मोहनीय कर्म का है। मोहनीय कर्म रूपी विषैले छाले को फोडने के लिए आपको महानिर्जरा रूपी चोच की आवश्यकता है और वह भी साधु रूपी राजहस की चोच होनी चाहिए। लेकिन जैसे राजा अगर अन्य पक्षियों को भगा देता होता तो राजहस उसके पास न आता, इसी प्रकार आप अपने घर आये अतिथि—भिखारी का अपमान करके

केवल सुपात्र साधु की इच्छा करोगे तो साधु कैसे आएँगे ? पक्षी को उडाते देख दूसरा पक्षी भी उड जाता है। इसी प्रकार साधु जब आपको अन्य अतिथियो—भिखारियो का अपमान करते देखेगा तो वह आपके यहाँ क्यो आवेगा ?

भगवान ने तुगिया नगरी के श्रावको के विषय मे कहा है— 'उस्सियफलिहा' अर्थात् उन्होने अपने घर के द्वार इसलिये खुले रखे हैं कि वेरोकटोक कोई भी आकर दान ले जावे।

कई लोग कहा करते है कि साधु किवाड खोलकर नही आते हैं, मगर भिखारी तो किवाड खोलकर भी आ जाते हैं। अतएव साधु के आगमन की भावना से किवाड खोलकर बैठना चाहिये। लेकिन यहाँ केवल साधु के लिए ही किवाड खुले रखना नही वताया किन्तु भिक्षुक मात्र के लिये किवाड खुले रखना कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि अन्य पक्षियो के आने पर जैसे राजहस भी कभी आ जाता है, इसी प्रकार सर्वसाधारण पर अनुकम्पा का भाव रखने से, अपने घर आये का तिरस्कार न करते हुए दया दिखलाने से संयोगवशात् कभी मुनि रूपी राजहस भी आ जाएँगे और उन्हे दान देने से महानिर्जरा होगी।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिए अनेक कारणो की आवश्यकता रहती है। उसमे कोई मुख्य और कोई गौण होता है। यो तो वृक्ष की विशेषता फलवान् होने मे है, पर फलवान् होने के लिए उसमे डाली, पत्ता, फूल आदि भी चाहिए ही। मूर्खों की कल्पना कुछ भी हो, पर ज्ञानी किसी भी वात पर पूरी तरह विचार करते हैं। यहाँ सुमुख गाथापति को अड्ढे, दित्ते और अपरिभूए कहने की क्या आवश्यकता थी ? भगवान ने केवल इतना क्यो न कह दिया कि सुमुख सुपात्र दान देकर 'सुवाहुकुमार' वन गया है। वस्तुत इस प्रकार के विचार से वस्तु की पूर्णता समझ में आती है।

सुमुख को ऐसा उत्तम सुपात्रदान का योग किस प्रकार मिला ?

यह वतलाते हुए भगवान फरमाते है—

तेण कालेण तेण समएण धम्मघोसा नाम थेरा जाइसपन्ना जाव पचहिं समणसएहिं सद्धि सपरिवुडा पुव्वाणुपुव्वि चरमाणा गामाणुगाम दूइज्जमाणा, जेणेव हत्थिनाउरे नयरे, जेणेव सहस्सम्ववणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता अहापडिरूव उग्गह उग्गिण्हित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरति ॥

अर्थात्—उस काल और उस समय मे, धर्मघोप नामक स्थविर जाति से सम्पन्न यावत् पाच सौ श्रमणो सहित पूर्वानुपूर्वी से विचरते हुए, ग्राम-ग्राम भ्रमण करते हुए, हस्तिनापुर नगर मे, सहस्र-आम्रवन नामक उद्यान मे पधारे। वहाँ पधार कर यथायोग्य आज्ञा लेकर सयम और तप से आत्मा को सस्कृत करते हुए विचरने लगे।

पहले के नामो से स्पप्ट जान पडता है कि वह गुण की यथार्थता के कारण रखे जाते थे। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि नाम के अनुसार गुण हो ही, फिर भी जव ऐसा होता है तो व्यक्ति का नाम ही उसके गुण का परिचायक वन जाता है। पूज्य श्री शिवलालजी महाराज के पास एक मुनि थे, जिनका नाम चतुर्भुज था। उनमे क्षमा गुण की अधिकता थी, अतएव उनका नाम 'क्षमा-सागर' रखा गया था। उनका यह नाम इतना अधिक प्रचलित हुआ कि पहले का नाम लगभग लुप्त हो गया और और उसे वहुत कम लोग समझते थे।

जो धर्म के नाद द्वारा ससार को जगाता है वह धर्मघोप कहलाता है। धर्मघोष मुनि स्थविर थे।

'स्थविर' पद साधारण नही है। शास्त्र मे स्थविर की महिमा का वर्णन किया गया है और भगवान ने स्थविर को तीर्थङ्करो के वचनो का अनुवादक कहा है। जैसे राजा के वाद दूसरे दर्जे पर प्रधान होता है, उसी प्रकार तीर्थङ्कर के पश्चात् दूसरे नम्वर पर स्थविर की गणना होती है। जैसे राज्यसत्ता को कायम रखने और

प्रजा के सुख-दु ख को जानकर उसमे सुख-शान्ति फैलाने वाले को प्रधान कहते हैं, इसी प्रकार जो अरिहत भगवान के धर्म को स्थिर करता है, फैलाता है और उसके द्वारा जगत मे शान्ति का प्रसार करता है, वह स्थविर कहलाता है ।

धर्मघोप स्थविर भी ऐसे ही थे । उनके विषय मे शास्त्र मे लिखा है—जाइसपन्ना, कुलसपन्ना, बलसपन्ना एव विणय-णाण-दसण-चरित्त लज्जा-लाघवसपन्ना, ओयसी, तेयसी, वच्चसी, जससी आदि । अर्थात् धर्मघोष मुनि जाति से सम्पन्न, कुल से सम्पन्न, वल से सम्पन्न तथा विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सयम और लाघव से सम्पन्न थे, ओजस्वी थे, तेजस्वी थे, वर्चस्वी थे और यशस्वी थे ।

साधु अवस्था की श्रेष्ठता प्राय जाति और कुल की श्रेष्ठता पर निर्भर है । मातृ-पक्ष को जाति और पितृ-पक्ष को कुल कहते हैं । जिस व्यक्ति का मातृपक्ष और पितृपक्ष सस्कृत और धर्म-परायण होगा, वह स्वय सुसस्कारी और धर्मप्रेमी होगा, क्योकि बाल्यावस्था के सस्कार आजीवन टिकते हैं और जीवन के निर्माण मे उनका बडा भाग होता है ।

साधुओ की गति ससारियो के हाथ मे है, क्योकि ससार-समाज से ही साधु आते हैं । ससार-समाज अगर शुद्ध रहेगा तो उस के सस्कारो से सस्कृत साधु भी शुद्ध रहेगे और यदि वह समाज ही शुद्ध न होगा—मूल ही अशुद्ध रहेगा, तो साधु शुद्ध कैसे रह सकेंगे ! एक दृष्टान्त से यह वात समझनी चाहिए ।

एक वावाजी थली प्रदेश मे—मरुभूमि मे—जा पहुँचे । वहाँ उन्होने सुन्दर व गोल-गोल फल देखे । वावाजी को भूख और प्यास सता रही थी । फल देखते ही वावाजी को वडी खुशी हुई । कहने लगे—यह प्रदेश कितना सुन्दर है, जहाँ इतने सुन्दर और गोलाकार फलो की वहुतायत है । पर न जाने यह कौन से फल हैं ? भूखे वावाजी से न रहा गया तो उन्होंने एक फल तोडा और मुंह से रख लिया ।

फल का मुँह मे जाना था कि मुह कडुवा जहर हो गया । उन्होंने फल थूक दिया और सोचने लगे—इतने सुन्दर फल मे इतनी कटुकता कहाँ से आई ? बाबाजी ने उसके पत्ते चखे, वेल चखी तो वह भी कटुक ! उन्होंने जड उखाडकर चखी और वह भी कटुक निकली । बाबाजी ने सोचा—जिस वृक्ष की जड ही कडवी है, उसका फल मधुर कैसे हो सकता है ?

बाबाजी आगे चले । कुछ दूर चलने पर उन्हे तरबूज (मतीरे) दिखाई दिये। कडुवे फलो को वह मन-ही-मन कोस रहे थे, अत तरबूजो को भी उन्होने उन्ही का भाईबद समझा । कहने लगे— जब छोटे फल इतने कटुक हैं तो बडे फल कितने कटुक न होगे !

बाबाजी को देखकर एक किसान ने उन्हें तरबूज खाने का आमन्त्रण दिया । बाबाजी भडके हुए तो थे ही, किसान को बड-बडाने लगे । बोले—चल, रहने दे इन फलों को । न जाने यहाँ की धरती कैसी विचित्र है कि उसमे जहर के फल लगते हैं । पेट की आतें तक कडवी हो गई हैं ।

किसान सारी बात समझ गया । उसने शान्त स्वर मे कहा—बाबाजी, आप भ्रम मे हैं । सब धान बाईस पसेरी नही तुलता । आप इन्हे चखकर देखिए तो मालूम होगा !

बाबाजी बोले—वे भी गोल थे और ये भी गोल-गोल हैं । तब यह मीठे कैसे होगे ?

किसान ने कहा—गोल तो लड्डू भी होते हैं । आप गोलाई से न घबराइए, चखकर देखिये ।

बाबाजी ने मतीरा चखा और उसकी ठडी-ठडी मिठास पर मुग्ध हो गये । कहने लगे—भाई, मैं भ्रम मे था । वास्तव मे यह फल बड़ा मधुर है । इसके बाद उन्होने मतीरे की जड, बेल, पत्ते आदि जाचे । सब मे मिठास था, किसी मे कटुकता न थी । बाबाजी ने कहा—जिसकी जड मीठी है, उसके फल मे मधुरता क्यो न होगी ?

साराश यह कि मूल की मधुरता पर फल की मधुरता निर्भर करती है। कुल का अर्थ है—पिता का कुल और जाति का अर्थ है—माता का कुल। माता-पिता ससार के मूल हैं। जिसे अच्छे पुत्र और अच्छे साधु चाहिए, उसे उनके मूल को सुधारने की चेष्टा करनी चाहिए। मूल का सुधार जब तक न होगा, तब तक लडके कडवे फल की तरह होंगे। जब मूल सुधर जायगा तो लडके मतीरे के समान होगे। जिसकी माता निष्कलक होगी, व्यवहारकुशल और ईमानदार होगी वही पुत्र जाति-सम्पन्न होगा। इसी प्रकार जो पिता धर्मसम्पन्न है, विश्वासघातकता आदि दुर्गुण जिसमे नही हैं, जो लज्जाशील और नीतिमान है, प्राण जाने पर भी बुरा काम नही करता है, उसका पुत्र कुल-सम्पन्न होता है।

आशय यह है कि जाति और कुल की सम्पन्नता के बिना साधु अच्छे सस्कार वाले नही बनते। जाति और कुल का प्रभाव साधुओं मे भी अन्त तक बना रहता है। यही सूचित करने के लिए भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि धर्मघोष स्थविर जाति और कुल से सम्पन्न थे।

जाति और कुल से सम्पन्न होने पर भी कभी-कभी कोई-कोई व्यक्ति कुसगति के चक्कर मे पडकर कुसस्कारी बन जाता है, किन्तु धर्मघोष मुनि ऐसे न थे। वे विनय आदि अनेक सद्गुण रूपी मणियो से विभूषित थे। वे विनय-सम्पन्न थे, ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पन्न थे, सयम-लाघव से सम्पन्न थे, ओजस्वी थे, तेजस्वी थे, वर्चस्वी थे और यशस्वी थे। तात्पर्य यह है कि जिसमे यह सब गुण पाये जाते हैं, वही स्थविर पद का अधिकारी होता है। इन सद्गुणो से मण्डित महापुरुष स्वय स्थिर रहता है और दूसरो को भी धर्म पर स्थिर रखता है।

धर्मघोष मुनि पाँच सौ मुनियो के परिवार के साथ छोटे बडे की रीति से ग्राम-ग्राम विचरते हुए हस्तिनापुर नगर में सहस्र आम्रवन

उद्यान मे पधारे ।

आज-कल के लोग, आश्चर्य करेंगे कि एक ही नगर मे, एक साथ पाँच सौ मुनियो का निर्वाह कैसे हुआ होगा ? इतने मुनियों को निर्दोष भिक्षा कैसे मिली होगी ?

मगर इस प्रकार के आश्चर्य के लिए वास्तव मे कोई आधार नही है। जब तक ससार धर्ममार्ग नही पकडता है, तभी तक साधुओ को कष्ट हो सकता है । इसके विपरीत जहाँ गृहस्थधर्म का भली भाँति पालन होता है, वहाँ पाच सौ की तो वात ही क्या, इससे भी अधिक साधु हो तो उनके निर्वाह मे कोई कठिनाई नही होती । आज गृहस्थो मे गृहस्थ-धर्म के प्रति पर्याप्त तत्परता नही दिखाई देती । साधु भी गृहस्थों का गृहस्थ-धर्म के प्रति कम ध्यान आकर्षित करते हैं । इसी कारण यह आश्चर्य होता है । पहले के गृहस्थ अतिथि-सत्कार करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझते थे । उन्हे यह पाठ पढाया जाता था—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात् प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा, पुण्यमादाय गच्छति ॥

अर्थात्—जिस घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह लौटने वाला अतिथि अपना पाप उस गृहस्थ को दे जाता है और उसका पुण्य आप ले जाता है ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि पुण्य-पाप का आदान-प्रदान सभव नही है, अत उपर्युक्त कथन मिथ्या है या मिथ्यात्वियो का है । यह कहना एकान्तत ठीक नही । उक्त कथन मे नीति का तत्त्व विद्यमान है और नीति सबके लिये होती है । उसमे सत्य भरा हुआ है । यह आलकारिक भापा है । अत भाषा के अलकार को एक ओर हटाकर मूल वस्तु पर विचार करना चाहिए । कथन में चमत्कार लाने के लिए कवि अलकारो का प्रयोग करते आये हैं और आजकल भी किया करते हैं। वातचीत मे लोग कहा करते हैं–'इनका पाँव वाहर वहुत

निकल आया है।' इस वाक्य का अर्थ अगर शब्दो को पकड़कर लगाया जायगा तो कुछ भी मतलब न निकलेगा, आलकारिक भाषा के कहने मे जो बात होती है, वह सीधी तरह कहने मे नही होती।

कहा जा सकता है कि तीर्थंकर भगवान तथा अन्य महात्माओ की वाणी में अलङ्कारो की क्या आवश्यकता है ? वे सीधी-सादी व्यवहारू भाषा मे ही अपनी बात क्यो नही कहते ? ससार के समस्त अलङ्कारो का त्याग करने वाले भाषा के अलङ्कारो का त्याग क्यो नही करते ?

इस प्रश्न का समाधान एक दृष्टान्त द्वारा करना समुचित होगा। कल्पना कीजिये—एक स्त्री पुत्रवती है और दूसरी वध्या है। पुत्रवती स्त्री पुत्रजन्म आदि व्यवहारो से परिचित है और वध्या अपरिचित है। पुत्रवती अपने पुत्र को चलना सिखाने के लिये आप पुत्र की चाल से चलेगी या पुत्र को अपनी चाल मे चलाएगी ? अगर पुत्र को घसीटकर वह अपनी चाल से चलाएगी तो निर्दया कहलाएगी। सहृदया स्त्री स्वय पुत्र की चाल से चलेगी। अगर वध्या स्त्री पुत्रवती स्त्री की वाल-चाल की आलोचना करने लगे तो वह यही कहेगी कि तुम इस तथ्य को नही समझती। मैं अपने पुत्र को चाल सिखा रही हूँ।

पुत्र को वोलना सिखाने के लिये माता तोतली वोली वोलती है। वध्या स्त्री उसकी वोली की आलोचना करेगी तो वह साफ कह देगी—मुझे अपने वच्चे को वोलना सिखाना है, वह जिस ढग से सीखेगा, उसी ढग से वोलना सिखाऊँगी।

भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है—

अर्भका चीसाठीं, वते हा तीं धरिलीं पाटीं ॥ १ ॥
तैसे संत जगीं, क्रिया करू निदावितो अंगी ॥ २ ॥
बालकाचे चाली माता जाणु निपाउलवाली ॥ ३ ॥
तुकाह्य लेना व, जन्म साठीं उदको ठाव ॥ ४ ॥

अर्थात् शिक्षक जब बच्चे को सिखाने बैठता है तब प्रकांड विद्वान् होने पर भी बच्चे को पढाने के उद्देश्य से, पट्टी लेकर अ, आ, इ, ई, रटता है। अगर उच्च कक्षा का शिक्षक उसे वर्णमाला बोलते देख उसकी हँसी करने लगे तो उसे यही उत्तर मिलेगा—मैं अपने लिए नही, वरन् बच्चे के लिए पढ रहा हूँ।

यही बात भाषा के सम्बन्ध मे तीर्थङ्करो के लिए कही जा सकती है। ज्ञानियो मे अनन्त बल, अनन्त ज्ञान और अनन्त विज्ञान था। उनका द्रव्यानुयोग यथार्थ है। चरण-करणानुयोग गृहस्थो के लिये और साधुओ के लिए है। लेकिन प्रथमानुयोग— कथा वार्ता आदि बच्चो के लिए अर्थात् साधारण समझ वाले व्यक्तियो के लिए है। यह कथा-वार्ता बिना अलङ्कार शोभा नही देती। यही कारण है कि कथाओ मे अलङ्कारो को स्थान दिया गया है। उनमें शब्द कुछ और हैं पर अर्थ उनका कुछ और है। ससार के हित की कामना से प्रेरित होकर महात्माओ ने सर्वसाधारण की बोली का ही प्रयोग किया है। उनका उद्देश्य ससार को सुधारना था, अत उन्होंने वही पद्धति अख्तियार की है, जिससे ससार का अधिक-से-अधिक सुधार हो। ससार कैसे सुधरता है, यह बात उन्हे भलीभाँति विदित थी। उनकी गति वही जानें। हमे उनकी बातो पर शका नही होनी चाहिए।

जेनदर्शन की आत्मा द्रव्यानुयोग है। उस आत्मा को अगर जानना है तो द्रव्यानुयोग का अध्ययन कीजिए। आज सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर नही है, मगर ऐसा किये विना— अध्ययन की गहराई मे पहुँचे बिना यह निर्णय नही किया जा सकता कि ठीक क्या है ? और क्या नही ?

किसी बात की परीक्षा करने के लिए उसके वक्ता की परीक्षा करने की भी आवश्यकता रहती है। जिसका वक्ता आप्त होता है अर्थात् पूर्ण ज्ञानी और वीतराग होता है, वह बात असत्य नही हो

सकती, क्योंकि वहाँ असत्य का कोई कारण नही रह जाता। इस कसौटी पर तीर्थंकरो की परीक्षा करो। उनके उदार और उदात्त चरित की ओर ध्यान दो। सर्वप्रथम उन्होने अपना वहुमूल्य वैभव त्याग किया, सर्वस्व को अपनेपन की मर्यादा से बाहर कर दिया और एकान्त मे जाकर वर्षों तक तीव्र तपस्या करके ज्ञान प्राप्त किया। जब तक उन्हें सम्पूर्ण सत्य उपलब्ध न हो गया तब तक उन्होंने मौन धारण किया—धर्मोपदेश के नाम पर एक शब्द न बोले। क्या यह साधारण वात है? जगत्-कल्याण के हेतु उन्होने अनेक परीषह सहन किये हैं। आज उनके सघ को देखो। हालांकि काल-दोष से अब सघ के सदस्यो मे—साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका मे—पहले जैसी शक्ति विद्यमान नही है, कदाचित् पहले के समान प्रबल भावना भी नही है, फिर भी वे अनेक दुस्सह परीषह सहते हैं, लम्वे-लम्वे उपवास करते हैं। इस क्षीण रोशनी मे भी प्रभावशाली अतीत की एक झाकी दिखाई दे सकती है। इस गये वीते जमाने मे भी जो सघ इतनी भावना कायम रखे है, उसके प्रभु धर्म-युग में कैसे रहे होंगे, यह कल्पना करना कठिन नही है।

अव मूल प्रश्न पर विचार कीजिये। क्या पुण्य-पाप देने-लेने की वस्तु है? दर असल पुण्य-पाप ऐसे कोई स्थूल पदार्थ नही हैं, जिनका आदान-प्रदान लेन-देन सम्भव हो, फिर भी व्यवहार मे ऐसा होता है। मान लीजिए, आपके घर मुनि आये। उससे आपको पुण्य की प्राप्ति हुई। तो मुनि का आगमन पुण्य का निमित्तकारण ठहरा। इसी प्रकार अन्य अतिथि भी पुण्य का निमित्त वनता है। अर्थात् आगत अतिथि की यथोचित सेवाशुश्रूषा की जाय तो पुण्योपार्जन होता है। इसी बात को दूसरे शब्दो मे कहते हैं—अतिथि का सेवा-सत्कार गृहस्थ को पुण्य प्रदान करता है। अगर गृहस्थ उस अतिथि की आशा भग कर दे तो क्या उसे पुण्य होगा?

नही!

जब निमित्तकारण को मुख्यता दी जायगी तो कह सकते हैं—पुण्य के कारण मुनि या अतिथि आये। आगत अतिथि को गृहस्थ ने यदि दुर्वचन कहे, उसका तिरस्कार किया और वह अतिथि शाति-पूर्वक बिना किसी क्षोभ के दुर्वचनो को सहकर चला गया तो पुण्य ले गया या नही ? और गृहस्थी को दुर्वचन कहने का पाप दे गया या नही ?

मित्रो ! केले के वृक्ष के छिलके निकाले जायें तो अन्त तक छिलके ही छिलके निकलेंगे और कुछ नही । अगर उस वृक्ष को वृक्ष के रूप मे ही खड़ा रहने दिया जाय तो वह मधुर फल प्रदान करेगा। इसी प्रकार अगर धर्म के छिलके उतारोगे तो सार हाथ न लगेगा। धर्म को धर्म के रूप मे ही देखोगे तो वह मधुर फलदायक सिद्ध होगा। धर्म के प्रति सन्देह रखने से काम चलता नही है। अगर जीवन को ऊँचा उठाना है तो धर्म का आधार अनिवार्य है । धर्म को छोडकर और कौनसी वस्तु है जिसके सहारे तुम उच्च जीवन का निर्माण कर सकते हो ?

शास्त्र और साहित्य की रचना का मर्म ज्ञानी ही जानते हैं। साधारण मनुष्य को उसके छिलके उतारकर फल से वचित होना ठीक नही है ।

अब धर्मघोष मुनि के प्रसग पर आइए। आर्यावर्त में, प्राचीन काल मे अतिथिसत्कार की भावना बहुत व्यापक थी । उस समय किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या अन्य कोई सकीर्णता अतिथिसत्कार मे बाधक न थी । यह जैन मुनि हैं, इसलिए जैन ही इन्हे आहार दें—हम क्यो दें ? इस तरह की क्षुद्र भावना जनता मे रचमात्र भी न पैठने पाई थी । इस स्थिति मे हस्तिनापुर जैसे विशाल नगर मे पाच सौ मुनियो का निर्वाह होना कठिन न था ।

पाच सौ मुनि ग्राम-ग्राम विचरते हुए आये। वह दृश्य कितना प्रशस्त होगा ! उस समय का वातावरण कितना भावमय और कितना

आकर्षक होगा, जब मुनिजन किसी वृक्ष के नीचे या किसी धर्म-स्थानक मे आसीन होकर धर्म का उपदेश देते होगे ! वास्तव मे ऐसे सुधारको से ही धर्म फैल सकता है और सुधार हो सकता है। स्वय आचार-निष्ठ महात्मा पुरुष ही दूसरो को आचारवान् बना सकते हैं। पैसे के लोभी उपदेशक क्या खाक सुधार कर सकते हैं !

धर्मघोप मुनि पाच सौ शिष्यो सहित हस्तिनापुर आये और सहस्राम्रवन नामक उद्यान मे विराजमान हुए। अपने कल्प के अनुसार अभिग्रह करके धर्मक्रिया मे विचरने लगे।

तेण कालेण तेण समएण धम्मघोसाण थेराण अन्तेवासी सुदत्ते नाम अणगारे उराले जाव तेउलेस्से मासमासेण खममारो विहरइ॥

अर्थात्—उस काल और उस समय धर्मघोप स्थविर के अन्तेवासी सुदत्त नामक अनगार थे। वे उदार यावत् तेजोलेश्या वाले तथा एक-एक मास तपस्या करके पारणा करने वाले थे।

'अन्तेवासी' शब्द का अर्थ है—समीप रहने वाला, पर समीप रहने वाले से यह अभिप्राय नही समझना चाहिए कि वह रात-दिन अपने गुरु के पीछे-पीछे फिरते रहते थे। यहाँ 'अन्तेवासी' से शिष्य का अभिप्राय है।

पहले कहा जा चुका है कि पहले के नाम गुणनिष्पन्न होते थे। यह सुदत्त अनगार भी यथानाम तथागुण थे। सुदत्त मुनि बडे ही उत्साही, घोर तपस्या करने वाले—ऐसी तपस्या करने वाले कि जिसे देखकर कायरो के हृदय मे कँपकँपी छूटने लगती थी। उनका आचरण देखकर जनता मे उत्कृष्ट धर्म-भावना जाग उठती थी।

जिसमे बहुत से गुण हो और उन सब गुणो का समुचित रूप से वर्णन न किया जा सकता हो तो उनमे से एक मुख्य गुण का वर्णन करने से समस्त गुणो का पता चल जाता है। राजा के मुकुट का वर्णण करने से उसके तमाम आभूपणो की कल्पना हो जाती है। सेठ साहब की पगड़ी का वर्णन उनकी पूरी पोशाक का परिचायक

होता है। इसी प्रकार सुदत्त नामक अन्तेवासी के प्रधान गुण के वर्णन से ही उनकी वास्तविकता समझी जा सकती है।

सुदत्त अन्तेवासी मास-मास की तपस्या करते थे। मास-मास दो वार कहने का तात्पर्य यह है कि लम्बे काल तक उनकी यह तपस्या जारी रही। वे एक वर्ष मे बारह वार ही भोजन करते थे।

जो मुनि महीने मे एक ही वार भोजन करते थे, वे विहार कैसे करते होगे और उनके शरीर की स्थिति कैसी हो जाती होगी? यह प्रश्न आज जैनधर्म के अनुयायियो के हृदय मे भी उठता है, तो दूसरे के हृदय मे भी अगर उठे तो क्या आश्चर्य है?

वह मुनि धन्य है जो आज के गये-वीते जमाने मे, शारीरिक अशक्ति के समय मे और धर्मभावना की न्यूनता वाले इस युग मे भी एक-एक, दो-दो महीने की तपस्या करते हैं। आज भी ऐसे तपस्वी मुनि मौजूद हैं तो प्राचीन काल मे महीने-महीने की तपस्या करने वाले मुनि महात्माओ का होना कौन अचरज की वात है? यदि यह मुनि इस कलिकाल मे ऐसी तपस्या न कर दिखाते तो जैनधर्म का तपस्या का उपदेश केवल वाग्विलास ही ठहरता।

दो-दो महीने की तपस्या करने वाले मुनि प्राय आडम्बर के लिए अनशन नही करते। वह अपने आत्मा मे अपूर्व जागृति लाने के लिए ही तप करते हैं, आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने के लिए और अपनी मूक भाषा द्वारा ससार भर मे धर्मतत्त्व गुजाने के लिए तपस्या करते हैं। इस गूज से जनता मे उत्साह उत्पन्न होता है और वह भी धर्मकार्य की ओर प्रवृत्त होती है।

मित्रो! धर्म मे उत्साह रखो, श्रद्धा विना, भक्ति विना जो भी क्रिया की जाती है, सब रूखी है। याद रखना, रूखी क्रिया का परिणाम भी रूखा ही होता है। ऊसर भूमि पर चाहे मूसलधार वर्षा क्यो न हो, पर वहाँ अकुर नही उगता।

तएण स सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणगसि पढमाए पोरिसीए

सज्झाय करेइ, जहा गोयमसामी तहेव धम्मघोसे थेरे आपुच्छइ । (जाव) अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गेहे अणुपविट्ठे ॥

अर्थात्—तत्पश्चात सुदत्त अनगार ने, मास खमण के पारणे के दिन पहली पोरसी में स्वाध्याय किया, दूसरी मे ध्यान किया और तीसरी पोरसी मे गौतम स्वामी ने जैसे भगवान महावीर की आज्ञा मागी थी उसी प्रकार उन्होंने धर्मघोष स्थविर से आज्ञा ली और गौतम स्वामी की भाँति भिक्षा के लिये अटन करते हुए सुमुख गाथा-पति के घर मे प्रविष्ट हुए ।

धर्मघोष मुनि के शिष्य सुदत्त अनगार के मास खमण तप का आज पारणा-दिवस है । मास खमण का पारणा होने पर भी सुदत्त अनगार स्वय गोचरी के लिए जाते हैं ।

सुदत्त मुनि ने धर्मघोष स्थविर को नमस्कार किया और कहने लगे—भगवन् ! मैं एक इच्छा करता हूँ ।

धर्मघोष—मुने ! तुम्हारी क्या इच्छा है ?

सुदत्त—प्रभो ! आज मास खमण का पारणा है, अत गोचरी जाने की आज्ञा माँगता हूँ ।

धर्मघोष—जहासुह देवाणुप्पिया, मा पडिवध करेह—अर्थात्—हे देवो के प्यारे ! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वही करो । विलम्ब न करो ।

मित्रो ! सुदत्त मुनि के आचरण की तरफ देखिए । एक मास तक उन्होंने तप किया है । आज पारणा है सो अपने हाथ से गोचरी लाने की आज्ञा माँगते हैं ! क्या दूसरे मुनियो से वह गोचरी नहीं मँगा सकते थे ? क्या दूसरे मुनि गोचरी लाने से इन्कार कर देते ? पर नही, तपस्या करके वह आलसी नही बनना चाहते थे । आल-स्यमय जीवन बिताना ससार के लिए भारभूत होना है ।

अनशन वाह्य तपस्या है । बाह्य तपस्या अभ्यन्तर तपस्या के विना निर्जीव-सी होती है । अभ्यन्तर तपस्या की साधना के लिए ही वाह्य

स्या की जाती है । यही कारण है कि सुदत्त मुनि ने पारणे के
दन भी ध्यान और स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप की उपेक्षा नही
की । वास्तव मे आभ्यन्तर तप से ही बाह्य तप प्रकाशमान होता है ।
आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप शोभा नही देता ।

साधारण लोगो की समझ है कि उपवास होने पर स्वाध्याय
नही होता, पर ज्ञानियो ने पता लगाया है कि शरीर जैसे-जैसे कृश
होता जाता है, अन्तर् की भावना वैसे-वैसे प्रबल होती जाती है ।
उस समय आत्मा मे जो चेतनता आती है, वह भोजन करने पर
नही आती । इस सत्य का अनुभव उसे होता है जो आकाक्षाओ से
रे रहकर, निष्काम भावना से तपस्या करता है । उपवास की
अवस्था मे जैसी समाधि रहती है और जो तत्त्व समझ मे आता है
वह भोजन के नशे मे नही ।

सुदत्त मुनि ने पारणे के दिन पहली पोरसी मे स्वाध्याय किया ।
दूसरी पोरसी मे स्वाध्याय को ध्यान के रूप मे परिणत किया ।
तीसरी पोरसी मे उत्कण्ठा, चपलता या जल्दबाजी के विना प्रति-
लेखन आदि क्रियाएँ करके गुरु के समीप उपस्थित हुए । गुरुजी को
वन्दन-नमस्कार करके गोचरी के लिए जाने की आज्ञा प्राप्त की ।

जिज्ञासा हो सकती है कि जब धर्मघोष मुनि के साथ पाच
सौ मुनि थे, तब सुदत्त अनगार स्वयं गोचरी लेने क्यो गये ? क्या
इतने मुनियो मे एक भी ऐसा न था जो उन्हे गोचरी ला देता ?
क्या किसी भी मुनि मे तपस्वी का वैयावृत्य करने की भावना नहीं
थी ? अगर थी तो सुदत्त अनगार स्वय गोचरी के लिए क्यों गये ?

मित्रो । वह महात्मा ऐसा करके हमे बडी कल्याणकारी शिक्षा
दे गये हैं । उनका यह आचरण सूचित करता है कि जब तक अपने
मे सामर्थ्य हो, दूसरे के सहारे मत रहो । शक्ति विद्यमान होने पर
भी जो दूसरे पर अवलम्बित रहता है, उसे ठाणाग सूत्र मे दु ख-शैया
पर सोने वाला कहा गया है । आलसी बनकर, सुख मे पड़े रहने के

लिये साधुत्व अगीकार नही किया जाता।' दशवैकालिक सूत्र मे, स्पष्ट शब्दो मे कहा है—'चय सोगमल्ल' अर्थात् सुकुमारता का त्याग करो।

गृहस्थ भी, अगर शक्ति होने पर कमा कर नही खाता तो घर वालो को शत्रु-सा प्रतीत होता है। उसके शरीर मे आलस्य घुस जाता है और कुछ दिनो मे उसकी तवियत स्वय घवडाने लगती है। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई गृहस्थ हो या साधु हो, परावलम्वन सभी को समान-रूप से हानिकारक होता है। परावलम्वन की भावना ही घृणास्पद है। परावलम्वन साहस-हीनता, दीनता, असमर्थता और रुग्णता आदि अनेक दोषो का जनक है। जो व्यक्ति स्वय यतना-पूर्वक कार्य करता है, उसके चित्त मे एक प्रकार के सन्तोषमय उल्लास का आविर्भाव होता है—वह सुखी होता है।

जो अपने हाथ से काम नही करता, आलस्य मे विभोर होकर पडा रहता है, वह अपनी अन्यान्य शक्तियो के साथ शारीरिक शक्ति को भी खो वैठता है। शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाने पर मनुष्य अनेक रोगो का शिकार वन जाता है। जो वहिनें अपने हाथ से यतना-पूर्वक चक्की नही चलाती, अपने हाथ से भोजन नही वनाती या ऐसा ही परिश्रम का कोई दूसरा काम नही करती, वह स्वस्थ और सवल सन्तान को जन्म नही दे सकती। मैंने एक घटना सुनी थी। किसी करोडपति सेठ के सन्तान नही होती थी। उसने दूसरा विवाह किया। दूसरे विवाह से भी जब सन्तान न हुई तो चिकित्सको से परामर्श किया गया। चिकित्सक ने वतलाया—सेठानी शारीरिक परिश्रम नही करती, इस कारण सन्तान नही होती।

चिकित्सक की वात सुनकर सेठानी ने शारीरिक श्रम किया और फल यह हुआ कि सेठानी के सन्तान होने लगी। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्योग करना चाहिये। जो वहिन या भाई, धर्म के नाम पर सीधा खाना खाते हैं, वह पाप को प्रचण्ड-रूप दे रहे हैं। जो वहिनें आलस्य मे पडी रहती हैं, उनकी सन्तान निर्वल, रोगी,

तथा अल्पायुष्क होती है। वह ब्रह्मचर्य को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली होती है। अपनी सन्तान को अगर आप मुसीबत मे नही डालना चाहते और पीछे पछताना नही चाहते तो पहले ही से आपको सावधान हो जाना चाहिये।

जो मनुष्य उद्योगशील होता है, उसे देखकर आलसी की आत्मा काँप उठती है। उद्योगी को देखकर आलसी मनुष्य भी उद्योग के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उद्योगी पुरुप, मनुष्य को तो क्या, सारी-की-सारी प्रकृति को जागृत कर देता है।

प्राकृत भाषा के एक कवि ने कहा है—

तार्य-ढत्ता लच्छी, नूणं पुत्तस्स होई सा भगिणी।
होई परस्स परित्थी, सय विढत्ता तओ जुत्ता ॥

अर्थात्—पिता के द्वारा पैदा की हुई लक्ष्मी पुत्र के लिए वहिन के स्थान पर है और दूसरो के लिए परस्त्री के समान है। अतएव अपने पुरुपार्थ से प्राप्त की हुई लक्ष्मी का भोग करना ही योग्य है।

दूसरे दृष्टिकोण से पिता की लक्ष्मी पुत्र के लिए माता के समान भी कही जा सकती है, क्योकि उस लक्ष्मी का पति, उसका पिता है। पिता जिसका पति हो वह पुत्र के लिए माता है। लडका जव तक समझदार न हो, पढ-लिखकर समर्थ न बन जाय, तव तक वह पिता की लक्ष्मी का, माता के दूध के समान, उपयोग कर सकता है। परन्तु जव सयाना हो जाय, समर्थ हो जाय, २५-३० वर्ष की उम्र का जवान वन जाय, तब क्या वह माता के स्तन को हाथ लगायेगा? नही। इसी प्रकार सामर्थ्य प्राप्त होने पर पुत्र अपने पिता की लक्ष्मी को हाथ न लगावे। जो पुरुप ऐसा न करके पिता की लक्ष्मी का उपयोग करता है, वह दुश्शील है।

मित्रो! यह साधना सरल नही है, मगर उद्योग का मार्ग निराला है। कहाँ तक कहा जाय? जो स्वय उपार्जन नही कर

सकता, वह दूसरो के लिए बोझा है, जैसे ठाठ से रहने वाले, बी ए. और एम ए की उपाधियो से विभूपित, आजकल के ग्रेज्यूएट भारत के लिए भार रूप हैं, क्योकि वह पढ-लिखकर देश को कुछ फायदा तो पहुँचाते नही, अपने उदर का भार भी दूसरो के सिर थोपते हैं और अपने रहन-सहन से सादे और सयमी पुरुपो को भी फैशन की ओर आकृष्ट करके दूपित आदर्श उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार जिसने पेट भरने के ही लिए साधु का वेष धारण किया है, वह भी जगत् के लिए भार-रूप है। उसके भार से जगत दब रहा है, ऐसा मानना चाहिये।

शास्त्र का आदेश है कि मासखमण का पारणा होने पर भी अपने आप गोचरी लानी चाहिये। लेकिन आजकल यह आदेश केवल शास्त्र के पृष्ठो तक ही सीमित रह गया है। जो शक्ति होते हुए भी दूसरो पर अवलम्बित रहता है उसे शास्त्र मे आँख होते अन्धा और कान होते भी बहरे की उपमा दी गई है।

सर्वमात्मवशं सुखम्।

अर्थात् सुख स्वतन्त्रता मे है—अपने ही अधीन है। पराश्रित होने मे सुख नही है।

स्वावलम्बन का महत्त्व व्यक्तिगत जीवन मे ही नही वरन् सामाजिक एव राष्ट्रीय-जीवन मे भी है। जो व्यक्ति या जो राष्ट्र अन्न और वस्त्र जैसी जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओ के लिये परावलम्बी नहीं होता, जो अपनी आवश्यकता आप पूरी कर लेता है, उसे पददलित करने की क्षमता किसी मे भी नही है। वह राष्ट्र कभी दुखी नही रह सकता। इसके विपरीत, जो देश अन्न और वस्त्र के लिये दूसरो का मुँहताज रहता है वह दुखी, दरिद्र और पराधीन होता है।

व्यापारी वर्ग अपने को दुखी अनुभव करता है, पर उसकी असीम तृष्णा और पराधीनता ही उसके दुख का कारण है। अगर

वह स्वतन्त्र व्यापारी होते तो उन्हे कोई दुखी नही कर सकता था। आनन्द, कामदेव आदि श्रावको के पास हजारो गायें थी और सैकड़ों हल चलते थे। इस स्वतन्त्र उद्योग से वे श्रीमन्त थे। उनकी श्रीमन्ताई कौन छीन सकता था? आज के व्यापारी स्वतन्त्र उद्योग न करके एक प्रकार के दलाल बनकर—पराश्रित रहकर—श्रीमान् बनना चाहते हैं, सो यह सब खाली बादल कब तक ठहर सकते हैं?

सुदत्त अनगार ने कहा—भगवन्! मैं किसी उच्च कुल मे ही या किसी नीच कुल मे ही गोचरी के लिये नही जाऊँगा, वरन् उच्च, नीच और मध्यम कुलो मे जाऊँगा। मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये।

मुनि की दृष्टि मे श्रीमन्त और दरिद्र बराबर हैं। ऊँच-नीच का भेद नही है। जो कुल धन-सम्पन्न होने से उच्च हैं और जो धन-हीन होने के कारण नीचा गिना जाता है, साधु के लिये समान है। उच्च कुल में गोचरी करना और नीचे कुल मे न करना साधु धर्म से विरुद्ध है। साधु प्राणिमात्र पर समभाव धारण करते हैं। अलबत्ता जो आचारहीन हैं और आचारहीन होने के कारण ससार मे घृणित समझे जाते है उनके यहाँ धर्म-रक्षा के अभिप्राय से मुनि को गोचरी के लिये जाना व्यर्थ है। किसी भी आचार-सम्पन्न गृहस्थ के घर से साधु आहार ग्रहण कर सकते हैं।

भिक्षा मागने का अधिकार सब को नही है। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षा बताई है। पहली भिक्षा सर्वसम्पत्तिकरी है। दूसरी भिक्षा वृत्ति है और तीसरी पौरुषघातिनी है।

जिन मुनियो ने ससार-व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर दिया है, जो पाच महाव्रतो का पालन करते हैं और जिनका हृदय करुणा से ओत-प्रोत रहता है, वह मुनि सयम-रक्षा के लिये जो भिक्षा लेते हैं वह सर्वसम्पत्तिकरी भिक्षा कहलाती है। यह लेने व देने वाले—दोनो को उच्चकोटि पर पहुँचाती है। उत्तम पात्र का योग

पाकर दाता को सब प्रकार की सम्पत्ति का फल प्राप्त होता है।

प्रश्न किया जा सकता है—ग्यारहवी पडिमा धारण करने वाले श्रावक की भिक्षा किस भिक्षा मे अन्तर्गत है ? इसका उत्तर यह है कि वह श्रावक विना परिश्रम किये पेट भरने के लिए भिक्षा नही मागता। वह भी मुनियो की तरह व्रतो का पालन करता है। वह मुनि के समान है, अतएव उसकी भिक्षा भी सर्वसम्पत्तिकरी भिक्षा है।

जो पुरुष अगविकल—लूला, लगडा या अधा है, कमाकर खाने मे असमर्थ है, वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए जो भिक्षा मागता है, वह भिक्षा 'वृत्ति' कहलाती है। जैसे और लोग कमा-कर खाते हैं, उसी प्रकार वह भीख मागकर अपनी जीविका चलाता है। भिक्षा उसकी आजीविका है।

जो मनुष्य हट्टा-कट्टा है, तन्दुरुस्त और वलवान है, कमाकर खाने के योग्य है, लेकिन कमाना न पडे—इस अभिप्राय से माग-कर खाता है, उसकी भिक्षा पौरुषघ्नी अर्थात् पुरुषार्थ का घात करने वाली है।

शास्त्र मे कहा है कि—जो साधु अपने व्रतो का पालन नही करता, उसे भी भिक्षा मागने का अधिकार नही है।

सुदत्त मुनि की भिक्षा सर्वसम्पत्तिकरी है। सुदत मुनि सहज भाव से ही सुमुख गाथापति के घर पहुँचते है और उसका भाग्य चमक उठता है।

हस्तिनापुर मे गृहस्थो के घरो की कमी नही। लेकिन सुमुख मे कोई आकर्षण-शक्ति है कि मुनि उसके यहाँ गोचरी के लिये पधारे हैं। जो मनुष्य अन्य कार्यो मे भी शात और परोपकारी है, जिसके मन मे झूठ और कपट नही है, उसके घर ऐसे विशिष्ट महात्मा पहुँच जाते है। अतएव सुपात्रदान की अभिलाषा रखने वाले गृहस्थ को अपना घर और हृदय पवित्र रखना चाहिए। कपट

से, झूठ से या अन्याय से उपार्जित धन के द्वारा निपजा हुआ अन्न मुनियो के सयम मे भी बाधा उपस्थित करता है ।

सुदत्त मुनि घूमते-घूमते सुमुख गाथापति के घर आये । मुनि को देखते ही सुमुख का मन-मयूर उल्लास के कारण नाच उठा । जैसे वर्षा होने पर मोगरा का फूल खिल उठता है, उसी प्रकार सुदत्त मुनि को देखकर सुमुख का चित्त हर्ष से भर गया ।

मुनि को आते देख हर्षित होने से प्रकट है कि उसकी प्रकृति पहले से ही प्रशस्त थी । उसने अपने जीवन मे अनेक शुभ-कार्य किये होगे, तब यह उदार प्रकृति बनी होगी ।

कुछ लोग सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि कहते हैं । यह उनका अज्ञान है । जो सुमुख सुदत्त अनगार पर नजर पडते ही, जलधारा गिरने पर मोगरे के फूल की तरह विकसित—उल्लसित होता है—जिसका हृदय हर्ष से भर जाता है, उसे मिथ्या-दृष्टि कैसे कहा जा सकता है, यह समझ मे नही आता ।

सुमुख मुनिराज का दर्शन होते ही अपने आसन पर से खड़ा हो गया । फिर वह सात-आठ पैर आगे गया और उत्तरासनपूर्वक 'तिक्खुत्तो'+ के पाठ से उन्हे वन्दना की—नमस्कार किया । श्रद्धा और भक्ति से उसका हृदय गद्गद हो उठा । वह अपना जीवन धन्य मानने लगा । उसने अपने मनोभावो को सक्षेप मे वाणी द्वारा इस प्रकार प्रकट किया—गुरुदेव ! आपके इस असीम अनुग्रह से मैं कृतार्थ हुआ । आज मेरा आगन पावन हुआ । इस गरीब के घर कल्पवृक्ष आ गया, निर्धन के यहाँ कामधेनु का पर्दापण हुआ । इस क्षुद्र के आगन मे चरण-न्यास करके आपने आगन को मोतियो से

+मुनि-वन्दना का पाठ इस प्रकार है—'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि संमाणेमि,, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएणं वंदामि ।' यह पाठ बोलते हुए वन्दना की जाती है ।

पूर दिया । प्रभो ! आज मेरा गार्हस्थ्य जीवन धन्य हो गया । आपकी अमित कृपा के लिए यह दास आपका चिर ऋणी रहेगा ।'

मूल—तए ण से सुमुहे गाहावई सुदत्त अणगार एज्जमाण पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ । पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ, ओमुइत्ता एग-साडिय उत्तरासग करेइ, करेत्ता सुदत्त अणगार सत्तट्ठ पयाइ अणुगच्छइ, अणुगच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ, करेत्ता वदइ, नमसइ, नमसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सहयत्थेण विउलेण असणपाणेण पडिलाभिस्सामित्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिए वि तुट्ठे ॥

शब्दार्थ—तदनन्तर सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को आते देखता है । देखकर हर्षित और सतुष्ट होकर अपने आसन से उठ खडा होता है और पादपीठ से नीचे उतरता है । नीचे उतरकर पादुका खोल देता है और एकशाटिक उत्तरासग करता है, फिर सुदत्त अनगार के सामने सात-आठ कदम सामने जाता है । सामने जाकर 'तिक्खुत्तो' के पाठ से प्रदक्षिणा-पूर्वक वन्दना-नमस्कार करता है । वन्दना-नमस्कार के पश्चात् भोजनशाला की ओर (मुनि के साथ) गया । अपने हाथ से, अशन-पान वहराऊँगा, यह सोचकर वह हर्षित हुआ, वहराते समय भी हर्षित हुआ और वहराने के पश्चात् भी हर्षित हुआ ।

आज सुमुख की कोटि की पात्रता क्या सुलभ है ? सुमुख की भद्रता, विनयशीलता, नम्रता और श्रद्धा-भक्ति वास्तव मे आदर्श और अनुकरणीय है ।

ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे (स्थान) मे श्रमण सघ की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि श्रावक को गुणपात्र वनना चाहिए । मगर कुछ भाई कहते हैं कि श्रावक पात्र नही, कुपात्र है और जब तक वह श्रावक-अवस्था मे है और साधु नही वन जाता है, तव तक

उसकी कुपात्रता धुल नही सकती । श्रावक मे पात्रता कभी आ नही सकती । हमें उन भाइयो पर करुणा आती है जो ऐसा कहने वालो के चेले बनते हैं और कुपात्र कहलाते हैं । जिनके सामने सिर झुकाया जाता है वही लोग सिर झुकाने वालो को कुपात्रता का पुरस्कार देते हैं, श्रद्धा-भक्ति का यह कितना विचित्र इनाम है ! जिस गुरु के सामने नतमस्तक होने से, जिसकी शिष्यता स्वीकार करने से शिष्य मे कुपात्रता आ जाती है, वह गुरु ही वास्तव मे कुपात्र कहा जाना चाहिये ।

कहा जा सकता है—साधु और श्रावक मे महान् अन्तर है और साधु कुपात्र है तो श्रावक कुपात्र होने ही चाहिये । अगर साधु और श्रावक दोनो ही सुपात्र मान लिए जावें तो फिर दोनो मे क्या भेद रहेगा ? यह तर्क बडा विचित्र है । साधु मनुष्य होते हैं, तो श्रावक मनुष्य नहीं होना चाहिए । अगर दोनों ही मनुष्य कहलायेंगे तो दोनो मे क्या भेद रहेगा ? इसी प्रकार साधु सम्यग्दृष्टि होते हैं तो दोनो मे भेद करने के लिये श्रावक को मिथ्यादृष्टि समझना होगा । इस प्रकार श्रावक मनुष्यता से भी गया, सम्यग्दर्शन से भी गया और पात्रता से भी गया !

किन्तु श्रावक और साधु मे भेद करने की यह प्रणाली ही गलत है । जो लोग शास्त्रो का मर्म जानते हैं, उन्हें भलीभांति विदित है कि श्रावक और साधु मे सयम की मर्यादा का अन्तर है । साधु पूर्ण सयमी-महाव्रती होते हैं और श्रावक अणुव्रती-एकदेशसयमी होता है । इस विभिन्नता के कारण, श्रावक और साधु की तमाम बातो मे भेद की कल्पना करना बच्चो का हठ ही कहा जा सकता है । श्रावक को 'तीर्थ' कहा गया है । जो तिरावे—पार पहुंचावे वह तीर्थ कहलाता है । 'तीर्यते अनेन स तीर्थ ।' क्या अकेला साधु ही तिराने वाला है ? श्रावक क्या डुबाने वाला है ? नहीं ।

खेद है कि अज्ञान के कारण तीर्थ को अतीर्थ और पात्र को कुपात्र मान लिया गया है । भ्रम में पडे हुये भाई यदि वास्तविकता

का विचार करें, शास्त्रावलोकन करें तो भ्रम-जाल से मुक्त हो सकते हैं।

हस्तिनापुर उस समय भारतवर्ष के विख्यात और विशाल नगरो मे से एक था। उसमे हजारो घर थे। उन समस्त घरो को छोडकर सुदत्त मुनि सुमुख गाथापति के ही घर क्यो गये ? यह प्रश्न जिज्ञासु हृदय मे उत्पन्न होता है।

मित्रो ! यह एक गूढ रहस्य है। इस घटना मे गम्भीर तत्त्व छिपा है। इसमे 'योगानुयोग' की आकर्षण शक्ति सुवाहुकुमार का निर्माण करने के लिए आकर्पित कर रही है।

कारण के बिना कार्य नही होता, यह न्याय-शास्त्र का सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। कारण की विद्यमानता ही कार्य को जन्म देती है। सुदत्त अनगार का सुमुख के घर जा पहुँचना कार्य है, इसलिये वह निष्कारण नही हो सकता। सुमुख गाथापति को सुदत्त मुनि के लिये दान देने की प्रेरणा कोई अदृश्य शक्ति अवश्य कर रही होगी। वह अदृश्य शक्ति क्या होगी ? पहले उपार्जन किया हुआ पुण्य। वह पुण्य किसी शुद्ध क्षेत्र मे वीज बोने का फल था।

कोई किसान साफ-सुथरी और कमाई हुई भूमि को छोडकर इधर-उधर कही वीज वोता है ? नही। भलीभाँति जोती हुई भूमि मे वीज बोने वाला किसान अपना श्रम सार्थक वनाता है और कृषि का उत्तम फल प्राप्त करता है। इसी प्रकार सुमुख ने किसी अच्छे अवसर पर उत्तम पुण्य का वीज वोया होगा। उसी पुण्य के प्रताप से सुदत्त जैसे महामहिमावान मुनिराज उसका आगन पावन बनाने के लिये पधारे।

जैसे सूखती हुई खेती को पानी मिल जाने से खेती हरी-भरी नवजीवन से परिपूर्ण वन जाती है, जैसे प्यास से पीडित प्राणी को पानी प्राप्त हो जाने पर अपूर्व उल्लास होता है, जैसे पुत्रहीन को पुत्र पाकर परम प्रसन्नता होती है, जैसे निर्धन को धन पाकर अद्भुत आनन्द अनुभव होता है, जैसे रोगी को औषध लाभ होने पर प्रस-

न्नता होती है, जैसे नाना प्रकार के दुखो से अभिभूत दुखिया को सब दुख दूर होकर सुख-सामग्री उपलब्ध होने पर प्रसन्नता का पार नही रहता, उसी प्रकार सुमुख गाथापति को सुदत्त अनगार का सयोग पाकर प्रसन्नता हुई।

सुमुख आज सुदत्त श्रमण को दान देने वाला है। वह जानता है कि उत्तम पुरुष विना किसी विशेष प्रयोजन के किसी के घर नही जाते। तिस पर यहाँ तो महात्मा हैं। एकान्तवास मे रत रहने वाले योगी हैं। प्रपचो से विरत रहने वाले, दुनियादारी के व्यवहारो से बचने वाले, आत्मनिष्ठ अनगार हैं। यह महात्मा विना विशेष प्रयोजन मेरे घर कैसे पदार्पण कर सकते हैं ? आज मेरा भाग्य कितना महान् है ! मेरा सौभाग्य-सूर्य आज सम्पूर्ण तेज के साथ चमक उठा है। आज मैं नगण्य होते हुए भी धन्य हूँ, तुच्छ होते हुए भी महान् हूँ, मेरा भाग्य मुझ पर प्रसन्न है।

मित्रो ! आज सुमुख का हृदय आनन्द के सरोवर मे सरा-बोर हो गया है। उसका अन्त करण भक्ति के भार से नम्र हो गया है। प्रमोद-भावना उसके रक्त मे नाच उठी है। सुमुख के आनन्द का पार नही है। मुनिराज के प्रति कितनी उत्कट भक्ति है ! कैसी प्रगाढ श्रद्धा है ! कैसा सच्चा आदर है ! सुमुख की इस पवित्र भावना ने उसे आगे जाकर सुबाहुकुमार बनाया। आदर-सत्कार के साथ दिये हुये दान की महिमा वाणी के अगोचर है।

सुमुख का यह भक्तिभार प्रत्येक श्रावक के लिए निर्मल दर्पण के समान है, इसे सामने रखकर प्रत्येक श्रावक को अपने अन्त करण का परीक्षण करना चाहिए। अपने हृदय को टटोलो, जिन्हे 'तिक्खुत्तो' के पाठ से वन्दना-नमस्कार करते हो, जिनके चरणो पर मस्तक टेकते हो, उनके प्रति दान देते समय कैसा आदरभाव रखते हो ? दान देते समय हाथ कॉपने तो नही लगता ? हृदय सकुचित तो नही हो जाता ? अनुदारता का भाव तो हृदय के किसी कोने मे उदित नही

होता ? इस प्रकार अपनी मनोवृत्ति की परीक्षा करके देखो।

हाँ, नमस्कार करना—मस्तक झुकाना साधारण कार्य नही है। मस्तक झुकाना एक असाधारण मूल्यवान व्यापार है। चाहे जिसके आगे मस्तक नही झुकाया जा सकता। मस्तक झुकाने वाला जिसके आगे मस्तक झुकाता है, उसके प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पित हो जाता है। समर्पण की आन्तरिक क्रिया का बाह्य प्रतीक है—नमस्कार करना। नमस्कार करने वाला नमस्करणीय के चरणो मे न केवल मस्तिष्क ही अर्पण करता है, वरन् वह अपना हृदय, अपना तन, अपनी बुद्धि, अपनी योग्यता और यहाँ तक कि अपना जीवन भी अर्पण कर देता है। वह सम्पूर्ण भाव मे उसी का हो जाता है।

नमस्कार के रूप मे सर्वस्व समर्पण कर देने वाला आराधक पाता क्या है ? न वह प्रशसा चाहता है, न कीर्ति चाहता है, न अहकार खरीदता है, न गौरव मानता है। वह हृदय, मस्तिष्क, बुद्धि एव अहकार के भार को अपने आराध्य के आगे विसर्जित कर देता है, सो इसलिए नही कि उसके वदले वह कीर्ति, महिमा आदि खरीदे। वह अपना बोझ हल्का करता है, कीर्ति आदि का नया बोझ अपने ऊपर लादता नही है। यही निष्काम भक्ति है, यही विशुद्ध आराधना है। जिसके हृदय मे ऐसी भक्ति होती है वही वास्तव मे नमस्कार करने का अधिकारी है—उसी का नमस्कार पूर्ण फलदायक होता है।

आज आपको चाहे यह कल्पना न आती हो, मगर सत्य यह है कि यह धर्म वीर क्षत्रियो का है। यह कायरो का धर्म नहीं है। वीर क्षत्रिय मस्तक न झुकाने के लिए वडे-वडे सग्राम कर बैठे हैं। उनकी तलवारें म्यान मे से वाहर निकल आती हैं। मस्तक न झुकाने के लिए महारणा प्रताप अठारह वर्ष तक राजधानी छोड़कर जगल-जगल घूमते फिरे। उनकी महारानी पद्मावती को सामा का आटा तैयार करने के लिए अपने हाथ से चक्की

चलानी पडी । महाराणा जैसे प्रचण्ड पराक्रमी पुरुष स्वाभिमान की रक्षा के लिए सामे की रोटियाँ खाते थे और वह भी भर पेट कहाँ नसीब होती थी ? एक दिन सामे के आटे की रोटियाँ बाँटी जा रही थी । उनकी लडकी ने कहा— माँ, मुझे एक रोटी और चाहिए । पर रोटियाँ इतनी थी नही । माता ने कहा—बेटी ! सब्र करो । तुम्हारे हिस्से मे एक ही रोटी आई है । आज शाम को भी रोटी नही मिलेगी । आज सारा दिन इसी से काम चलाना पडेगा ।

बेचारी राणा की बेटी और सामा की रोटी ! तिस पर भी पेट भर नही ! वह चुप हो रही । विपदाओ के निरन्तर सम्पर्क ने उसे भी सहिष्णु बना दिया था । उसने आधी रोटी खाई और आधी बचाकर शाम के लिए गढा खोदकर उसमे गाड दी । रहने के लिए कोई मकान तो था नही ।

लडकी रोटी गाडकर ज्यो ही दूसरी ओर जाती है कि एक जगली बिलाव आता है और गढे से रोटी निकालकर खा जाता है ।

महाराणा की लाडली बेटी का धैर्य समाप्त हो गया । आधी रोटी का मूल्य उस समय कितना था, सो वही जान सकता है जिसने उस मुसीबत मे दिन गुजारे हो । बिलाव ने आधी रोटी क्या निकाली, मानो उसका कलेजा ही निकाल लिया । इस स्थिति मे वह कैसे शान्त रहती ! जैसे ही रोटी खाते वन-बिलाव पर राजकुमारी की नजर पडी कि वह चीख उठी । बोली—हाय ! मेरी रोटी बिलाव खा गया ! अब शाम को मैं क्या करूँगी ?

राजकुमारी की चीख एक ओर घास के बिछौने पर लेटे हुए मेवाडपति महाराणा प्रताप के कानो तक पहुँची । वह उठे और सोचने लगे—हाय ! मेरा प्रण ! जो राजकुमारी हीरा-मोतियो को पैर से ठुकरा देती थी, वह आज रोटी के एक टुकडे के लिए विलाप कर रही है । विधि का विधान कितना विचित्र है ? अदृष्ट

की गति कितनी अस्थिर है ! ससार के सुख-सौभाग्य का यह हाल है ।

मित्रो ! महाराणा प्रताप ने इतने भीषण कष्ट उठाना क्यो पसन्द किया ? वह चित्तौड मे रहकर शाही सुख भोग सकते थे । पर इस सुख-भोग से अधिक आकर्षक कौनसी वस्तु थी, जिसे पाने के लिए महाराणा ने महान् मुसीबतो को आमन्त्रण दिया ? वह वस्तु थी—स्वाभिमान का सरक्षण । वादशाह के सामने सिर न झुकाने का निश्चल प्रण ! वीर पुरुष जिसके आगे सिर झुका देता है, उसके लिए वह प्राण भी अर्पण कर देता है ।

कई एक श्रावक साधु के सामने सिर झुका देते हैं, पर प्राण तो क्या, एक तुच्छ वस्तु का त्याग करते समय उनके हाथों मे कँप-कँपी छूटने लगती है । ऐसे श्रावक क्या वीर कहला सकते हैं ? नही, उनकी गणना वीरो मे नही, कायरो मे की जायगी ।

सुमुख गाथापति कायर नही था । वह प्रदक्षिणा-नमस्कार करके सुदत्त मुनि को भोजनगृह मे लाया । अन्न तो उसके सामने तुच्छ था । आवश्यकता होने पर वह प्राण भी अर्पण कर सकता था ।

भाइयो ! धर्म वीरता से निभता है । हमारे पूर्वज इस धर्म को मानते आये हैं या वश-परम्परा से वन्दना-नमस्कार करते आये हैं, इसलिये हमे भी यह धर्म मानना पडेगा और वन्दना-नमस्कार करना पडेगा । इस प्रकार की लाचारी से अगर आप धर्म को मानते हैं तो इस भावना को मैं निर्बल भावना कहूँगा । निर्बल भावना एक प्रकार की दीनता है, लाचारी है और अशक्ति का चिह्न है । निर्बल भावना वाला पुरुप धर्म का पालन नही कर सकता । धर्म हृदय के प्रेम से पाला जाता है । सच्चा धर्म वही है जो अन्तर् से उद्भूत होता है । जिस वाह्य क्रिया के साथ मन का मेल नही है, जो सिर्फ परम्परा का पालन करने के लिए की जाती है या प्रतिष्ठा के मोह से की जाती है, वह ठीक फल

नहीं दे सकती । अतएव धर्म की आराधना अन्त.करण से होनी चाहिए ।

आप जिसके गुणो पर मोहित हैं, जिसके प्रति आपके अन्त-करण मे श्रद्धा की भावना है, जिसे आप अपना गुरु मानते हैं, उसी को नमस्कार कीजिये ।

सुमुख महा दातार है । वह तिर जावे, यह कौनसी बडी बात है ? जिन्होंने उसके दान की अनुमोदना की थी, वे भी तिर गये ।

सुदत्त अनगार को साथ लेकर सुमुख गाथापति भोजनगृह की ओर गया तो उसके हर्ष का पार नही था । इसमे एक बात समझने योग्य है । मुनि की भूख दु ख-वेदनीय कहलाती है पर श्रावक उस भूख को मिटाने की क्रिया मे अपने यहाँ आनन्द-मगल प्राप्त कर लेता है । सुमुख का कल्याण कैसे हुआ, यह समझना कठिन नही है । अगर कोई पुरुष भूख से पीडित है तो उसकी भूख मिटाने के लिए उसे कुछ देना अपने लिये कल्याण लेना है । दान लेने वाले की अपेक्षा दान देने वाला अपने दान के द्वारा अधिक लाभ उठाता है ।

जब दुष्काल पडता है, तब अनेक गरीब रोटी न मिलने के कारण भिक्षा माँगने निकलते हैं । कई भाई उन्हे कामचोर या भुख-मरे कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं । परन्तु इससे याचक की हानि कम और भर्त्सना करने वाले की हानि अधिक है । उनकी यथोचित सहायता करना और अपने लिये पुण्योपार्जन का अवसर आया है, ऐसा समझना बुद्धिमान का कर्तव्य है । वह काल दातार के लिए आनन्ददायक बन जाता है । बीमारी फैलने पर जो डाक्टर या वैद्य नि स्वार्थ भाव से सेवा करता है, उसके सुयश की ख्याति फैलती है, वह बहुत लाभ प्राप्त करता है और पुण्य का भागी बनता है ।

मित्रो ! समय की कीमत है । समय पर किया हुआ काम

वहुत फलप्रद सिद्ध होता है । कई भाइयो को सयोगवश दान देने का समय प्राप्त हो जाता है । पर वे दे नही सकते । उनकी दान देने योग्य वस्तुएँ असूझनी—अशुद्ध—पडी रहती हैं ।

सच्चे दाता को दान का प्रसग उपस्थित होने पर तीन वक्त हर्ष उत्पन्न होता है । जैसे—आज मैं दान दूंगा—आज भाग्योदय से मुझे दान देने का सुअवसर प्राप्त हुआ है । इस प्रकार दान देने से पहले जिसे ऐसा हर्ष होता है, उसका देय वस्तु से ममत्व छूट जाता है । ममत्व छूट जाने से दान देते समय किसी प्रकार का दुःख नही होता ।

सच्चा दातार दान देते समय भी प्रसन्न होता है और दान देने के पश्चात् भी सन्तोष और आनन्द का अनुभव करता है । 'साधुजी ने इतना ले लिया' जिसके मन मे ऐसे भाव आते हैं, उसने दान का महत्त्व नहीं समझा, ऐसा मानना चाहिए । दान की महिमा जिसने जान ली है, वह साधुजी को घी वहराते समय दान मे इतना तन्मय हो जाता है—दान के आनन्द मे ऐसा बेभान-सा हो जाता है कि घी से पात्र भर जाने के पश्चात् अगर धी बाहर गिरने लगे तब भी वह ऐसा नही कहता कि—महाराज, धी से पात्र भर गया है और अब बाहर गिर रहा है । वह इसे भी अपना अहोभाग्य मानता है । उस समय दाता उस घी को अपना नही मानता—वरन् साधुजी का ही मानता है । वह समझता है—घी अगर बाहर गिरता है तो साधुजी का गिरता है ।

मेरे कथन का आशय यह नही है कि घी पात्र से बाहर डाला जाय या उसका दुरुपयोग किया जाय । मेरा आशय दाता की परिणामधारा की उत्कृष्टता एव महत्ता प्रदर्शित करना है ।

सच्चे श्रावक को जितना आनन्द स्वय खाने मे अनुभव नही होता, उतना मुनि को दान देने मे होता है । स्वय खाने से कदाचित् खाने वाले की जिह्वा की क्षणिक तृप्ति होती है, मगर दान से

दाता की अन्तरात्मा को अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। आन्तरिक आनन्द के सामने चटोरी जिह्वा की तृप्ति का क्या मूल्य है, जो बढिया-से-बढिया रसो का आस्वादन करके, तत्काल फिर ज्यो-की-त्यो तरसने लगती है। स्वय खाने से उदर की कुछ समय के लिए पूर्ति हो जाती है, परन्तु दान देने से उत्कृष्ट सौभाग्य की परिपूर्णता होती है।

विवेकवान् श्रावक दान का अर्थ देना नही समझता पर लेना समझता है। वह मानता है—कल्पवृक्ष मे क्या पानी डालूँ, यह तो सर्व कामनाओ को पूर्ण करने वाला है। कामधेनु को मैं क्या दूँ। वह तो स्वय ही सब कुछ देने वाली है। सुमुख गाथापति मुनि को आहारदान देने समय ऐसा ही हर्षानुभव करता है। दान देने मे यह दूसरे वक्त का हर्ष है।

सच्चा श्रावक अपनी वस्तु को साधु के निमित्त त्याग करने की भावना से जितना हर्षित होता है, उतना ही हर्ष उसे त्याग करने के समय भी होता है। पहले दान देना और फिर अफसोस करना कि—अरे! महाराज तो इतना ले गये, वह चीज बडी अच्छी और कीमती थी, मगर क्या करें साधुजी को देनी पडी, यह अत्यन्त घृणास्पद माना गया है। जो श्रावक दान देने के पश्चात भी हर्ष मानता है वह दान के तीसरे हर्ष का अनुभव करता है।

प्रत्येक श्रावक अपनी योग्यता के अनुसार दान दे सकता है। जो अपने कर्तव्य का पालन करना चाहे, उसे कोई रोक नही सकता। आवश्यकता है सिर्फ वस्तु सम्बन्धी ममता के त्याग की। ममता उतर जाने पर कोई वस्तु चाहे कितनी ही कीमती क्यो न हो, तुच्छ मालूम होने लगती है और वही वस्तु दान के योग्य है, जिस पर से ममत्व हट गया हो। यह आवश्यक नही कि देय वस्तु मूल्यवान ही होनी चाहिए, किन्तु आवश्यक यह है कि पवित्र भावना से दी जाय। शुद्ध वस्तु का दान करने के लिए दाता भी शुद्ध होना चाहिये।

दाता वही शुद्ध हो सकता है, जिसने किसी का कलेजा न चीरा हो, जिसने किसी के साथ विश्वासघात न किया हो, जिसने चोरी न की हो, जो डाका डालकर धन न लाया हो, जिसने नीति की अवहेलना न की हो और जिसका अन्त करण त्याग के महत्त्व को समझता हो। ऐसा दाता ही शुद्ध दाता माना जाता है ।

यहाँ तीनो प्रकार की शुद्धि विद्यमान थी । देय द्रव्य शुद्ध था, दातार शुद्ध था और पात्र भी शुद्ध थे । लोक मे जैसे गगा, यमुना और सरस्वती—तीर्थ कहलाती हैं, किन्तु तीनो मिलकर त्रिवेणी के नाम से तीर्थराज की पदवी पाती हैं, इसी प्रकार शुद्ध देय, शुद्ध दाता और शुद्ध ही दानपात्र का सयोग मिले तो वह दान महामगल-दान है । सुमुख गाथापति ने जो दान दिया वहाँ तीनो का ही योग मिल गया । इस दान का फल क्या हुआ, इस सम्बन्ध मे शास्त्र कहता है'—

मूल— तए ण तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेण दव्वसुद्धेण, दायगसुद्धेण, पत्तसुद्धेण तिविहेन तिकरणसुद्धेण सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए· समाणे ससारे परित्तीकए मणुस्साउए निवद्धे । गिहसि य से इमाइ पचदिव्वाइ पाउब्भूयाइ । तजहा—(१) वसुहारा वुट्ठा (२) दसद्धवण्णे कुसुमे निवाइए (३) चेलुक्खेवे कए (४) आहयाओ देवदुदुहीओ (५) अतरा वि य ण आगाससि 'अहोदाणमहो दाण' घुट्ठ य ।

हत्थिणाउरे सिघाडग जाव पहेसु वहुजणो अण्णमण्णस्स एव आयक्खेइ, एव भासइ, एव पन्नवेइ एव परूवेइ, धन्ने ण देवाणुप्पिए सुमुहे गाहावई सुकयपुन्ने कयलक्खणे सुलद्धे ण माणुस्सजम्मे सुकयत्थरिद्धी य जाव त वण्णे ।

अर्थात्— सुमुख गाथापति ने शुद्ध द्रव्य (देय), शुद्ध दाता और शुद्ध पात्र होने से तथा तीन करण, तीन योग की शुद्धता-पूर्वक सुदत्त अनगार को आहार दान देकर ससार कम किया और मनुष्यायु का वध किया । उसके घर पाँच दिव्य प्रकट हुये । वे इस प्रकार हैं—

(१) स्वर्ण-मोहरो की वर्षा हुई, (२) पाँच वर्ण के फूलो की वर्षा हुई, (३) आकाश मे ध्वजा फहराई गई, (४) आकाश मे देवदुन्दुभी वजने लगी और (५) 'अहो दान अहो दान' की ध्वनि हुई ।

हस्तिनापुर नगर मे निरस्तो, चौराहो यावत सडको पर अर्थात् जगह-जगह, जनता इस प्रकार कहने लगी, इस प्रकार भाषण करने लगी और इस प्रकार प्रतिपादन करने लगी, इस प्रकार प्ररूपणा करने लगी कि—देवानुप्रिय, यह सुमुख गाथापति धन्य है । यह पुण्यवान है, यह सुलक्षण है, इसका मनुष्य-जन्म सार्थक हुआ, इसकी ऋद्धि सफल हुई, यावत—यह धन्य है ।

कुछ लोगो का कहना है कि सुमुख गाथापति ने मनुष्य का आयुष्य बाँधा, इससे सिद्ध होता है कि उससे मिथ्यात्व-दशा मे दान दिया था । मगर उनका यह कथन मिथ्या है । सुमुख गाथापति मे ऐसी अनन्य भक्ति थी जैसी आजकल के उत्कृष्ट श्रावको में भी नही देखी जाती । इस प्रकार की आन्तरिक भक्ति सम्यग्दृष्टि में ही सम्भव है । अत दान देते समय वह सम्यग्दृष्टि ही था, क्योकि सम्यग्दृष्टि के चिह्न उसमे स्पष्ट रूप से पाये जाते है ।

प्रश्न हो सकता है कि भगवती सूत्र के शतक ३०, उ० १ के कथनानुसार सम्यग्दृष्टि मनुष्य एव तिर्यंच वैमानिक गति के अतिरिक्त अन्य गतियो का वन्ध नही कर सकता, मगर सुमुख ने मनुष्य गति का वध किया है । ऐसी स्थिति में उसे सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि जो मनुष्य और तिर्यंच विशिष्ट क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) होते हैं और अतिचार रहित निर्मल व्रत का पालन करते हैं, वे वैमानिक की ही आयु वाँधते हैं, सामान्य क्रियावादी के लिए यह नियम लागू नही होता ।

कहा जा सकता है कि भगवती सूत्र मे क्रियावादी पद है और विशिष्ट क्रियावादी नही लिखा है । फिर आप क्रियावादी का

अर्थ विशिष्ट क्रियावादी कैसे करते हैं ?

इसका समाधान यह है कि दशाश्रुतस्कध सूत्र मे महारभी और महापरिग्रही क्रियावादी को नरक मे जाना कहा है। अगर सभी क्रियावादी वैमानिक आयु ही बाँधते हो तो दशाश्रुतस्कध का कथन असगत हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवती सूत्र मे जिस क्रियावादी के लिये एक वैमानिक की ही आयु बाँधने का नियम बताया है, वह विशिष्ट क्रियावादी ही है, सभी क्रियावादी नहीं।

एक बात और। भगवती सूत्र के श० १ उ० २ मे विराधक श्रावक की उत्पत्ति जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवो मे बतलाई है। विराधक श्रावक भी क्रियावादी है, फिर भी वह वैमानिको मे उत्पन्न नही होता। इससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक क्रियावादी को वैमानिक की आयु बाँधने का नियम नही है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य आयु का बध देखकर सुमुख गाथापति को—मिथ्यादृष्टि कहना मिथ्या+ है।

इस पूर्ण पवित्र दान से पाँच दिव्य प्रकट हुये, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

कई भाई यह सोचेंगे कि सुदत्त मुनि ने मास-खमण का पारणा किया और उन्हे दान देने से स्वर्ण-मोहरो की वर्षा हुई, परन्तु आजकल के मुनि दो-दो मास का उपवास करते हैं और हम उन्हे दान भी देते हैं मगर स्वर्ण की वर्षा नही होती। स्वर्ण की बात छोड दीजिये, आजकल तो रुपयो की भी वर्षा नही होती। यहाँ तक कि तांवे के पैसो तक की कही वर्षा नही देखी-सुनी जाती। ऐसा सोचने वालो को शायद यह नही मालूम कि स्वर्ण-मोहरो की वर्षा की लालसा ही उस वर्षा मे एक बड़ी रुकावट है। जो लोग स्वर्ण-वर्षा की कामना करते हैं, वे थोडा देकर बहुत कुछ पाने की इच्छा करते

+इस विषय की विस्तार-पूर्वक चर्चा के लिए सद्धर्ममण्डन (पृष्ठ ४०) देखिये।

है । यह स्पष्ट ही एक प्रकार का व्यापार है । व्यापारी के आँगन मे देव स्वर्ण-वर्षा नही करते । स्वर्ण-वर्षा दाता के घर होती है और सच्चा दाता वही है, जिसके अन्त कारण मे दान के वदले मे कुछ भी पाने की अभिलाषा नही होती, जो देने के लिए ही देता है, पाने के लिए नही । ऐसा दाता विरला ही होता है ।

सुमुख गाथापति ने सुदत्त मुनि को दान दिया और देवो ने पाँच दिव्य वस्तुएँ प्रकट की । अव आप जरा वनियापन के हिसाव से इन पर विचार कीजिए । सुमुख ने जो दान दिया, अधिक-से-अधिक महँगे भाव से हिसाव गिनने पर उसका कितना मूल्य हुआ ? वहुत होगा तो दो रुपया समझ लीजिए । मगर यह न भूल जाइये कि सुमुख इस महँगाई के जमाने मे नही था । जिस जमाने मे सुमुख ने दान दिया, वह भारतवर्ष का स्वर्णमय काल था । उसे लगभग अढाई हजार वर्ष से अधिक समय वीत गया । उस समय के सस्तेपन की आज कल्पना करना ही कठिन प्रतीत होता है । इतनी दूर की वात जाने दीजिये, औरगजेब के समय—जिसे लोग क्रूर वादशाह कहते हैं एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था, तव हजारो वर्ष पहले कितने सेर मिलता होगा ? इस प्रकार उस सस्तेपन को ध्यान मे रखते हुये इस दान की कीमत का अदाज लगाइये तो वह वहुत थोडी वैठेगी ।

इसमे भी एक वात और है । दान की वह वस्तु मुनि के लिए तैयार नही की गई थी । वह घर वालो के लिए ही तैयार की गई थी और सहज भाव से उसमे से दान दिया गया था । इस दृष्टि से उस देय वस्तु की कोई कीमत ही नही रह जाती ।

ऐसा होने पर भी देवो ने पुष्प-वर्षा की, स्वर्ण वरसाया इसका क्या कारण है ? इसका मुख्य कारण यही था कि दाता के भाव वहुत शुद्ध थे और उच्च थे । इसी कारण इस दान की कीमत वढ गई और देवताओ ने स्वर्ण मोहरो की वर्षा की । सुमुख गाथापति को

अगले जन्म मे जो अतिशय ऋद्धि और अन्त मे सिद्धि का लाभ हुआ, वह तो अलग ही है ।

इस वर्षा का अभिप्राय क्या है ? इस वर्षा द्वारा मानो देव कहते हैं—ऐ मनुष्यो ! तुम बडे भाग्यशाली हो । देवताओ ने इन सोनैयो की वर्षा क्या की, मानो अपनी लघुता और मनुष्यजन्म की महत्ता प्रकट की और 'अहो दाण अहो दाण, करके सोनैयो की वर्षा कर दान का उत्सव मनाया । मित्रो ! दान करने का अवसर मनुष्य को सहज ही मिलता है और देवता इसके लिए तरसते हैं । अतएव सुपात्रदान के लिए सदा उद्यत रहो । जो कृपण इस कथा को सुनकर भी दान देने के लिए तैयार नही होता, जिसके हृदय मे दान देने की भावना ही जागृत नही होती, जो उपेक्षा अथवा अवज्ञा करके दान देता है, ऐसे मनुष्य को इस कथा के सुनने से भी कोई लाभ नही पहुँच सकता ।

जिस दान की प्रसन्नता से प्रेरित होकर देवता स्वर्ण-वर्षा करते है, वह दान देने की योग्यता, हे मनुष्य ! तेरे ही भीतर है। यह तेरा कितना महान् पुण्य है ?

दान के विषय मे एक बात मुझे और याद आ गई । औरगजेब के जमाने मे एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। चावल आठ मन मिलते थे । इस हिसाब से इस दान की कोई खास कीमत नहीं हुई, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अन्न की कीमत सोनैयो से ज्यादा है । जीवन की दृष्टि से तो स्पष्ट है कि अन्न के सामने मोहरें नगण्य हैं । आपके पास हजार मोहरें हैं, लेकिन आप जगल मे रास्ता भूलकर भटकते-फिरते है । भूख के मारे प्राणो पर सकट आ पडा है । ऐसी दशा मे मोहरें किस काम आएंगी ? क्या मोहरें खाकर कोई जीवन-निर्वाह कर सकता है ? नही । वास्तव मे जीवन के लिये अन्न के सामने मोहरें मूल्यहीन हैं और अन्न की कीमत का क्या अनुमान किया जाय, जिसके विना जीवन नही चल सकता ।

जो लोग इतने बहुमूल्य अन्न को जूठन मे फैंक देते हैं, उस की अवज्ञा करते हैं, समझना चाहिए उन्होने अन्न का महत्त्व ही नही समझा । जूठन डालना एक बडा पाप है । जिस जूठे अन्न को आप फैंक देते है, उससे कई एक अपना जीवन निभा सकते हैं । अतएव अन्न को वृथा जूठन मे डालकर दूसरो को भूखा रखने का पाप मत करो ।

तुम्हारे पास एक ऐसी शतरजी है, जिसे ठीक तरह फैलाकर बिछाने से आठ-दस आदमी बैठ सकते हैं । किन्तु आप उसे दोहरी, चौहरी करके अकेले ही उस पर अकडकर बैठो और दूसरे आने वालो को जमीन पर बैठना पडे, तो क्या तुम सभ्य कहलाओगे ? नही । हाँ, तुम अपने मन मे सबसे ऊपर बैठने का अभिमान भले ही अनुभव कर लो, मगर लोगो की निगाह मे तुम गिर जाओगे । लोग तुम्हें असभ्य ही कहेगे । इसी प्रकार जिस अन्न को खाकर २-४ आदमी अपना निर्वाह कर सकते हैं, उसे जो जूठन मे फैंक देता है अथवा लोलुपता के वशीभूत होकर अनावश्यक रूप मे पेट मे ठूसता है, क्या उसे आप सभ्य मानेंगे ?

भोजन कैसा करना चाहिये, इस विषय का विचार बहुत लम्बा है । यदि उस पर ठीक तरह विचार किया जाय और आप उसे लाभदायक समझ लें तो आपको अपनी सारी भोजन-विधि बदलनी पडेगी । यहाँ सम्पूर्ण भोजन-विधि पर विचार करने का अवसर नही है, तथापि इतना अवश्य कहता हूँ कि आपने भोजन-विधि में बडी गडबडी पैदा कर ली है । प्रथम तो भोज्य-पदार्थों के औचित्य पर आपका ध्यान नहीं जाता । आप भोजन को जिह्वा-आस्वाद की कसौटी पर कसते हैं, जीवन की कसौटी पर नही । दूसरे भोजन के परिमाण का विचार नही करते । शरीर के लिये वास्तव मे कितने भोजन की आवश्यकता है, यह कम ही देखा जाता है । कई लोग ठूँस-ठूँसकर भर लेते हैं । कदाचित् दूसरे के यहाँ

दावत हो तो फिर पूछना ही क्या है ? इस लोलुपता के कारण तत्काल अजीर्ण रोग हो जाता है । अजीर्ण प्रारम्भ मे हल्का लगता है और वह चूर्ण आदि के द्वारा मिटा लेते है, परन्तु जब अधिक बढ जाता है तो सोडा-वाटर और लेमन आदि की बोतलें पीने की आदत डालनी पडती है । जब इनमे भी काम नही चलता और भोजन ज्यो-का-त्यो चलता रहता है तो बदहजमी बढ जाती है और फिर जुलाब का शरण लिया जाता है । जब जुलाब भी जवाब दे देता है तो दवाइयो का आसरा लेना पडता है और वैद्यो की सेवा करनी पडती है । फिर वसन्तमालती और मकरध्वज जैसी महगी दवाइयो के लिये पैसा बर्बाद करना पडता है । मगर यह सब भाडे की पाचनशक्ति आखिर कब तक काम देगी ? अन्त मे शरीर रोगो का घर बनकर निकम्मा हो जाता है । अतएव प्रथम ही भोजन के परिमाण का विचार रखना चाहिये और कीमती भोजन के प्रलोभन मे नही पड़ना चाहिये । सादा और सात्विक भोजन करने वाला ही 'दच्चा' और 'भोच्चा' का लाभ उठा सकता है ।

हे पुरुष ! तू ऐसा न करके, जो भोजन् करता है उससे दो-चार आदमियो का पेट भर सकता है और तू जैसा भोजन करता है, उसमे सादे भोजन की अपेक्षा चार गुना और आठ गुना पैसा ज्यादा खर्च होता है । मिताहारी और सात्विक भोजी बनकर, शेष का दान करके क्या पुण्य उपार्जन नही किया जा सकता ?

मित्रो ! सादा भोजन बच जाय तो दूसरे को दिया जा सकता है । कदाचित् उस समय मुनि आ गये तो फिर कहना ही क्या है ? लेकिन दाल का हलवा या खोये की मिठाई बच जाय तो क्या सादे भोजन की भाँति सहज भाव से उसका दान किया जा सकता है ? नही । बहिनें बचे हुए हलुवा को फिर सेंककर काम मे ले लेती हैं, पर गेहूँ की सादी रोटी बच जाय तो उसे किसी भूखे को देने की भावना हो ही जाती है ।

शास्त्रानुसार भोजन करने वाला प्राय. बीमार नही होता । कभी उससे असावधानी होती भी है तो उपवास करके वह रोग के कारण को मिटा देता है । शास्त्रविहित भोजन करने वाला कभी पेटू नही बनता । वह और दो-चार को भोजन कराकर दुनिया का भला करता है । वह वैद्यो और डाक्टरो के घर जाने वाले पैसो की बचत कर लेता है और आरोग्यता का भी आनन्द उठाता है।

सरस और गरिष्ठ भोजन करने से तरह-तरह की बीमारियाँ खडी हो जाती हैं । इसलिये मैं भाइयों और बहिनो को और विशेषत विधवा बहिनो को ऐसा भोजन न करने की सलाह देता हूँ । सरस और गरिष्ठ भोजन करने से काम-क्रोध की वृद्धि होती है और मोह की उत्पत्ति होती है । सरस भोजन अगर विधवा बहिनें करेंगी तो उनमे से कइयो को लुक-छिपकर पाप करने की भावना होगी । ऐसा भोजन पाप मे सहायक होता है और धर्म को नष्ट करने वाला है । लुक-छिपकर किया जाने वाला पाप, खुलकर किये जाने वाले पाप से भी अधिक बुरा है ।

विधवा बहिनो का धर्म क्या है ? उन्हे क्या करना चाहिये ? इस विषय पर मैं हो सका तो फिर कभी प्रकाश डालूंगा । आज तो सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि उन्हे तथा सर्वसाधारण को अन्न का आदर करना चाहिये । सात्विक आहार के अतिरिक्त दूसरे खान-पान से बचना चाहिये ।

मित्रो ! अन्न मे अजीव शक्ति है । इसका दान करने से मनुष्य बडे पुण्य का बध करता है । कई लोग कहते हैं—हाय, क्या करें ? हम करोडपति नही बने, अन्यथा दान करने का अवसर मिलता । मगर मैं कहता हूँ—अरे कायरो । रोते क्यों हो ! क्या अन्नदान मे कम शक्ति है ? सुमुख गाथापति ने अन्न ही का तो दान दिया था, फिर भी देवो ने स्वर्ण की वर्षा की । अगर स्वर्ण की अपेक्षा अन्न कम कीमती होता तो अन्न के बदले देव स्वर्ण

क्यो बरसाते ? लेकिन ऐसी बात नही है । स्वर्ण मे प्राण दूर हैं, अन्न मे प्राण नजदीक हैं । नेत्रो मे देखने की शक्ति, कानों मे सुनने की शक्ति, नाक मे सूघने की शक्ति जीभ मे चखने की शक्ति और हाथो-पैरो मे काम करने की शक्ति अन्न के ही प्रताप से है । दो-चार तो क्या, एक दिन भी अन्न के बिना काम नहीं चल सकता । जो उपवास आदि करते हैं, वे अपने आत्मबल से—मनोबल से, अन्न के द्वारा शरीर मे रही हुई शक्ति से ही करते हैं । अतएव जैसे घास मे घी दूर और दूध मे नजदीक है, उसी प्रकार सोने में प्राण दूर और अन्न मे नजदीक है ।

आप मुनि को जो अन्न दान करते हैं, उसी के द्वारा वे ध्यान, सयम, तप आदि धर्म-साधना करते हैं । आप मुनि को दान क्या देते है, मानो सर्वकामना पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष को सींच रहे हैं । साधारण प्राणी इसी के द्वारा सम्यक्त्व या पुण्य बाध लेता है । जो अज्ञानी यह बात स्वीकार नही करता, समझना चाहिए कि उसने शास्त्र श्रवण ही नही किया ।

सोनैया बरसाकर देवो ने पाप किया, इस भ्रम का निवारण करने के लिये यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है । लौकिक उदाहरण देने से यह बात जल्दी समझ मे आ जायगी । गृहस्थ अपने पुत्र या पुत्री की सगाई करता है । जहाँ सगाई की जाती है, उन लोगो को वह अपना सबधी समझता है । स्त्रियाँ आपस मे सम्बन्धित होती है । दोनो ओर से ऐसा ही समझा जाता है । जब तक सगाई नही की गई थी तब तक तो कोई बात ही नहीं थी, पर जब सगाई की गई तब एक सम्बन्धी जब दूसरे सम्बन्धी के यहाँ मिलने जाता है या एक सम्बन्धी जब दूसरे सम्बन्धी से भेंट करने जाता है, तब गृहस्वामी अपने आगत सम्बन्धी को आदरपूर्वक बिठलाता है । पान सुपारी आदि से सत्कार करता है । सुन्दर भोजन बनवाये जाते हैं और आग्रहपूर्वक जिमाया जाता है । तब

लडका वाला यह समझ लेता है कि मेरे यहाँ जो सगाई की गई है, वह पक्की है । अगर लडकी वाला हो तो यह समझता है कि मैंने जिस लडकी की सगाई की है, वह इन्हे पसन्द है । इस प्रकार दोनो ही दोनो के मनोभाव समझकर हर्षित होते है और परस्पर एक-दूसरे का गुणगान करते हैं । अगर गृहस्वामी इससे विपरीत व्यवहार करे और आगन्तुक का यथोचित सत्कार न करके मुँह चढाये बैठा रहे तो लडकी वाला समझ जाता है कि इन्हे मेरी लडकी पसन्द नही है । अगर लडका वाला हुआ तो वह भाँप लेता है कि इनकी इच्छा सगाई छोडने की है । मतलव यह है कि प्रत्यक्ष शब्दो से हाँ या ना न करने पर भी अपने मनोभाव कार्य द्वारा प्रकाशित कर दिए जाते है । देवो ने 'अहो दान अहो दान' करके भी दान की प्रशसा की और स्वर्ण-वर्षा करके भी दान की अनुमोदना की । जब दान देना पाप नही है तो उसकी अनुमोदना करना, पाप कैसे कहा जा सकता है ? जो कार्य परम पुण्यरूप है, उसकी अनुमोदना भी पुण्य ही है ।

सुमुख गाथापति ने सुदत्त अनगार को दान दिया और देवो तथा मनुष्यो ने इसकी खुशी मनाई । इस दान के उत्सव से जनता मे वडा भारी आनन्द फैल गया । लोग जगह-जगह परस्पर सुमुख के दान की सराहना करने लगे और सुमुख के जीवन को धन्य मानने लगे ।

जगत् दान-धर्म का महत्त्व पहचान ले, इसी आशय से शास्त्र मे इस कथा का वर्णन आया है, अन्यथा गौतमस्वामी का प्रश्न तो इतना ही था कि यह सुवाहुकुमार किस कर्त्तव्य से सुवाहुकुमार वना ? परन्तु शास्त्र इस कथा से जगत् को उपदेश देना चाहता है ।

दान देने के पश्चात् सुमुख की क्या स्थिति हुई, इस विषय मे शास्त्र कहता है—

मूल — तए ण से सुमुहे गाहावई वहूहिं वाससयाइ आउय पालित्ता

कालमासे काल किच्चा इहेव जबूदीवे भारहेवासे हत्थिसीसे नयरे अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणीए देवीए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववण्णे । तए ण सा धारिणी देवी सयणिज्जसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी-ओहीरमाणी तहेव सीह पासइ, सेस त चेव जाव उप्पि पासाएव—विहरइ । एव खलु गोयमा ! सुबाहुणा इमा एयारूवा मणुस्सरिद्धी लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया ।

अर्थात्—तदनन्तर सुमुख गाथापति कई सौ वर्षों तक आयु भोगकर—सुख से जीवन व्यतीत करके काल के अवसर पर अर्थात् सम्पूर्ण आयु भोगकर इसी जम्बूद्वीप के भरत (खड) क्षेत्र मे, हस्तिशीर्ष नगर मे महाराज अदीनशत्रु की धर्मपत्नी धारिणी देवी की कोख मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ । जब सुमुख गाथापति अपना पहले का शरीर छोडकर इस देवी की कोख मे आया, तब देवी ने अर्ध-सुप्त अवस्था मे सिंह का स्वप्न देखा । बाद मे सुबाहु के रूप में मनुष्य-शरीर धारण किया । शेष सब कथा पहले के समान ही समझना चाहिए, यावत्—ऊँचे प्रासाद मे भोग भोगता हुआ विचरता है ।

लोक मे कहावत है—'होनहार विरवान के होत चीकने पात ।' अर्थात् जो पुरुष होनहार होता है, उसकी बुनियाद शुरू से ही विलक्षण ढग ही होती है । इस कहावत के अनुसार सुबाहु के होने से पहले उसकी माता ने सिंह का स्वप्न देखा । सुबाहु बडा बुद्धिमान और बहत्तर कलाओ मे परिपक्व था । युवावस्था आने पर एक दिन रथ मे बैठकर भगवान महावीर के दर्शन करने गया । वहाँ प्रतिबोध प्राप्त किया और बारह व्रतो को स्वीकार कर सच्चा श्रावक बन गया ।

भगवान कहते हैं—गौतम ! तुमने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर हो चुका । सुबाहु कौन था ? इसका पहले क्या नाम था ? किस नगर मे जन्मा था ? इत्यादि बातें तुम्हे बतला दी । अब

यह भी समझ लो कि इसमे यह कान्ति कैसे पैदा हुई और यह ऋद्धि कैसे आई ?

मित्रो ! यह तो ऊपर की बात हुई। इसके अन्तरग का गहरा विचार करने पर मुझे इसमे अमूल्य रत्न नजर आते हैं। इस कथा मे कितना और क्या-क्या रहस्य भरा हुआ है, यह तो ज्ञानी ही जानते हैं, परन्तु अपनी बुद्धि के अनुसार रहस्यो को खोज निकालने का अधिकार हम लोगो को भी है। गरुड पक्षी आकाश मे बहुत ऊँचे और दूर तक उड सकता है, क्या पतग उतना उड सकता है ? नही। फिर भी जिस आकाश मे गरुड को उडने का अधिकार है, उसी आकाश मे पतग को उडने का हक है। महाज्ञानी अपनी बुद्धि को बहुत गहराई मे ले जाकर विचार करते हैं और महाशान्ति प्राप्त करते हैं। उसी गहराई की ओर अपनी अल्प बुद्धि ले जाकर रहस्य को थोडा-बहुत समझकर हम लोग भी आत्मानन्द प्राप्त कर सकते हैं। यह हमारा हक है। उन ज्ञानियो की बुद्धि मे और हमारी बुद्धि मे बहुत अन्तर अवश्य है, तथापि विचार करने का हक तो सभी को है। कुमार्ग मे जाने वाली बुद्धि को इस प्रकार सन्मार्ग मे लगाने से कल्याण होता है।

शास्त्र मे चार प्रकार के मेघ कहे गये है—(१) पहला क्षेत्र मे बरसने वाला, (२) दूसरा अक्षेत्र मे बरसाने वाला, (३) तीसरा क्षेत्र और अक्षेत्र—दोनो मे बरसने वाला और (४) चौथा क्षेत्र या अक्षेत्र मे से किसी मे भी न बरसने वाला। इसी प्रकार चार तरह के दातार होते है— क्षेत्र मे बरसने वाला अर्थात् सुपात्र को दान देने वाला, अक्षेत्र मे बरसने वाला अर्थात् अपात्र को दान देने वाला तीसरा क्षेत्र अक्षेत्र मे बरसने वाला अर्थात् सुपात्र और कुपात्र दोनो को दान देने वाला और चौथा कही न बरसने वाला अर्थात् किसी को दान न देने वाला। कई अति उदार पुरुष ऐसे होते हैं, जो दोनो को ही दान देते हैं। वह सुपात्र को तो देते ही है, पर प्रवचन

प्रभावना आदि के लिए कुपात्र को भी दान देते हैं। कुपात्र धर्मबुद्धि से चाहे दान का अधिकारी नही है, तथापि करुण-बुद्धि से प्राणिमात्र दान का अधिकारी है।

सभी प्रकार के दाताओ मे सुपात्र को दान देने वाला श्रेष्ठ है। सुपात्रदान से बडा लाभ होता है। लोग बहुतसा धन खर्च करते हैं। अगर वह सुमार्ग मे लगाया जाय तो बडी उन्नति हो। कहने का तात्पर्य यही है कि जैसे दान का उपयोग सुपात्र मे करना चाहिए, उसी प्रकार बुद्धि का उपयोग सुशास्त्र मे करना चाहिए और यह बात जान लेना ही पर्याप्त नही है, वरन् जीवन-व्यवहार मे प्रयोग करने से ही लाभ हो सकता है। कोई रसोइया पाकशास्त्र की बहुतसी बातें जान ले, अमुक चीज किस प्रकार बनती है और फलां चीज कैसे बनाई जाती है, यह सब उसे मालूम हो जाय, तो भी इतने मात्र से कोई विशेष लाभ नही होता। इससे ज्ञान तो हो जायगा मगर असली आनन्द तो चीजें बनाकर उनका भोजन करने से ही होगा। शास्त्र का श्रवण कल्याण के लिए करते हो, यह अच्छा है, पर शास्त्र मे प्ररूपित कर्तव्य का पालन करने से ही आनन्द लाभ होगा।

भगवान महावीर ने गौतमस्वामी को सुबाहु का पूर्वजन्म बतला दिया। मगर बहुत से लोगो को पूर्वजन्म के होने मे ही सदेह है। पूर्वजन्म का विषय महाविषय है। इसे सिद्ध करना बडे महत्व का काम गिना जाता है। भगवान ने गौतम को पूर्वजन्म की बात साक्षात् बतला दी। जो नियम सिन्धु मे है, वही नियम बिन्दु मे भी है। सुबाहु के पूर्वजन्म को बतलाने मे बडा रहस्य है। उस जमाने मे जो नास्तिक—पूर्वजन्म को न स्वीकार करने वाले रहे होगे, उन पर भगवान की इस बात का गहरा असर हुआ होगा। उनमे से कई एक भव्य आस्तिक बन गये होगे और पूर्वजन्म की सत्यता स्वीकार करने लगे होगे। पूर्वजन्म की यह कथा सुनकर नागरिक लोगो को

कितना कुतूहल और कितना आनन्द हुआ होगा ! आज कोई महाज्ञानी पुरुष आपके पूर्वभव का वृत्तान्त वतला दे कि आप अमुक शहर के निवासी थे, अमुक नाम था—इत्यादि तो आपको और साथ ही दूसरो को कितना आश्चर्य होगा ? इसी प्रकार जब साक्षात् भगवान ने सुबाहु के पूर्वजन्म का हाल कहा तो लोगो को कितना आश्चर्य हुआ होगा ? सभवत हस्तिनापुर से हस्तिशीर्ष नगर कुछ ही दूर होगा। दोनो वडे-वडे नगर थे। जिसे विश्वास न होता वह वहाँ जाकर पूछताछ भी कर सकता था।

जैन-सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाले, शास्त्र की इस बात को सत्य मानेंगे ही, परन्तु अन्य मतावलम्वी अगर जिज्ञासा से प्रेरित होकर जैनधर्म का अध्ययन करे और पूर्वजन्म के इस वृत्तान्त को बनावटी मान ले तो उसके लिए क्या उत्तर होगा ? कोई विशिष्ठ ज्ञानी महात्मा होता तो वह प्रत्यक्ष मे पूर्वजन्म सिद्ध करके वता देता, परन्तु हम लोगो मे यह सामर्थ्य नही है। तथापि पूर्वजन्म का अस्तित्व प्रमाणित करने वाली घटनाएँ आज भी कही-कही सुनी जाती हैं।

मैं जब घाटकोपर (वम्वई) मे था तव एक समाचार-पत्र मे एक घटना पढी थी। उसमे यह उल्लेख था कि सरकारी जाँच से यह प्रकट हुआ कि मद्रास प्रान्त मे किसी गाँव मे (समाचार-पत्र मे गाँव, नाम आदि का पूरा व्यौरा दिया गया था, मगर मुझे इस समय स्मरण नही हैं।) एक महिला रहती थी। वह अपनी लडकी के साथ दूसरी जगह जा रही थी। रास्ते मे लडकी विचार करने लगी—यह रास्ता तो मेरा देखा हुआ है, लेकिन कभी मैं इस ओर आई तो नही हूँ। वह ज्यो-ज्यो आगे चली, रास्ता और वहाँ के पेड-पहाड आदि सव देखे हुये मालूम पडे। जब रास्ते मे नदी आई तो पक्का विश्वास हो गया कि इस नदी पर मैं अनेक वार जल भरने आई थी। वह लडकी आनन्द के कारण हँसने लगी। तव उसकी माँ ने कहा—विना वा[illegible] हँस रही है, क्या पागल हो गई है ? लडकी ने उत्तर दिया—न[illegible]

माँ, मैं पागल नही हुई हूँ। मुझे यह रास्ता, नदी, पेड पहाड आदि सब देखे हुये प्रतीत होते हैं और जब मैं आगे के किसी निशान का विचार करती हूँ, वही आगे आ जाता है। इसी कारण मुझे बडा आनन्द हो रहा है और हँसी आती है।

माँ और बेटी चलती-चलती शहर मे पहुँची। वहाँ पहुँचकर लडकी तमाम बाते बतलाने लगी—मैं अमुक की पत्नी थी, अमुक मुहल्ले मे अमुक जगह मेरा घर था। मेरे सास-ससुर का नाम यह था, आदि। माता को उसकी बात सुनकर बडा ही आश्चर्य हुआ। माँ उसे लेकर उसके घर गई। उसने अपने सब सम्बन्धियो को पहचान लिया। बहुत से लोग इस विचित्र घटना के कारण इकट्ठे हो गये। जब लडकी ने यह बतलाया कि अमुक-अमुक वस्तु अमुक-अमुक ठिकाने छिपाई हुई रखी है, तब तो घर वालो को और दूसरे लोगो को उसकी बात मे कुछ भी सन्देह न रह गया। उन्होंने उसके पूर्वजन्म की सत्यता स्वीकार की। उस लडकी ने अपने पूर्वजन्म के पति को ही पति रूप मे स्वीकार किया।

ऐसी ही एक घटना अमेरिका मे घटी थी। एक नामी विद्वान् की पुत्री मरकर छाया रूप मे नही, किन्तु साक्षात् रूप मे मिली थी और उसने अपने पूर्वजन्म की समस्त बातें बतलाई थी। अमेरिका के कोई-कोई विद्वान् पूर्वजन्म का पता लगाने की चेष्टा करते हैं। जब विज्ञान का विशेष विकास होगा और उसकी गति अध्यात्म की ओर विशेष रूप से होगी, तब बहुतो का सन्देह मिट जायगा।

आजकल के शिक्षितो मे विशेष रूप से नास्तिकता पाई जाती है। जिन्हे धार्मिक वातावरण मे रहने का अवसर नही मिलता और जो आध्यात्मिक साहित्य के पठन-पाठन से वचित रहते हैं, उनमे आस्तिकता के सस्कार मुश्किल से ही आते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि छात्रो को अन्यान्य लौकिक विषयो के साथ धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जाय, जिससे वह ऐसे अत्यावश्यक विषय मे विपरीत श्रद्धा वाले

न वनें। भविष्य मे वनने वाले इन श्रावको पर मैं विशेष ध्यान रखना चाहता हूँ।

सुवाहुकुमार का यह चरित्र आजकल का लिखा हुआ नही है। यह हजारो वर्ष पहले सर्वज्ञ ने कहा था। गणधरो ने ग्रन्थ-रूप मे गूँथा और मुनियो द्वारा लिखा गया है। इसलिए इसमे सदेह करने का कोई कारण नही है। धर्म की भावना कम हो जाने से यह वात अटपटी भले लगती हो, किन्तु प्राचीन काल मे धार्मिक प्रेम विशेष था। उस समय के लोग आरम्भ से ही वच्चो को धर्मशास्त्र की वातें सिखाते थे। समय के हेर-फेर से आज यह वात नही देखी जाती।

जैनशास्त्र ने पत्थर मे जीव, मिट्टी मे जीव और वनस्पति मे जीव माना है। परन्तु दूसरे कई भाई इस मान्यता की हँसी उडाते थे। उनका कहना था कि पत्थर मे जीव कहाँ से आ गया? नमक में जीव कैसे माना जा सकता है? मगर विज्ञान के विकास के साथ यह स्थिति मिटती जा रही है। वैज्ञानिको ने इनमे जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है।

विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वोस का नाम विश्व मे विख्यात है। वह ससार के वडे वडे वैज्ञानिको मे गिने जाते हैं।‡ यूरोप आदि सभी जगह उनका मान है। ससार के कई धुरन्धर वैज्ञानिक उन्हे अपना गुरु मानने मे अपना अहोभाग्य समझते हैं। जगदीशचन्द्र वोस ने एक वार वम्वई मे वनस्पति मे जीव प्रमाणित करने वाला प्रयोग वतलाया था। दर्शको की फीस चालीस रुपया थी। लोकमान्य तिलक उस प्रदर्शन के अध्यक्ष (प्रेसीडेन्ट) थे। इतनी फीस होने पर भी दर्शको की अपार भीड थी। वहुत से लोगो को टिकट न मिल सका और उन्हे प्रदर्शन देखने से वचित होना पडा।

जगदीश वावू जिस समय अपना प्रयोग दिखलाने लगे, उनके

‡ इस व्याख्यान के समय वोस वावू जीवित थे। अव न वही मौजूद है, न इस व्याख्यान के व्याख्याता ही मौजूद हैं।

सामने पौधो के गमले लगा दिये गये। गमलो के आगे की ओर कांच के बडे-बडे तख्ते लगाये गये। फिर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर सजाकर उपस्थित जन-समूह से कहा गया—आप लोग सामने की ओर देखिए। मैं इन पौधो को खुश करता हूँ।

इतना कहकर बोस बाबू हर्षोत्पादक शब्दो मे सबोधन करके उनकी तारीफ करने लगे। ज्यो-ज्यो तारीफ की गई, पौधे खुश होकर बढने-फूलने लगे, जैसे किसी मनुष्य की स्तुति करने पर वह खुश होता है। इसके बाद बोस बाबू ने जब उनकी निन्दा आरम्भ की, उनके लिए अपमान-जनक शब्दो का प्रयोग किया, तब वही पौधे मुरझाने लगे। यह दृश्य देखकर लोग आश्चर्य से विह्वल हो गये। सभी को विश्वास हो गया कि वृक्षो मे जीव है, यह नि सन्देह है।

बोस बाबू इतना ही करके नही रह गये। उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि वृक्षो मे स्नायुजाल है और वह मनुष्यों के स्नायुजाल की भाँति स्पदित भी होता है। जैसे—एक मनुष्य के हाथ मे पैंसिल दे दी जाय। फिर उसमे बिजली की शक्ति का प्रयोग करने पर मनुष्य का हाथ अपने-आप काँपने लगता है और पास मे रखे हुए कागज पर पैंसिल की रेखाएँ अकित हो जाती हैं, उसी प्रकार पौधो के विशेष स्थान पर पैंसिल रखकर बिजली के द्वारा कागज पर पैंसिल की रेखाएँ अकित कराकर पौधो के स्नायु-जाल के स्पदन को सिद्ध करके दिखलाया।

मित्रो! यह एक-दो प्रयोग चालीस रुपया खर्च करने पर मालूम हुए। पर आप एक थोकडा सीखकर कितना साइस का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं? वैज्ञानिको ने जिस प्रकार वनस्पति मे जीव सिद्ध किया है, उसी प्रकार अन्य धातुओ मे भी सिद्ध किया है। परन्तु इनका यह साइस अभी अपूर्ण है। हमारे अरिहतो का साइस बहुत बढा-चढा है। वहाँ तक पहुँचने मे आधुनिक वैज्ञानिको को न मालूम कितना समय लगेगा! इन्होंने अभी तक एक ही अग की

खोज की है, परन्तु हमारे शास्त्रो मे इनका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन पाया जाता है। यह शास्त्र आजकल के प्रयोग देखकर नही लिखे गये हैं, वरन् हजारो वर्ष पहले लिखे गये हैं।

वनस्पति मे एक इन्द्रिय मानी जाती है। अतएव यह आशका की जा सकती है कि कान के अभाव मे शब्द कैसे सुने जा सकते हैं और शब्दश्रवणजन्य हर्ष-शोक किस प्रकार हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान विशेषावश्यक सूत्र और ठाणाग, आचाराग सूत्र की टीका मे अच्छी तरह किया गया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि द्रव्येन्द्रिय एक है, मगर भावेन्द्रिय पाँचो हैं।

जिस शास्त्र मे जीवो का इतना बारीक-से-बारीक हाल मिलता है उसे सर्वाङ्ग-पूर्ण शास्त्र कहना चाहिए और ऐसे शास्त्र की अन्यान्य बातो के—जैसे सुबाहुकुमार के चरित के—यथार्थ होने मे कोई सशय नही किया जा सकता।

इतने विस्तार के साथ कहने का मेरा आशय यह है कि जिन लोगो को सत्-शास्त्र और सद्गुरु का सयोग मिला है और जिन्हे उन पर पूर्ण श्रद्धा है, उन्हें शास्त्रानुसार क्रिया करके आत्म कल्याण करना चाहिए। यह अवसर जो आज आपको मिला है, न मालूम किस पुण्य से मिला है। यह बार-बार नही मिलता। सुअवसर से लाभ उठाने वाला मनुष्य ही चतुर और विवेकवान कहलाता है। आप इस अवसर को यो ही हाथ से न खो दें। अगर किसी को कलकत्ता जाने पर पाच-दस हजार रुपया मिलने की आशा हो तो क्या वह आलस्य करेगा? वह घर पर ही बैठा रहेगा? नहीं। तो फिर मित्रो! आपको इन शास्त्रो पर विश्वास है। इनके अनुसार चलने मे आप अपनी भलाई समझते हैं। फिर क्रिया करने मे क्यो सुस्ती करते हैं?

आप शास्त्र पर विश्वास रखते हो तो क्या परलोक पर अविश्वास करोगे? अगर आप परलोक पर विश्वास करते हो

उसे सुन्दर और सफल बनाने मे आलस्य क्यो करते हो ? आप घर बैठे-बैठे दूर देश मे चलने वाली दुकानो का ख्याल रखते हो, उनके हिसाब-किताब की ओर आपका परिपूर्ण ध्यान रहता है, तो परलोक को किस प्रकार भूल रहे हो ?

ससार मे आर्य-धर्म और आर्य-शास्त्र के समान कोई धर्म और शास्त्र नही है । कर्मयोग से आपको यह शास्त्र सुनने की योग्यता मिली है, इस पर विचार करके आप क्रिया करने मे जुट जाइये । कई भाई और बाइयाँ १५-२० दिनो की तपस्या (उपवास) कर रहे हैं । किन्तु केवल तपस्या करने से काम नही चलेगा । अन्त करण की निर्मलता की ओर ध्यान देना आवश्यक है । प्राणि-मात्र के प्रति प्रेमभाव रखने का ध्यान रखो । अहकार और काम-क्रोध को दूर करो । शान्त बनो । ऐसा करने से चित्त की शुद्धि होती हुई नजर आयेगी । चित्त-शुद्धि से ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा, जो केवल अनुभवगोचर है और वाणी के द्वारा नही कहा जा सकता ।

बहुत से लोग चित्त-शुद्धि को कठिन कार्य समझते हैं । वास्तव मे चिरकालीन काम, क्रोध, ईर्षा, द्वेष आदि के सस्कारो को समूल नष्ट कर देना एकदम सरल भी नही है । फिर भी निरतर के अध्यवसाय से यह असाध्य नही है । चित्त-शुद्धि का एक सरल उपाय मैं बतलाता हूँ । उसे कोई भी आजमा सकता है । वह है प्रभु के नाम का स्मरण । हर समय परमात्मा का नाम स्मरण करते रहो, आपके चित्त की मलिनता दूर होगी और आप को शाति का अनुभव होगा । इस नाम के आगे दूसरी सब वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होनी चाहिए । खाते-पीते, सोते, चलते-बैठते हरदम भगवान के नाम का स्मरण करते रहो । ऐसा करने से बहुत शीघ्र चित्त शुद्ध होगा । भगवान के शीघ्र ही दर्शन होंगे । ईश्वर की प्रार्थना करो । ईश्वर को पहचानने का प्रयत्न करो ।

कहा जा सकता है कि हमने कभी परमात्मा के दर्शन नही किये। बिना दर्शन हुए उससे प्रीति किस प्रकार की जाय ? कभी परमात्मा की वोली भी नही सुनी तो उसका स्मरण कैसे किया जाय ? यह प्रश्न ठीक है। इसका समाधान करने के लिए एक लौकिक दृष्टात उपयोगी होगा। आप अशुद्ध वस्तु को अच्छी तरह जानते हैं। उसके सहारे शुद्ध वस्तु को भी समझ जाएंगे।

एक मनुष्य किसी सुन्दरी महिला के रूप पर इतना मोहित हो गया कि उनके विना उसे चैन न पडता। उसे चलते-फिरते सदैव उसी वाई का ध्यान रहता। कब उससे मेरा मिलन हो और कब मैं अपने हृदय की प्यास बुझाऊँ, बस ऐसा ही विचार उसके मन मे सदा बना रहता था। उस मनुष्य की वात किसी दूसरी वाई ने जानी। वह विचारशीला और सदाचारिणी थी। उसने सोचा इस मनुष्य का पतन होने वाला है। यह स्वय तो भ्रष्ट होगा ही, एक मेरी वहिन को भी भ्रष्ट करेगा। अतएव इन्हे भ्रष्ट होने से बचाने का उपाय करना चाहिए।

अगर आपको ऐसे भोगाभिलाषी पुरुष का पता चल जाय तो आप क्या करेंगे ? आप मारेंगे, पीटेंगे या दुत्कारेंगे। इसके सिवाय और कुछ नही करेंगे। परन्तु सुधार का यह मार्ग ठीक नही है। यह तो उसे और गड्हे मे डालने का उपाय है। किसी को दुत्कार कर, फटकार कर या किसी के प्रति घृणा करके उसे पाप से नही बचाया जा सकता। अगर पापी से प्रेम करो और शान्ति-पूर्वक समझाओ तो वह बहुत आसानी से समझ जायगा।

उस दूसरी वाई ने यही रास्ता अख्तियार किया। वह उस कामी पुरुष के पास जाकर वोली—भाई, तू इतनी चिन्ता क्यो करता है ? तेरे मन की वात मैं जानती हूँ। अगर तू मेरा कहना माने तो मैं तुझे उस स्त्री से मिला दूंगी।

उस पुरुष ने कुछ घबराहट से कहा—एँ तुम मेरे मन की

वात जानती हो ? और उससे मिला दोगी ? किसने तुम्हें यह वात कही है ?

स्त्री—मैं तुम्हारे हाव-भाव से समझ गई हूँ। फिकर मत करो। मैं उससे मिला दूंगी।

पुरुष को कुछ तसल्ली हुई। उसने सोचा—चलो अच्छा हुआ। अनायास और मुफ्त ही एक दूती मिल गई।

स्त्री ने कहा—मैं तुम्हारा काम तो कर दूंगी, पर तुम्हे मेरा कहना मानना होगा। कहो, मानोगे ?

पुरुष—वाह, मैं तुम्हारा कहना नही मानूंगा ? अगर तुम उससे मिला दोगी तो मैं तुम्हारे लिए तन-धन निछावर कर दूंगा।

तो वस, ठीक है। इतना कहकर वह बाई चली गई। वह दूसरे दिन फिर आई। उसने पुरुष से कहा—भाई, चलो।

पुरुष की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने समझा, काम बन रहा है तो ढील क्यो की जाय ? वह जल्दी-जल्दी सजकर साथ चलने के लिए तैयार हो गया।

वह वाई उसे एक वडे सफाखाने मे ले गई। वहाँ कई एक रोगियो की चीर-फाड की जाती थी। कई सड रहे थे। कइयो के शरीर से लोहू और मवाद झर रहा था। चारो ओर दुर्गंध फैल रही थी।

यह सव वीभत्स दृश्य देखकर उस पुरुष ने कहा—ऐसे गन्दे स्थान पर क्यो ले आई हो ? मारे दुर्गन्ध के सिर फटा जाता है। चक्कर आते हैं। चलो जल्दी यहाँ से।

स्त्री— जरा ठहरो, वस चलती हूँ। इतना कहकर वह रोगियो से पूछने लगी—भाइयो, तुम्हे यह रोग कैसे हो गये ?

रोगियो मे से एक ने कहा—वहिन, क्या वताएँ, यह सव हमारे ही खोटे कर्मों के फल हैं। विषय-सेवन की कोई मर्यादा न पालने से किसी को सुजाक, किसी को गर्मी, किसी को कुछ और

किसी को कुछ रोग हो गया है। अगर हम मर्यादा मे रहे होते, पराई स्त्रियो को माता-बहिन समझते तो हमारी यह दुर्दशा न होती। मगर क्या किया जाय? अब तो अपने हाथ की बात रही नही।

स्त्री ने अपने साथी पुरुष को लक्ष्य करके कहा—सुना आपने, यह रोगी क्या कह रहे हैं? ध्यान से सुन लीजिये।

वह बोला—हाँ सुना। बस सुना। तुम बाहर निकलो। मेरा सिर दुर्गन्ध के मारे फटा जा रहा है।

दोनो बाहर निकल पड़े और अपने-अपने घर चले गये। स्त्री ने सोचा—मेरी दवाई ने अभी पूरा असर नहीं किया। खैर, कल फिर देखा जायगा।

दूसरे दिन वह फिर उसके घर पहुँची। चलने के लिये कहा। तब वह पुरुष कहने लगा—तुम उससे कब मिलाओगी? चकमा तो नही दे रही हो?

उत्तर मिला—भैया, उसी से मिलाने के लिए तो उद्योग कर रही हूँ।

पुरुप—तो ठीक है। चलो।

आज वह स्त्री उसे जेलखाने ले गई। कोई आजन्म कैदी था, कोई आठ वर्ष की और कोई दस वर्ष की सजा पाया हुआ था।

स्त्री ने एक कैदी से पूछा—कहो भाई, तुम किस अपराध मे सजा भोग रहे हो?

कैदी बोला—हम तो अलग-अलग अपराधो के अपराधी हैं। किसी ने चोरी की, किसी ने जालसाजी की, किसी ने परस्त्री-गमन किया। इसी कारण हम लोग इस नरक मे पड़े सड रहे हैं। किसी को भर पेट रोटी नही मिलती। कोई बहुत तग कोठरी मे रखा गया है। उसी कोठरी मे खाना, उसी मे पाखाना। कइयो को बेंत लगते हैं और बहुतो को चक्की पीसनी पडती है। ह

लोगो को जीवित अवस्था मे ही नरक से पाला पडा है ।

स्त्री ने अपने साथी से कहा—सुनो भैया, इनकी बातें । यह वेचारे कितना कष्ट पा रहे हैं । ध्यान दिया आपने ।

वह पुरुष बोला—होगा, इसमे हमे क्या सरोकार है ?

स्त्री ने सोचा—अब भी मेरा उद्देश्य पूरा नही हुआ । कल दूसरा प्रयोग करूँगी । यह सोच वह लौट गई ।

प्रातःकाल होते ही उसे समझा-बुझाकर साथ ले गई । उस ने आज कसाईखाने मे प्रवेश किया । वहाँ बकरो की गर्दन पर खचाखच छुरियाँ चल रही थी । प्राणी अपने प्राणो की रक्षा के लिए 'वें-वें' चिल्लाते हुए दूर भागना चाहते थे । मगर कसाइयो के हाथ से उन्हे कैसे छुटकारा मिल सकता था ? बडा ही निर्दयतापूर्ण दृश्य था । कही गायो-भैंसो का सिर कटा पडा था । कहीं कलेजा कटा पडा थड-थडा रहा था । कही किसी जानवर का चमडा उधेडा जा रहा था । कोई मास को इधर-उधर ले जा रहा था । कही हड्डियो के ढेर लगे थे और कही आगे कटने वाले जानवर खडे थे । दुर्गन्ध की तो बात ही क्या पूछना ? वह मनुष्य यह सब देखकर घबरा उठा । बोला—यह सब क्या हो रहा है ?

स्त्री ने कहा—भैया, घबराओ नही । अभी इन आदमियो से पूछ लेती हूँ । इतना कहकर कसाई से पूछा—भाई, तुम इन जानवरो को क्यो मारते हो ?

कसाई—मारें नही तो क्या करें ? पैसा कमायें नही ? इन्हे मारकर इनका मास बेचते हैं और अपने बाल-बच्चो की परवरिश करते हैं ।

स्त्री—भाई इन पर कुछ दया करो न ?

कसाई—दया किस पर ? यह तो हमारे खाने के लिए ही पैदा किये गये हैं ।

साथ का पुरुष बीच ही मे बोला—चलो यहाँ से, मुझ से

[illegible]ह दृश्य नही देखा जाता ।

स्त्री ने सोचा—ठीक है, हृदय कुछ तो पिघला ।

दोनो कसाईखाने से वाहर निकले । वाहर निकलने के वाद वह पुरुष कहने लगा—आखिर इतने पशु क्यो मारे जाते हैं ?

स्त्री—इन पशुओ ने पहले खराव काम किये होगे ।

पुरुष—क्या खराव काम किये होगे इन वेचारो ने ?

स्त्री—खराव काम यही—चोरी करना, विश्वासघात करना, किसी को ठगना, परस्त्री पर मोहित होना आदि ।

पुरुष—इन कामो का फल इतना भयकर है ।

स्त्री—सो तो तुमने अपनी आँखो देखा है ।

अन्त मे दोनो अपने-अपने घर चले गये । उस स्त्री ने विचार किया—ऐसे-ऐसे दृश्य दिखलाने पर भी ठीक परिणाम न निकला । वह अपनी वात के पीछे पागल हुआ जा रहा है । करना क्या चाहिये ?

सयोग की वात है कि जिस महिला पर वह मोहित था, उसका कुछ ही दिन वाद अचानक देहान्त हो गया । जैसे ही उस स्त्री को उसके देहान्त की खवर लगी कि वह दौडकर उस पुरुष के पास गई । जाकर उससे वोली—आज उससे मिलने का मौका है । चलो, देरी मत करो ।

वह पुरुष अतीव प्रसन्नता के साथ जल्दी तैयार हो गया । इत्र लगाकर और सुन्दर वस्त्र धारण करके चला ।

पुरुष के साथ आने वाली वाई को सभी जानते और आदर की दृष्टि से देखते थे । उसे वहाँ आती देख लोगो ने पूछा—आज आपका यहाँ कैसे पधारना हुआ ?

उसने उत्तर दिया—भाइयो, आज मैं एक महत्त्वपूर्ण काम से आई हूँ । आप सव लोग थोड़ी देर के लिए जरा वाहर हो जाइये ।

सव लोग वाई का कहना मानकर वाहर चले गए । उन्हे

विश्वास था कि यह बाई किसी-न-किसी धार्मिक काम के लिये ही आई है। अतएव उसका कहना मानने मे किसी को आपत्ति नही हुई।

बाई पहले अकेली अन्दर गई। मृत स्त्री को अच्छे कपडे पहनाये और आभूषण पहनाये। इत्र भी लगा दिया। फिर वह बाहर आई और उस पुरुष को अन्दर ले जाने लगी।

दोनो भीतर गये। बाई बोली—भैया लो यह तैयार है। भेंट कर लो।

वह पुरुष कुछ आगे बढा और फिर एकदम एक कदम पीछे लौटता हुआ घबराकर बोला—यह तो मर चुकी है।

बाई बोली—मरना कैसा ? वही शरीर है। वही कान और नाक हैं। वही मुख है। वही वस्त्र और आभूषण हैं। सभी कुछ वही तो है। फिर मर गई का क्या अर्थ ?

पुरुष—इसमे प्राण नही रहे।

बाई—तुम्हारा प्रेम प्राणो (आत्मा) से था या इस शरीर से ?

पुरुष—यह तो बडा ही भयकर है। मुझे भय मालूम होता है।

बाई—तो क्या तुम इसकी आत्मा को भ्रष्ट करना चाहते थे ? अरे पागल ! कसाई बकरा मारकर उसके शरीर के माँस को लेना चाहता है और तू इसके जीते जी ही इसके मास आदि पर अपना अधिकार जमाना चाहता था ? जिसके लिए तू तडफ रहा था, आज उसी से भयभीत हो रहा है। तेरा प्रेम ऐसा ही था !

पुरुष कुछ कहना ही चाहता था कि बीच मे बाई फिर बोल उठी—अरे मेरे भाई ! जितना प्रेम तू इस शरीर पर करता था, उतना अगर आत्मा पर किया होता तो तिर जाता, क्योकि सब आत्मा समान हैं। आत्मा ही अपनी दबी हुई शक्तियाँ विकसित

करके परमात्मा बन जाता है ।

मित्रो ! तुम मे से कोई भाई अगर दूसरे आत्मा को भ्रष्ट करना चाहते हो तो उन्हे मेरी सलाह है कि वे इस काम से बाज आएँ । जो पुरुष स्वस्त्री को छोडकर दूसरे आत्मा को भ्रष्ट न करना चाहे, वह अपना हाथ ऊँचा उठा दें ।

(बहुत से लोगो ने हाथ उठाकर परस्त्रीगमन का त्याग किया)

भाइयो ! परस्त्री के बदले परमात्मा से नेह जोडो तो कितना कल्याण होगा । कहा है—

जैसी दृष्टि हराम में, वैसी हरि में होय ।
चला जाय वैकुंठ में, पला न पकडे कोय ॥

वैकुठ दूर नही है । तुम्हारे और वैकुठ के बीच मे हराम का जो पर्दा है, उसे हटा दो । प्रभु के ध्यान मे मग्न हो जाओ । आत्मा को सिद्ध करो । काम, क्रोध आदि मलीन भावो को दूर कर दो । ऐसा करने से शीघ्र ही परमात्मा के दर्शन होगे ।

मूल—पभू ण भन्ते ! सुबाहुकुमारे देवाणुप्पियाण अतिए मुडे भवित्ता आगारो अणगारिय पव्वइत्तए ? हता पभू ।

तते ण से भगव गोयमे समण भगव महावीर वदति, नम-सति, २ त्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति । तते ण से समणे भगव महावीरे अन्नया कयाइ हत्थिसीसाओ णगराओ पुप्फकरडाओ उज्जाणाओ कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खाययणाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता बहिया जणवयविहार विहरति ।

अर्थात्—गौतमस्वामी ने प्रश्न किया—भगवान ! सुबाहुकुमार, देवानुप्रिय (आप) के निकट मुडित होकर गृहवास त्यागकर अनगार होने मे समर्थ है ।

भगवान ने उत्तर दिया—हाँ समर्थ है ।

तदनन्तर भगवान गौतम, श्रमण भगवान महावीर को वन्दन

करते हैं, नमस्कार करते है और वन्दन नमस्कार करके सयम एव तप से आत्मा को भावित करते हुये विचरते हैं। तत्पश्चात् श्रमण भगवान महावीर किसी अन्य समय हस्तिशीर्ष नगर से, पुष्पकरड उद्यान से और कृतवनमालप्रिय यक्ष के यक्षायतन से निकलते हैं। निकलकर बाहर जनपद-विहार विहरते हैं।

सुबाहुकुमार पूर्वजन्म मे कौन था ? उसने क्या कर्तव्य किया था ? यह वात गौतमस्वामी ने पूछ ली। भगवान महावीर की कही हुई परोक्ष बात मे किसी को किसी प्रकार का सन्देह न रहे, इस प्रयोजन से अब वह भविष्य की बात पूछ रहे हैं।

कई वर्षों वाद होने वाले सूर्यग्रहण का हाल अंधेरी कोठारी मे वैठा हुआ ज्योतिषी गणित के द्वारा पहले ही लिख देता है। वह ग्रहण ठीक समय—घटा और मिनिट भी बतला देता है। यह वात दूसरी है कि कोई ज्योतिषी गणना मे भूलकर वैठे और इस कारण समय मे अन्तर पड जाय और ग्रहण आगे-पीछे हो। परन्तु ज्योतिषी की गलती से ज्योतिष झूठा नही कहा जा सकता। ज्योतिषी की भविष्यकालीन बात सत्य होने से भूतकालीन बात भी सत्य मानी जाती है। इस लोकप्रसिद्ध उदाहरण के अनुसार सुमुख गाथापति ने सुदत्त मुनि से प्रतिलाभ किया। इस भूतकालीन बात को सुबाहु का भविष्य मे होने वाली दीक्षा का हाल कहकर पुष्ट किया।

सुबाहु नही जानता था कि मैं गृहस्थाश्रम त्याग कर कभी मुनि दीक्षा ग्रहण करूँगा। उसने अपनी शक्ति को देखकर श्रावक के वारह व्रतो का पालन करके ही यथासम्भव आत्मकल्याण करने का निश्चय किया था। किन्तु भगवान महावीर ने गौतम से सुबाहु के भविष्य की बात कही। उन्होंने फरमाया—सुबाहु एक दिन सिर मुडन करके अवश्य मुनि वनेगा।

सिर के वाल उतार देना ही मुडन नही कहलाता। मुंडन

का अर्थ यह भी है कि सिर पर रहे हुए गृहस्थी के भार को छोड़ कर हृदय के विषय-कषाय को निकाल बाहर कर देना ।

भगवान महावीर की बतलाई बात असत्य कैसे हो सकती है ? वह भूत-भविष्य को जानने वाले त्रिकालदर्शी महात्मा थे । सुबाहुकुमार के विषय मे उन्होंने जो भविष्यवाणी की, वह अन्त मे सत्य ही सिद्ध हुई । ऐसी स्थिति मे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि उनके द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग कदापि असत्य नही हो सकता । अतएव इस उपाय को काम मे लाने मे तनिक भी प्रमाद मत करो । प्रमाद का परित्याग कर निश्चयपूर्वक दृढ विश्वास के साथ मोक्षमार्ग पर अग्रसर होओगे तो असली सुख पाओगे ।

गौतमस्वामी अपने ही ज्ञान से जान सकते थे कि यह सुबाहु कौन था, इसने क्या काम किया, जिससे यह गति मिली ? किन्तु जगत् के कल्याण के लिए उन्होने भगवान से पूछा । गौतमस्वामी में रही हुई जगत्-कल्याण की भावना ही इस प्रश्न का प्रधान कारण थी ।

आज आप लोगो मे परोपकार की वृत्ति बहुत मन्द हो गई है । परोपकार की वृत्ति मन्द हो जाने से धर्म का सकोच हो गया है । भगवान महावीर और गौतम के प्रश्नोत्तर आज उपलब्ध न होते तो जनता का इतना उपकार कैसे होता ? ज्ञानी अपना ज्ञान अपने ही अन्त.करण मे दबा रखते तो अज्ञानियो को ज्ञान कैसे होता ?

गौतम स्वामी ने अपना ध्यान-मौन छोडकर सुबाहु वगैरह के विषय मे क्यो प्रश्न पूछे ? ध्यान-मौन मे रहने से उन्हें विशेष लाभ था । पर नही, उनमे परोपकार की प्रबल भावना थी । वह जनता की भलाई करना चाहते थे । इसी कारण वे प्रश्न पूछने में प्रवृत्त हुए । भगवान मृगालोढा के पास क्यो गये ? इसीलिए कि ससार को यह बता दें कि किस पाप से क्या फल प्राप्त होता है । जितशत्रु राजा को ज्ञान देने के लिये सुबुद्धि प्रधान ने ४६ दिन तक जल को

उथल-पुथल किया था। वह जितशत्रु को राह पर ले आया। गौतम स्वामी ने ध्यान-मौन छोड़कर यह सब प्रश्न भी परोपकार की पवित्र भावना से ही किये। अन्यथा वह सोच सकते थे कि जिसका जो भवितव्य हो सो होगा। मुझे अपना ध्यान-मौन छोड़ने की क्या आवश्यकता है ? पर नही, महापुरुषों के कार्य परोपकार की भावना से ही होते हैं।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
न चन्दनं जिघ्रति सौरभं च, परोपकाराय सतां विभूतयः॥

यह सुभाषित वचन है। सुभाषित वचन वह कहलाता है जो हर मजहब वाले के काम आ सके। सभी को नीति की आवश्यकता होती है। इन सुभाषित वचनो मे नीति का सार समाया है। एक विद्वान् ने कहा है—सच्ची पुस्तक कुदरत के काम ही है। प्रकृति की क्रीड़ा के पन्ने उलटकर ही सच्ची शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। ज्योतिष पचाग मे नही, आसमान मे है। पचाग मे उसका उल्लेख मात्र है। अगर यह बात आपकी समझ मे न आये तो एक प्रश्न पर आप विचार करें। बताइए तिजोरी मे रखा हुआ माल बहुमूल्य है या उसकी सूची-टीप बहुमूल्य है ?

माल।

इसी प्रकार पुस्तको मे—शास्त्रो मे—तत्त्व की टीप मात्र है। चौदह राजू लोक का नक्शा तो मनुष्य-शरीर के भीतर ही चित्रित है। मोक्ष कही दूर नही है। वह तुम्हारे ही भीतर बसा हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड तुम्हारे ही अन्दर है। मगर तुम उसे देखते कहाँ हो ? तुमने तो हाट-हवेली मे ही अपना पता मान लिया है। आप उन्हे ही अपना समझ बैठे हैं। खोटी वस्तुओ पर आपका इतना मोह है और सत्य की ओर से उदासीन हो रहे हो। इस मायाजाल से निकलो।

अरे पुरुष ! तू दो छोकरा-छोकरियो को ही क्यो अपना समझता है ? मूर्ख ! विचार कर। इन तुच्छ वस्तुओ मे क्या पड़ा है ! सारा ब्रह्माण्ड ही तेरा है। सकुचित भावना छोड दे तो तेरी नई

आँख खुल जायगी ।

प्रकृति का शास्त्र छोटा नही है। वह हमे क्या-क्या सिखाती है, यह विचार करने की अपेक्षा यह विचार करना अधिक उपयुक्त होगा कि वह हमें क्या नही सिखलाती ? वास्तव मे निसर्ग की शिक्षा समग्र है। वडे-वडे विद्वान् और विज्ञानवेत्ता प्रकृति की पाठ्यपुस्तक की वर्णमाला भी अभी तक नही सीख पाये। आप अगर उसके मोटे-मोटे कामो को देख लेंगे तो भी वडी शिक्षा मिलेगी। पूर्वोक्त श्लोक मे कहा गया है कि नदियाँ अपना जल आप ही नही पीती। वे दूसरो की प्यास बुझाने के लिए ही वहती हैं।

नदियाँ दूसरो को अपना जल न देकर स्वयं पी लेती तो कैसी वीतती ? किन्तु नही। वे अगणित वृक्षो और अन्य जीवधारियो को जल पिलाती है और लाखों मनुष्यो को जीविका दे रही हैं। इस परोपकार के कारण नदियाँ समुद्र मे जाकर मिल जाती हैं। इनके ससर्ग से छोटे-छोटे नाले भी समुद्र मे पहुँच जाते है। नदियाँ कहती हैं—हमे कुछ नही चाहिये। हमारे पास जो कुछ है, वह सब के लिए है। कोई भी उसे इच्छानुसार ले सकता है। जब नदियाँ अपने परोपकार-भाव को इस प्रकार बढ़ाती हैं तो ईश्वरभक्त सम्यग्दृष्टि को क्या कहना चाहिये ?

सच्चा भक्त ईश्वर के चरणो का शरण ग्रहण करने के लिए तन, मन और धन सभी कुछ समर्पण कर देता है। आप कह सकते है—क्या हम अपना सारा धन आज ही दूसरो को लुटा दें ? लेकिन समर्पण का मतलव लुटा देना नही है। मगर उस धन का दुरुपयोग नही होना चाहिए—नीच कामो मे उसका व्यय नही होना चाहिए। वेश्या को रुपया देना बुरा है पर उसकी वेश्यावृत्ति छुडाने के लिए अगर रुपया दिया जाय तो अच्छा है—पुण्य है। कसाई को रुपया देना पाप है पर उसकी कसाई-वृत्ति छुडाने के लिए रुपयो की मदद देना पुण्य गिना गया है। इस प्रकार दान देने से पुण्य भी होता है और

पाप भी हो सकता है, ऊपर के दृष्टान्तो से यह बात समझ मे आ सकती है।

तन, मन, धन सब ईश्वर को समर्पण करने के बाद चाहे धन रहे या जाय, उसकी चिन्ता नही हो सकती। धन का जाना भक्त को दुखः नही पहुँचा सकता। भक्त कहता है—

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम।

मुझे किसी का बल नही चाहिये। मुझे सिर्फ ईश्वरीय बल की आवश्यकता है। आप इस बात का विचार करें कि ईश्वर का बल प्रबल है या धन का बल ?

ईश्वर का।

तुम दुकान पर बैठे हो और एक रुपये मे हीरा बिक रहा हो तो देरी करोगे ?

नही।

तो फिर बिना पैसे मिलने वाला ईश्वर का बल क्यों नहीं ग्रहण करते ?

आप अकड कर, मूछें मरोड कर चलते हैं। अपने अभिमान के कारण किसी को कुछ नहीं समझते। इसी कारण आपको ईश्वर नही मिलता। ईश्वर से मिलने के लिए हृदय स्वच्छ होना चाहिये। हृदय में अहकार की अस्पष्ट छाया भी नही रहनी चाहिए।

उक्त श्लोक के दूसरे पद का अर्थ है—वृक्ष फल उत्पन्न करते है, परन्तु स्वय नही खाते। वृक्ष इतना परोपकार करे और मनुष्य स्वार्थ का पुतला ही बना रहे, यह कितने आश्चर्य की बात है। वृक्ष तो खैर जीव ही है, निर्जीव ईंट-पत्थर भी दूसरे का उपकार करने के लिए मकान बनने के काम आता है। तुम पत्थर होते तो इस परोपकार के काम मे तो आते।

आगे श्लोक मे कहा है—मेघ जल बरसाकर धान्य उत्पन्न करता है, मगर उसमे से एक मुट्ठी-भर भी दाने अपने लिए नही लेता।

जिसने तुम्हारे ऊपर उपकार किया है, उसका आभार नही मानोगे ? उसके उपकार का बदला नही चुकाओगे ? आज साधारण ऋण भी चुकना कठिन हो रहा है तो प्रकृति का ऋण क्या चुकेगा ? माता-पिता का मनुष्य पर कितना ऋण है ? अगर कोई पुत्र कहता है—माता-पिता ने मिलकर विषयभोग का सुख लूटा और मैं बीच मे ही अनायास पैदा हो गया । मुझे उनका उपकार मानने की क्या आवश्यकता है ? तो आप ऐसे पुत्र को क्या कहेगे ? कुपात्र ।

फिर वह कहता है—मुझे जन्म देकर माता-पिता ने मुझ पर उपकार नही किया, सो तो ठीक है, मगर उत्पन्न होने के पश्चात् उन्होंने गाल चूमे, छाती से लिपटाकर अपना कलेजा ठण्डा किया, आनन्द माना और अपना मनोरजन किया । वे खिलाडी बने और मुझे अपना खिलौना बनाया । यह सब उन्हें मेरी ही वदौलत मिला । अतएव उन्हें मेरा उपकार मानना चाहिए । आप उससे कहेगे—तुझे माता-पिता ने नहलाया, धुलाया, खिलाया, पिलाया, क्या यह तेरे ऊपर असीम उपकार नही है ? लडका उत्तर देगा—मेरे जन्म से माता का वाझपन और पिता का निपूतापन मिट गया, क्या यह मेरा उन पर असीम उपकार नही है ? इसके अतिरिक्त मेरे विवाह आदि के अवसर पर फिर वह लाभ उठाएँगे, यह ऋण उन पर अलग ही है । तब माता-पिता उस पुत्र से कहे—अच्छा सपूत वेटा । जाने दो । हमारा उपकार मत मानो । हम ही तुम्हारे उपकार के भारी भार से लदे हैं । किन्तु तुम्हें हमने जो चीजें दी हैं, वह हमे वापिस दे दो ।

ठाणाग सूत्र मे उल्लेख है कि पुत्र को तीन अग माता से औ तीन अग पिता से मिलते हैं । इन्ही अगों से शरीर का निर्माण हो है । माता से रक्त, मास और माथा तथा पिता से हड्डी, मज्जा औ दाढी-मूछ मिलते हैं ।

यह छह अग पुत्र अगर माता-पिता को वापिस दे दे तो उसके पास क्या वच रहेगा ? कोई भी लडका, अगर जीवित

चाहता है तो यह अग माता-पिता को नही दे सकता। इसीलिए माता-पिता का पुत्र पर वडा भारी उपकार है।

मित्रो! क्या तुम्हारे ऊपर पानी का, वृक्ष का और पृथ्वी आदि का उपकार नही है? अगर है तो इनका वदला चुकाने का विचार क्यो नही करते? कोई उपाय क्यो नही सोचते?

तुच्छ प्राणी अपनी वुद्धि के वेग को तुच्छ कामनाओ को पूर्ण करने की तरफ लगाता है। इसमे विपरीत ज्ञानी अपनी वुद्धि के वेग का उपयोग ससार का कल्याण करने मे करता है। अज्ञानी पराई निन्दा, अवज्ञा और तिरस्कार मे अपनी वुद्धि का व्यय करता है, ज्ञानी दूसरो को ज्ञान-दान करने मे अपनी वुद्धि का प्रयोग करता है। अज्ञानी का प्रत्येक कार्य स्वार्थ की प्रधानता से होता है, ज्ञानी की प्रत्येक चेष्टा मे परोपकार की भावना भरी रहती है। मूर्ख जन का प्रयास असत्कार्य के लिए होता है और पडित पुरुप का सत्कार्य के लिए। स्वार्थी मनुष्य लोगो को रास्ता भुलाता है, परोपकारी भूलो को रास्ता दिखाता है। सुवाहुकुमार के चरित्र मे यह सव वातें हम सीख सकते हैं।

सुवाहुकुमार सुशील, उदार, नीतिमान और व्यवहार-कुशल था। उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरो के लिये उदाहरण-रूप थी। सुवाहु जैसा सुशील था वैसा ही सुरूपवान् भी था। वह ऋद्धिशाली भी था। सुन्दर रूप और उत्तम ऋद्धि उसी की सफल मानी जाती है, जो ससार के हित के लिए उनका उपयोग करता है। जो ऋद्धि केवल अपने ही काम आती है और परोपकार के काम मे नहीं लगाई जाती, वह नरक के द्वार पर ले जाने वाली है।

सुवाहु अपने सत्कार्यों से ससार के लोगो को ही आनन्दित नही करता था, परन्तु परमेश्वर के निकट पहुँचने का भी प्रयास करता था। इसी उद्देश्य से उसने श्रावक के वारह व्रत धारण किये। कई लोग सोचते हैं कि धर्म करने से ससार के कार्यों मे रुकावट होती

। उनका यह खयाल भ्रमपूर्ण है। धर्म सासारिक कार्यों मे रुकावट ही डालता। यही नही, वरन् सासारिक कार्य धर्म के साथ करने वे और अधिक आनन्दमय और सरस बन जाते हैं। धर्म का उलटा और ऊटपटाग अर्थ समझने से लोगो की धर्मपालन करने की हिम्मत टूट-सी गई है। मगर वास्तव मे धर्म ऐसा भयकर नही है। यह समझाने वालो का दोष है कि धर्म के वास्तविक स्वरूप को उन्होने नही समझाया। विधवा बहिन कोठरी के किसी अधकारमय कोने मे बैठकर ही धर्म का पालन कर सकती है, यह धारणा एकदम गलत है। धर्म तो राजाओ के मुकुट पर बैठकर उन्हे भी अपने आदेशानुसार कर्तव्य पालन के लिए प्रेरित करता है।

सुबाहुकुमार ने व्रत धारण किये और उसके कुछ काल के पश्चात् भगवान महावीर जनपदो मे विहार करने लगे।

महात्मा पुरुषो के विहार करने मे बडा रहस्य है। शास्त्र मे महात्माओ को जगम तीर्थ कहा है। ससार मे स्थावर तीर्थ इधर-उधर अनेक हैं, मगर उन तक पहुँचना धनवानो या अन्य शक्तिशालियो का काम है। मगर ये घूमते हुये तीर्थ दु खी-से-दु खी और अज्ञात-नाम-गोत्र वाले दीन-से-दीन मनुष्यो से भी भेंट करते हैं और उन्हें पवित्र बना देते हैं।

भगवान महावीर को किसी से कुछ लेना नही था। उन्हें किसी पर मोह नही था। फिर भी वह गाँव-गाँव घूमते थे। इसका क्या उद्देश्य था ? लोगों के समक्ष परोपकार का सुनहरा आदर्श उपस्थित करना ही उनके विहार का प्रयोजन था। महात्मा अपने कार्यों से जनता के सामने आदर्श खडा करते हैं। कोरा बकवास करने वाले स्वयभू 'लीडरों' की बात निराली है।

आज सर्वसाधारण मे परोपकार की भावना मद पड गई है, पर पहले के अनेक महात्माओ ने घूम-घूमकर, वन-वन मे भ्रमण करके परोपकार की दीप्तिमयी ज्योति जागृत की थी। परोपकार ही उनका

एकमात्र उद्देश्य था। आप रामचन्द्र की ओर ही देखिए। उनके राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी। उसी समय कैकेयी राजा दशरथ से अपने वरदान का तकाजा करती है। राम चाहते तो माता-पिता को एक किनारे रख राज्य प्राप्त कर सकते थे। समस्त प्रजा उनके पक्ष मे थी। भरत भी नाराज नही थे, उलटे वह रामचद्र का समर्थन ही करते। पर उस परोपकारी राम ने वन मे जाकर घूम-घूमकर परोपकार करना ही श्रेष्ठ समझा।

कहाँ तक कहूँ, मित्रो! आप तीर्थङ्करो के भक्त कहलाते हैं, महावीर के प्यारे कहलाते हैं। पर कभी किसी दुखिया का दुख दूर करने के लिये चार कदम भी आगे रक्खे हैं? आप रक्खेंगे कैसे, आपका अन्तःकरण परोपकार की भावना से ही सूना है।

श्रीकृष्ण अपनी गीता मे अर्जुन से कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यधवं यो वेत्ति तत्त्वत।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेत्ति सोऽर्जुन॥

अर्थात्—हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है अर्थात् स्वार्थमय नही है। जो मेरे जन्म और कर्म को भलीभाँति जानता है अर्थात् अपने जन्म और कर्म को मेरी ही तरह स्वार्थरहित कर लेता है वह पुनर्जन्म से छुटकारा पाता है और परमात्मा मे मिल जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से फिर कहते हैं—हे पाडव, मैं ससार मे जो-जो लीला करूँगा वह सब जनता का कल्याण करने वाली होगी।

मित्रो! क्या आप तीर्थंकरो के जन्म को दिव्य नही मानते? अगर मानते हो तो 'हाँ' करके सिर हिला देने से काम नहीं चलेगा।

आपको शायद हँसी आयगी, पर एक बात पूछता हूँ। क्या आप किसी राहगीर को जवाई (जामात-दामाद) कहते हैं?

नहीं।

क्योंकि जब तक किसी को बेटी न दी जाय तब तक वह जवाई नही कहलाता। लेकिन जब आप किसी को बेटी दे देते हैं

तव उसे जवाई कहने से कभी इकार करते हैं ? नही। वल्कि उसका असाधारण आदर-सत्कार करते हैं ।

अब मेरी बात की तरफ ध्यान दीजिये । जब आप तीर्थंकर को अपना प्रभु मान चुके, आपकी आत्मा ने उनका वरण कर लिया, तब उनकी क्रिया का आदर न करना क्या उनका उपहास करना नही है ? क्या आप ऐसा करके उनका सन्मान करते हैं ?

तीर्थंकर जब जन्म लेते हैं तो साथ मे अनन्त पुण्य और अनेक लब्धियाँ लाते हैं । अपरिमित वल उनके साथ आता है । वे त्रिकालदर्शी होते हैं । फिर वह साधारण प्राणियो-मनुष्यो की तरह माता के गर्भ मे क्यो रहते हैं ? किसलिए वह माता के गर्भ में कष्ट उठाते है ? वे दिव्य ज्ञानी होने पर भी माता के गर्भ से जल्दी वाहर निकलने की कला काम मे क्यो नही लाते ? क्या ऐसी कला उनके पास नही है ? आप इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ?

आप इसका उत्तर नही दे सकते । मैं जो उत्तर दे रहा हूँ, वह एकदम सही है यह भी नहीं कहा जा सकता । वास्तविकता तो परम ज्ञानी ही जानते हैं । परन्तु मेरी बुद्धि मे जो बात आई है उसे प्रकट कर देता हूँ । मित्रो ! उनमें वह ताकत और वह कला थी कि चाहते तो वहुत जल्दी गर्भ से निकल आते । मगर गर्भ में रहकर उन्होने लोगो को यह समझाया है कि कुदरत के नियमो को तोडने से हरएक काम अधूरा रह जायगा । वे अपनी समस्त शक्ति दवाये रहे और नैसर्गिक तरीके से ही वाहर निकले ।

कुदरत के कानून को तमाम तीर्थंकरो और ससार के सव अवतारो ने मान दिया, परन्तु उन्ही के अनुयायी आप लोग उस कानून का गला घोट रहे हैं । कुदरत के नियमो को ठुकराने का क्या नतीजा निकला ? ऐसा करके आपने अपने तमाम कामो को पगु बना लिया । आपके वस्त्र, आपका गृह, आपका रहन-सहन सभी कुछ प्रकृति के प्रतिकूल हो गया है । इसी कारण किसी के हाथ

कमजोर हैं, किसी की आँखे काम नही देती, किसी के कान कमजोर हैं और किसी के पैरो मे पगुपन आ गया है। आप एक प्रकार की उतावली मे पड़े है मगर आपका उतवलापन कितना विनाशकारी है, इस ओर आप ध्यान नही दे रहे है।

उदाहरण के लिए बिजली की रोशनी को ही लीजिए। आपको बिजली की रोशनी का शौक है। मगर इसने आँखो को कितनी हानि पहुँचाई है, यह आप जानते हैं ? आप इस बात का विचार तो कीजिये कि बिजली की रोशनी अधिक है या आँखो की ? क्या बिजली की रोशनी आपके घर मुफ्त आती है ? नही, पैसे देने पर आती है। तब पैसे भी देना और आँखो से अधा होना, यह कैसा ज्ञान है ? क्या आपने इस रोशनी के विषय मे जगदीशचन्द्र बोस जैसे विद्वान् वैज्ञानिक का मत सुना है ? उनका कहना है कि हमे रोशनी करने की आवश्यकता नही। ऐसा करने से प्रकृति हमे इन्कार करती है। जब तक आपके घरो मे देशी दीपक था, तब तक तो स्थिति कुछ और थी परन्तु जो बिजली आपके घर मे लगी हुई है, उसी का तार वेश्या के घर मे लगा हुआ है। क्या उसके घर के कुछ सस्कार आपके घर मे नही आते होगे ? मगर आप इसका विचार ही क्यो करने लगे। आपका ज्ञान, आपका धन उन तीर्थंकरो और अवतारो से ज्यादा है ! उन्होने ससार को भूल-भुलैया मे नही डाला, पर आप ऐसा करके अपना बडप्पन दिखलाना चाहते हैं।

मित्रो ! जरा बतलाओ तो सही, आँखो का नूर किस भाव मिलता है ?

यह तो दुनिया के पर्दे पर मिल ही नही सकता।

फिर भी इस अनमोल नूर का नाश करने मे आपको सकोच नही होता ? अफसोस ! आपने अभी तक अवतारो का जीवन-तत्त्व नही पहचाना। आपने सिर मे सेन्ट लगा-लगाकर न जाने अपने

मस्तिष्क की किन-किन शक्तियो का नाश कर डाला है । ज्ञानियो का कहना है कि पुष्प मत तोडो । हवा पुष्पो की सुगन्ध लाकर तुम्हें अर्पित कर देगी । मगर मनुष्य नही मानता । वह फूलो को तोड-मरोड कर सारी सुगन्ध अपनी ही नाक मे भर लेना चाहता है ।

रेडियम धातु बहुत कीमती होने पर भी मिल जाती है । पर आँखो की ज्योति लाखो खर्च करने पर भी नही मिलती । फिर भी आप घर मे बिजली जलाकर और सिनेमा आदि देखकर उसका नाश करने पर तुले हुए हैं । इस प्रकार आपने अपने तमाम कामो मे कुदरत को ठुकरा दिया है । खाने के विषय मे भी आपने यही किया । स्वादयुक्त चटपटी चीजें खाना ही आपका ध्येय हो गया । पेट मे भूख है या नही, इसकी कौन चिन्ता करता है ?' बस, जीभ रानी को सतुष्ट करना परमावश्यक है । अधिक खाने से कैसी दुर्दशा होती है, इस विषय मे रोम के एक बादशाह का किस्सा मैं कई बार कह चुका हूँ । उसे कुमौत से मरना पडा था ।

जो मनुष्य प्रकृति के नियमो के अनुसार ही खाता-पीता है वह नीरोग रहता है । नीरोग का अर्थ यह नही कि वह मोटा-ताजा दिखाई दे या वह कभी वैद्य अथवा डाक्टर के पास न जाता हो । वास्तव मे नीरोग वह है जिसके स्वस्थ शरीर मे पवित्र मन का वास हो । शरीर को स्वस्थ और मन को पवित्र रखने के लिए सात्विक आहार ही उपयोगी साधन है । मगर खाने के शौकीनो को चैन कहाँ ? वे कलकत्ता मे बैठे-बैठे बीकानेर के पापडो और भुजियो के लिए ता खटखटाते हैं । इस सबका नतीजा क्या हुआ ? शरीर मे रोग घु गये और शक्ल बन्दर की-सी हो गई । सन्तान की दशा का पूछना ही क्या है ।

आज तीर्थंकरो और अवतारो की मर्यादा भग करके कितने दुखी हो गये हैं ! अवतारो ने मानव-समाज मे जन्म बालको के साथ बालक्रीडा करके हमे कैसा उत्तम मार्ग दिख

था ? नेमिनाथ भगवान बालब्रह्मचारी रहे। उन्होने विवाह क्यो नहीं किया ? विवाह करने से मोक्ष अटक जाता ? क्या विवाह करने वाले मोक्ष नही गये ? पर नही, उन्होने हमारे सामने यह आदर्श रखा कि जैसे विवाह करने वाले मोक्ष जा सकते है, उसी प्रकार अविवाहित भी मोक्ष जा सकते हैं। भीष्म पितामह ने विवाह क्यो नही किया ? क्या उन्हे व्याहने वाली कोई कन्या न मिलती ? नही ! इन महापुरुपो ने हमारे समक्ष ऐसे आदर्श खडे किये हैं कि उनका अनुसरण करके हम प्रत्येक परिस्थिति मे अपना परम कल्याण-सावन कर सकते है।

तीर्थंकरो और अवतारों मे असीम शक्ति थी, फिर भी उन्होंने वालविवाह किया था ? कृष्ण जैसे अवतार मे इतनी शक्ति थी कि पालने मे पडे-पडे ही पूतना के स्तनो का पान क्या किया, उसके प्राण ही पी लिये। तीर्थंकर महावीर भगवान मे इतनी शक्ति थी कि पैर के अगूठे से उन्होंने मेरु पर्वत को हिला दिया था। कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया था। क्या इनमे आप लोगो से या आपके वच्चो से कम शक्ति थी ? तव इन्होंने वाल-विवाह क्यो नही किया ? मित्रो ! इन आदर्श पुरुपो के रहस्यो को समझो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

वहुत से भाई और खास तौर से वहिनें अपने वच्चो को वचपन मे व्याह देने मे ही अपना अहोभाग्य मानती हैं। लडको के हाथ पीले किये और मानो स्वर्ग या वैकुठ ही मिल गया। मगर इस घातक मूर्खता से मानव-समाज का कितना घोर पतन हुआ है, इसने भावी मनुष्य-प्रजा का सत्व किस निर्दयता के साथ चूस लिया है, इस वात का विचार करो। इस प्रथा ने समाज की जड खोखली कर डाली है। इसने मनुष्य का सत्यानाश कर डाला है !

मित्रो ! विवाह एक धर्मक्रिया है। आप सामायिक, पौपध और अधिक-से-अधिक दीक्षा मे ही धर्म मानते हैं। मगर याद

रखो, वह सब बाद की धर्मक्रिया है। मूलधर्म विवाह से आरम्भ होता है। अगर विवाह प्रथा न होती तो मनुष्य न जाने क्या कर डालता। उसकी हालत जानवरो से भी गई बीती होती। मगर विवाह को धर्म का रूप देकर आज लोगो ने उसे भोग का साधन बना लिया है। बहुत से भाई विवाहित स्त्री के साथ मनमाना भोग-विलास करने मे स्वतन्त्रता समझते हैं—ईश्वर का दिया हुआ अधिकार मानते हैं। मगर उनका यह खयाल गलत है।

डाक्टर रोगी के गुप्त-से-गुप्त रोग को देखकर उसका इलाज करता है और उपदेशक समाज की छिपी हुई कुरीतियो का नग्न चित्र जनता के सामने खडा करता है और उनके समूल नाश का उपाय बतलाता है। इसीलिये मैं नि सकोच भाव से कहता हूँ—दस पन्द्रह वर्ष के बच्चो का विवाह करके, उन्हे एक कमरे मे बद करके वीर्यपात करने का महान् भयकर उपदेश माता-पिता कहलाने वाले मनुष्य करते है। मगर अकाल मे वीर्य नष्ट कराना बालको की हत्या करने के बराबर है। नीति मे कहा है कि जब तक कम-से-कम बीस वर्ष का लडका और सोलह वर्ष की लडकी न हो जाय तब तक उनका विवाह नही होना चाहिये। लेकिन आज समाज की स्थिति देखते हुए अगर यह सम्भव नहीं हो तो भी जब तक कम-से-कम अठारह वर्ष का लडका और चौदह वर्ष की लडकी न हो जाय तब तक तो हर्गिज उनका विवाह नही करना चाहिये। जो भाई-बहिनें इस नियम का पालन करना चाहें वे अपना हाथ ऊँचा उठाकर प्रतिज्ञाबद्ध हो जाएँ। (बहुत से हाथ ऊँचे उठे)

मित्रो! यह प्रतिज्ञा ग्रहण करके आपने बहुत अच्छा काम किया है। आपने समाज को जीवन-दान देने की ओर कदम बढाया है। बालविवाह की दुष्ट प्रथा ने न जाने कितनी माताओ की गोद सूनी कर दी। इस पिशाचिनी ने कौन जाने कितनी बहिनों का सुहाग छीन लिया। पहले के जमाने मे किसी की छोटी उम्र मे

मृत्यु हो जाती तो हाहाकार मच जाता था। पर आज यह मामूली बात हो गई है। भारत मे जितनी अकाल मृत्यु होती है, उतनी और किसी देश मे शायद ही होती हो। इग्लैंड और अमेरिका जैसे देशो मे सत्तर वर्ष के लगभग औसत आयु आती है, तब हमारे अभागे देश मे पूरे पच्चीस वर्ष की भी औसत आयु नही। इसका क्या कारण है ? अन्य कारणो के साथ बाल विवाह भी इसका एक प्रधान कारण है। मित्रो ! आप सिर्फ सामायिक मे ही धर्म न मानो, इस विवाह पद्धति को भी धर्म मानकर मूल को सुधारने का उपाय करो।

कई भाइयो का कथन है कि लडकियो का विवाह जल्दी इस कारण किया जाता है कि वह शीघ्र ऋतुमती हो जाती हैं। लेकिन, भाइयो ! यह सब किसका दोष है ? आप उन छोटी लडकियो के सामने ऐसे कृत्य करते हैं कि हमे कहने मे भी लज्जा आती है, मगर आपको करने मे लज्जा नही आती। 'थारे वींद किसो लावा ?' 'कालो चाहिजे के गोरो ?' इस प्रकार की बातें लडकियो से कही जाती हैं। बचपन मे ही उनकी भावना बिगाड देते हो और उनका खान-पान तथा रहन-सहन ऐसा बना देते हो कि उनके हृदय मे जल्दी ही कामवासना जागृत हो जाती है।

मूल बात यह है कि आप गृहस्थाश्रम को शुद्ध बनाइये। अपना जीवन संयममय और त्यागमय बनाने की ओर पूरा लक्ष्य दीजिये। ऐसा करने से आप परमात्मपद की ओर अग्रसर हो सकेंगे। त्यागमय जीवन बनाने का एक अच्छा उपाय है—अहकार का त्याग करना और दिल मे दया धारण करना। इसीलिये तुलसीदासजी कहते हैं—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाडिये, जब लग घट में प्रान॥

इसका मतलब आप समझ गये होगे। 'हूँ' को निकाल दो और 'तू' को रहने दो। मान लो, यही ईश्वर मे मिलना है।

सुबाहुकुमार ने इसी ओर प्रयाण किया। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण कर लिए। उधर भगवान महावीर सुबाहु का पूर्व जन्म का चरित प्रसिद्ध करके जनपद मे विचरने लगे। महात्मा क्यो विचरते हैं, यह पहले कहा जा चुका है।

श्रावक-व्रत धारण करने के पश्चात् सुबाहुकुमार मे क्या-क्या परिवर्तन हुआ ? यह देखना है। शास्त्र श्रवण करके अगर आत्मा शास्त्र के उपदेश को ठीक समझ ले तो तदनुसार ही जीवन बना लेना श्रोता का सब से बडा कर्तव्य है। उपदेश सुनना किन्तु उसे समझकर व्यवहार में न लाना लगभग समय नष्ट करना है। उपदेश सुन-समझकर एक किनारे रख देने की चीज नही है।

सुबाहु ने एक बार उपदेश सुना और उसी के अनुसार अपना जीवन बना लिया। आप प्रतिदिन उपदेश सुनते हैं मगर आपके जीवन मे कोई परिवर्तन नही होता। इसका क्या कारण है ? आपको आज जो उपदेश मैं दे रहा हूँ, उसे पूर्णरूप से जीवन मे उतारने का काम मेरे लिए भी अभी शेष है। मैंने भी इसे पूर्णरूप से जीवन मे अभी तक नही उतार पाया है। पर मैं इस ओर सदा सचेष्ट रहता हूँ। आप भी सचेष्ट रहकर इसे अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करो। ऐसा करने पर ही कल्याण हो सकता है।

शास्त्रो मे कहा गया है कि सुबाहुकुमार ने जब व्रत धारण किये, तब उसका दूसरा जन्म हुआ। शास्त्र मे श्रावक को 'द्विजन्मा' कहा है। 'द्विजन्मा' के अनेक अर्थ हैं—ब्राह्मण, पक्षी, साधु, श्रावक आदि। ब्राह्मण द्विजन्मा तब कहलाता है, जब उसका यज्ञोपवीत-सस्कार हो जाय। यज्ञोपवीत—जनेऊ—लेने के बाद वह ससार के मायाजाल से दूर होकर तत्त्व विचार मे लीन हो जाता था। उसका जीवन पहले वाले जीवन से भिन्न हो जाता था। इसलिए उसे द्विजन्मा अर्थात् दूसरा जन्म धारण करने वाला कहा है। पक्षी पहले-पहल अडे के रूप मे होता है। न उसके पैर होते हैं, न पख आदि।

सिर्फ एक तरल पदार्थ के रूप मे अडे मे रहता है। कालान्तर मे अडा फूटता है और उसमे से पैर, पख आदि समस्त अगो-पागो से युक्त पक्षी निकलता है। वह पक्षी पहले किस रूप मे था और फिर किस रूप मे आ गया, अर्थात् उसके जीवन मे कितना अन्तर आ गया ? इसी विशेप अन्तर के कारण वह द्विजन्मा कहलाता है। इसी प्रकार साधु के विपय मे समझ लेना चाहिए। साधु पहले गृहस्थ था। अब उसने साधुदीक्षा ग्रहण की और अपने जीवन मे महान् परिवर्तन कर लिया। अतएव साधु को भी द्विजन्मा कहते हैं।

कई भाई सोचते हैं कि श्रावक के घर मे जन्म लेने से ही हम श्रावक हो गये हैं। अथवा ब्राह्मण के कुल में जन्म धारण करने से ही हम ब्राह्मण हैं। अत हम भी द्विजन्मा कहलाने के अधिकारी हैं। मगर यह विचार सही नही है। मोर, हस, बगुला आदि प्राणियों के अडे को हम मोर, हस या वगुला नही कह सकते। वे उन पक्षियो के अडे हैं, यह तो कहा जा सकता है, मगर अडा पक्षी नही कहा जा सकता। कालान्तर मे जब अडा फूट जायेगा और जीव पक्षी का रूप धारण कर लेगा, तव उसे मोर, हस आदि—जो कुछ वह हो—कहा जायगा। इसी प्रकार श्रावक या ब्राह्मण के कुल मे जन्म लेना अडे के रूप मे आने के समान है। किन्तु जब व्रत धारण कर लिए जाएँगे और उपनयन सस्कार हो जायगा तभी श्रावक और ब्राह्मण सज्ञा प्राप्त होगी। उसी समय 'द्विजन्मा' कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है।

जो श्रावक तत्त्व से अज्ञात है, मिथ्या भापण करता है, दुराचार का सेवन करता है, उसे 'द्विजन्मा' नही कह सकते। इसी प्रकार जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि गुणो से रहित है, जो ससार के मायाजाल से दूर नही हुआ है, वह द्विजन्मा कहलाने का अधिकारी नही है।

आप एक प्रश्न पर विचार कर लें—आप पक्षी वनना चाहते

हैं या अडे मे ही रहना चाहते हैं ? अगर आप पक्षी बनना चाहते हैं तो अपने मिथ्याज्ञान और खोटे आचरण को दूर करो । मोह-निद्रा से जागृत होओ । अज्ञान के खोखे से बाहर निकलो । जो अज्ञान के आवरण मे बन्द रहेगा, वह द्विजन्मा नही कहला सकेगा ।

मित्रो ! अगर आप पृथ्वी पर पेट रगडकर न चलना चाहें और उच्च आकाश मे स्वच्छन्द विहार करना चाहते हो तो मोह के मोटे बन्धन को तोडकर पक्षी बन जाओ ।

क्या आप इस बात का रहस्य समझ गये ? अगर समझ गये हैं तो उस पर अमल करो । आप समझकर और हाँ कहकर भी उस पर अमल नहीं करते, यही बडी भारी त्रुटि है । मैं तो उस पक्षी के समान हूँ जो अडे को फोडकर पक्षी को बाहर निकालना चाहता है । मैं उपदेश रूपी चोंच मारता हूँ । उसमे से निकलना या न निकलना आपका काम है ।

मित्रो ! आपको एक बात और कहे देता हूँ । आपके पास सोना ज्यादा हो गया है, सो आप इसके नशे मे न रहें । पढने-पढाने और सुधार करने के काम मे इसका उपयोग करो । आपके समाज की विधवा बहिनो पर बडा भारी सकट आया हुआ है । उसके निवारण का उपाय सोचो । वैधव्य धर्म का किस प्रकार भली-भाति पालन हो, इस ओर लक्ष्य दो । अगर यह विधवा बहिनें अपना धर्म समझ जाएँगी तो अन्य बहिनो मे सनसनी फैल जायगी और बहुत जल्दी समाजसुधार होगा । इससे मेरा काम भी कुछ हल्का हो जायगा ।

लोग बैठकर आपस मे गप्पें मारते रहते हैं । क्या वह इस बात का भी कभी विचार करते है कि समाज का सुधार किस प्रकार हो सकता है ? उन्हे यह विचार करने की आवश्यकता ही क्या है ! यह विचार करने से आरम्भ, समारम्भ का पाप जो लगता है !

वीकानेर मे जव ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) खोलने का विचार किया जा रहा था तव कइयो ने अपने विचार प्रकट किये—ब्रह्मचर्याश्रम मे रहने वाले लडके पेशाव करेंगे और पेशाव मे जो सम्मूर्छिम जीव उत्पन्न होकर मरेंगे, उसका पाप हमे लगेगा, अतएव ब्रह्मचर्याश्रम नही खोलना चाहिये। हाय हाय! यह कैसे घृणित विचार हैं! मानो, ब्रह्मचर्याश्रम मे आने वाले लडके अपने घर मूतते ही न होगे और यही आकर मूतना शुरू करेंगे। खेद है कि ऐसे भाइयो की दृष्टि इस ओर तो चली गई, किन्तु लड़के यहाँ आकर अच्छी क्रिया करेंगे, धर्म का आचरण करेंगे, ब्रह्मचर्य पालेंगे, पढ-लिखकर होशियार हो जायेंगे, सुसस्कारी वनकर उत्तम भाव प्राप्त करेंगे, ससार पर अपने धर्म की छाप मारेंगे, इन सब वातो की ओर उनका लक्ष्य ही नही जाता। मित्रो! समय वदल गया है। उठो, चेतो, जागो। जो कुछ शका हो, पूछो। अज्ञान के अडे मे से निकल कर पक्षी का रूप धारण करो।

जब कोई वहिन विधवा हो जाती है तो उसे रोने की टेव तो डाल देते हो, पर धर्म सुनने के लिए कही नहीं भेजते। अगर कोई कहता भी है तो उत्तर मिलता है—काई करां स्या, म्हारा मां एडी रीत कोयनी। मित्रो! यह रीति अगर पहले की होती तो आज कुछ कहने का वक्त ही नही आता। इसका चलन तो आपने ही किया है, इसलिए आपसे कहा जाता है। पहले की विधवा वहिनें लम्वी अगरखियाँ पहनती थी। सोने के आभूपण पहनने की चाल उनमे नही थी। वह वैराग्य की साक्षात् मूर्ति वनी हुई थी। पर आज विधवा वहिनें कितना सोना पहनती हैं, कैसे कपडे-लत्ते धारण करती हैं, यह वात आपसे छिपी हुई नही है। इसलिए कहता हूँ—अव चेतो। अज्ञान रूपी अडे मे से निकलो और द्विजन्मा वनो। अगर द्विजन्मा न वनोगे तो पृथ्वी पर ठोकरें खाते फिरोगे। द्विजन्मा वन गये तो आकाश मे सुखपूर्वक विचरण करोगे।

मित्रो ! आप अभी द्विजन्मा नही बने, इससे मुझे दु:ख होता है। आप द्विजन्मा बनो और मेरा सकट काटो ! आप मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने देने की अपनी जिम्मेवारी समझते हैं। आज अगर मुझ मे रोटी पचाने की शक्ति न हो और मुझे दूध की जरूरत हो तो आप मुझे दूध देते हैं। किसलिए ? मेरे भूख का दु:ख दूर करने के लिए। तब आपकी अडा रूप अवस्था देखकर मुझे जो दु:ख हो रहा है, उसे दूर करना आप अपना कर्त्तव्य क्यो नही समझते ?

एक वृक्ष की डाली पर एक बन्दर और एक पक्षी बैठा है। वृक्ष गिरने लगा या वह डाली टूटने लगी तो वह बन्दर के लिए दु:खदायी होगी या पक्षी के लिए ?

बन्दर के लिए !

क्यो ? इसीलिए कि बन्दर उड नही सकता, परन्तु पक्षी उड सकता है। पक्षी को वृक्ष के गिरने से किसी प्रकार का दु:ख न होगा, क्योंकि उसे उडना आता है। जब तक डाल पर बैठा रहेगा, आनन्द मनाता रहेगा और डाल जब टूट जायगी तो आकाश मे सुखपूर्वक विचरकर आनन्द मानेगा। इसी प्रकार जो श्रावक बारह व्रत धारण कर उनका पालन करके द्विजन्मा होता है वह ससार रूपी वृक्ष पर बैठा हुआ भी आनन्द मनाता है। अगर ससार-वृक्ष टूट जाय तो उसे किसी प्रकार का दु:ख नही होता। वह ससार को अपना क्रीडा-स्थान समझता है और ससार की सुख-रूपी ऊँची-से-ऊँची डाली पर बैठ सकता है। जो द्विजन्मा नहीं होता उसकी हालत बन्दर की जैसी होती है। मित्रो ! आप बन्दर बनना चाहोगे या पक्षी ? अगर आप ससार-रूपी वृक्ष पर पक्षी बनकर न बैठोगे तो इस वृक्ष के टूटने पर आपको घोर दु:ख होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि श्रावक के व्रत धारण करके आप द्विजन्मा बन जाइए।

१४: जीवन में परिवर्तन

मूल—तते ण से सुबाहुकुमारे समणोवासए जाए, अभि गयजीवाजीवे, उवलद्धपुण्णपावे, आसवसवरणिज्जर-किरियाहिगरण वध-मोक्ख-कुसले, अस हेज्जदेवतासुर-नाग- सुवण्णजक्ख-रक्खस-किन्नर किपु-रस-गरुल-गधव्व- महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गथे पावयणे निस्सकिए, निक्कखिए, निव्वि-तिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अहिगयट्ठे, विणिच्छि-यट्ठे अट्ठिमिजपेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो णिग्गथे पावयणे अट्ठे, अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहे, अवगुयदुवारे, चिय-त्तेउरघरप्पवेसे, वहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववा-सेहिं चाउद्दसट्ठमुदिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसह सम्म अणु-पाले माणे समाणे, निग्गथे फासुएमणिज्जेण असणपाणखाइम-साइमण वत्थपडिग्गहकवलपायपुछणेण पीढफलगसिज्जासथारएण ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणे अहापरिग्गएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाण भावेमाणे विहरइ ।

अर्थात्—अव सुवाहुकुमार श्रावक हुआ। उसने जीव और अजीव तत्त्व को जाना, पुण्य और पाप को जाना, आस्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, वध और मोक्ष मे कुशल हो गया। किसी भी कार्य मे वह दूसरों की आशा नही रखता था। अथवा वह निर्ग्रन्थ प्रवचन मे इतना दृढ था कि समर्थ देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुप, गरुड, गन्धर्व महोरग आदि देवता भी उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे विचलित नही कर सकते थे। उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे शका, काक्षा और विचिकित्सा नही थी। उसने शास्त्र

का अर्थ समझ लिया था, शास्त्र का अर्थ निश्चित रूप से ग्रहण किया था, शास्त्र के सन्देह-जनक स्थल पूछकर निर्णीत कर लिये थे, शास्त्र का अर्थ समझ लिया था, निश्चय कर लिया था, उसकी नस-नस मे निर्ग्रन्थ प्रवचन के ऊपर प्रेम व्याप्त हो गया था। अतएव वह समझता था कि—हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ और परमार्थ है, अन्य सब अनर्थ-रूप हैं। उसकी उदारता के कारण उसके भवन के दरवाजे की आगल ऊँची रहती थी, उसका द्वार सबके लिए सदा खुला रहता था। वह जिसके घर या अन्तःपुर मे जाता, उसे प्रीति उत्पन्न करता था। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास से चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषध करता था, श्रमण निर्ग्रन्थो को निर्दोष और ग्राह्य अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कवल, रजोहरण, पाट, शैया, सथारा और औषध-भेषज, यह सब देता हुआ गृहीत तपस्या से आत्मा को भावित करता हुआ विचरता था।

सुबाहुकुमार द्विजन्मा-श्रावक बन गया। श्रावक के पहले व्रत का पालन करने के लिए जीव और अजीव का भेद समझना आवश्यक है। सुबाहुकुमार ने जीव और अजीव का भेद समझा। जीव और अजीव कहो या जड़ और चेतन कहो, बात एक ही है।

जीव का अस्तित्व स्वीकार करने वाला आस्तिक और न स्वीकार करने वाला नास्तिक कहलाता है। आस्तिक और नास्तिक की चर्चा मे सब शास्त्र का सार गर्भित हो जाता है। जड और चेतन की व्याख्या मे सब शास्त्र समाप्त हो जाते हैं।

प्रश्न होता है जीव किसे कहना चाहिए और अजीव किसे कहना चाहिए ? यह विषय बडा गहन है। भारतवर्ष के समस्त धर्मों ने इस पर खूब विचार किया है। किस धर्म वाले की सम्मति इस विषय मे क्या है, यह बात उनकी धर्म-पुस्तको से जानना चाहिए। गीता के इस विषय पर आपका क्या मत है ?

श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं —

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन—

माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,

श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

अर्थात्—इस चिदानन्द का स्वरूप भीतर क्या है और बाहर क्या है, इसे देखकर कई लोग आश्चर्य करने लगते हैं । कई लोग इसका आश्चर्यकारक वर्णन करते हैं, कई इसके वर्णन को आश्चर्यचकित होकर सुनते हैं। परन्तु इसका असली स्वरूप किसी ने नही जाना ।

आत्मा के तत्त्व को जानने के लिए गई हुई मन सहित वाणी लौट आई और उसने नेति-नेति की घोपणा कर दी अर्थात् उसने कह दिया—आत्मा का पार नहीं पा सकते । ऐसे गहन विपय को समझाने की जिम्मेदारी मैं अपने सिर ले रहा हूँ । इसका निर्णय कैसे किया जाय ? जैसे वडा न्यायाधीश अपने सामने आये हुये बड़े गहरे और पेचीदे मुकद्दमे को कानून की किताबो से, दफाओ से, लौकिक रीति-रिवाजो के प्रमाण से तथा अन्य प्रकार के सबूतो से निपटाता है, दूध और पानी को जुदा-जुदा कर देता है, उसी प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन प्रमाणो से इसके निर्णय करने का उद्योग किया जायगा ।

जड़ और चेतन के सम्बन्ध मे हजारो अनुभवियो ने अपने-अपने अनुभव लिखे हैं । पर अभी महाराष्ट्र के कवि तुकाराम का अनुभव रखता हूँ । तुकाराम एक वडा भक्त हो गया है । उसकी कविता-शक्ति वडी ओजस्विनी मानी गई है । महाराष्ट्र के वडे-वडे विद्वान् उसकी कविताओ का रसास्वाद करके आनन्द का अनुभव करते हैं । लोकमान्य तिलक भी तुकाराम की कविता पर मुग्ध थे । उन्होंने अपनी बनाई पुस्तको मे तथा व्याख्यानो मे इसकी कविता का खूब उपयोग किया है और उसका रहस्य विस्तृत करके उस पर अपने

विचार प्रकट किये हैं। तुकाराम ने आत्मा के विषय मे अपने अनुभव का वर्णन इस प्रकार किया है —

जिह्व जाणे फिके मधुरत्री क्षार येर मार हाता सनकले ।
देखावे नेत्री बोलावें मुखे, चिंता सुख-दुखें कलो येती ।
परिमलासी घ्राण रोकती श्रवण एकाचे कारण एका नव्हे ।
एके देहिं भिन्न टेविय ले कला नाचवी पुतला सूत्रधारी ।
तुका म्हणे ऐशी जयाची सत्ता कॉं तया अनते विसर लेसी ।

यह कविता मराठी भाषा मे है। वहुत से पाठक इसका अर्थ शायद न समझ सकेंगे।

कई लोगों का कहना है कि यह देह पाँच भूतो से बना हुआ है और पाँच भूत जब तक बिखर नही जाते, तब तक वह अपना काम करता रहता है। इसका समर्थन करने के लिए घडी का उदाहरण दिया जाता है। जैसे घडी के पुर्जों को यथास्थान जोड देने से वह टक्-टक् शब्द करती हुई चलती रहती है, इसी प्रकार पाँच भूतो का विशेप प्रकार का एकीकरण होने से देह भी अपना काम करता है। ऐसा कहने वाले लोग आत्मा या चैतन्य को जुदा नही मानते। पाँच भूत बिखरने के पश्चात् कुछ भी शेष नही रहता।

मगर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह मत गलत है। ऐसे लोग आँखो से देखते हैं कि यह अमुक वस्तु है, पर आँखो से कौन देख रहा है, यह बात ये नही समझते। इन्हें यह मालूम नही है कि दृश्य क्या है और दृष्टा कौन है।

तुकाराम अपनी कविता मे कहते हैं—जिह्वा मे और हाथ मे मांस है, लौहू है। पाँचों भूत जिह्वा मे भी हैं और हाथ मे भी हैं, परन्तु खट्टे मीठे आदि रसो का स्वाद जिह्वा ही पहचानती है, हाथ नही पहचानता। दोनो अवयवो मे पच महाभूत समान हैं, फिर इतनी भिन्नता क्यों है ? इस भिन्नता को देखने हुए भी देह से जुदे देह के सचालक के अस्तित्व मे सदेह करना क्या उचित है ?

नेत्र दिखाने का काम करता है और कान सुनाने का। अगर इस व्यवस्था को उलट दिया जाय अर्थात् नेत्र को बन्द करके कान लगाया जाय तो कोई वस्तु देखी जा सकती है ? या कानो मे उंगलिया डालकर आँख फाड-फाडकर देखने का प्रयत्न किया जाय तो क्या सुनना सम्भव है ? नही। जो इन्द्रिय जिस काम के लिए बनी है, उससे वही काम होता है, अन्य नही। सुख दुख का ज्ञान किसे होता है ? क्या नेत्र आदि किसी इन्द्रिय को इसका ज्ञान हो सकता है ? इसका ज्ञान इन्द्रियों के राजा आत्मा को ही होता है। वही दृष्टा कहलाता है। आप व्याख्यान सुनने के लिए बैठे हैं, लेकिन कान मे उँगलियाँ डालकर और नाक ऊँची करके सुनने की कोशिश करें तो क्या व्याख्यान सुन सकते हैं ? अगर कान सुन सकता तो मृत अवस्था मे क्यो न सुनता ?

दर असल बात यह है कि सुनने वाला कोई दूसरा ही है। कान सुनने के सिर्फ औजार हैं। वह सुनने वाला ही आत्मा कहलाता है। आप घड़ी की सुन्दरता देखकर उसके बनाने वाले वैज्ञानिक की तारीफ करते हैं, मगर इस अद्भुत यन्त्रशाला को बनाने वाले की तरफ आप कुछ भी ध्यान नही देते। इस शरीर मे बैठा हुआ सूत्रधार कैसा विचित्र नाटक कर रहा है, जरा इसकी ओर देखिए। वह पुतले को किस प्रकार नचा रहा है, यह देखकर आपके आश्चर्य का पार नही रहेगा।

आप एक बार कान से जो शब्द सुनते हैं, वे हरदम तो बोले नही जाते, फिर उनका स्मरण किसे रहता है ? किसको उनकी चाहे जब याद आती रहती है ? जिस आदमी की सूरत एक बार आपने अच्छी तरह देख ली, उसे कालान्तर मे कौन नही पहचान लेता ? यह सब सुनना और देखना किसे याद रहता है ? चिदानन्द को, जो अजर-अमर है, जिसका कभी नाश नही होता और जो पाप-पुण्य का भोक्ता है।

शरीर के भीतर एक ऐसी वस्तु है जो पाँचो इन्द्रियो के काम को एक साथ अनुभव कर रही है। उदाहरण के लिए पापड लीजिए। जब आप पापड खाते हैं तो जीभ उसका स्वाद जानती है, नाक उसका गन्ध अनुभव करती है, हाथ उसके स्पर्श को जानता है, आँख उसका रूप जानती है और कान चर्र-मर्र शब्द को श्रवण करते हैं। इन सब चीजो को चिदानन्द ही एक साथ अनुभव करता है। पाँचो विषयो का सम्मिलित ज्ञान किसी भी एक इन्द्रिय को होना सम्भव नही है, क्योकि एक इन्द्रिय सिर्फ एक ही विषय को जान पाती है। अगर एक ही इन्द्रिय रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को जानने मे समर्थ होती तो पाँच इन्द्रियो के बनाने की आवश्यकता ही क्या रहती है?

कल्पना कीजिए किसी महल के झरोखे मे देवदत्त नामक एक पुरुष खडा है। नीचे सडक पर एक स्त्री और एक पुरुष खडा है। एक को उनका दृश्य देखकर वैराग्य उत्पन्न होता है और दूसरे को नीचता करनी सूझती है। एक ही दृश्य से दो व्यक्तियो को जुदी-जुदी बुद्धि किसने दी है? इन्हें यह सिखाने वाला कौन है? आत्मा। आत्मा ने ही भिन्न-भिन्न बुद्धि दी, इससे मालूम होता है कि हरेक मे आत्मा भिन्न-भिन्न है।

आत्मा को पुण्य का और पाप का फल भोगना पडता है। पुण्य का—सत्कार्य का फल अच्छा मिलता है और पाप का—असत्कार्य का फल बुरा होता है। अगर आप आत्मा को मानते हैं तो आप आस्तिक हैं। आस्तिक को चाहिए कि वह आत्मा की भलाई के लिये अच्छे काम करे और बुरे काम छोड दे। परन्तु आज परिस्थिति कुछ विपरीत ही नजर आती है। नास्तिक आत्मा को नही मानते, वे स्वर्ग-नरक भी नही मानते। उनकी मान्यता है कि यह देह पाँच भूतो का बना हुआ है और कभी इनके जुदा होने पर यह बिख जायगा। जिनका ऐसा मत है, वे विशेष चारित्रवान देखे गये हैं आत्मा को पुण्य-पाप का भोक्ता मानने वाले कुचारित्रवान हो अ

आत्मा को न मानने वाले उनकी अपेक्षा चारित्रवान हो, यह अद्भुत और आश्चर्यजनक बात है।

अगर कोई आस्तिक झूठ बोलता है, चोरी करता है या ऐसा ही कोई और पाप का काम करता है तो क्या वह अपने व्यवहार से नास्तिकता फैलाने वाला नही है? नास्तिक लोग बात के धनी, सच बोलने वाले और अन्याय से घृणा करने वाले बने और आस्तिक उससे उलटे काम करें तो बताइए वास्तव मे, व्यावहारिक दृष्टि से कौन आस्तिक और कौन नास्तिक है?

एक राजा अपने हाथ मे राज्यसत्ता लेकर प्रजा की रक्षा का कुछ भी काम न करे तो आप उसे क्या कहेंगे? इसी प्रकार जब आप आस्तिक मत को स्वीकार करते हैं, धर्म मे विश्वास करते है, तब फिर आलस्य मे, प्रमाद मे पडे रहकर उलटे काम करना कहाँ तक उचित है? यह कैसा आस्तिकपन है? आप विवाह के अवसर पर लाख रुपया खर्च कर देंगे, धूम-धाम करने के लिए रात-दिन एक कर देंगे, मगर ज्ञान के प्रचार मे कितना धन खर्च करते है? क्या आप बातें बनाने मे आस्तिक और काम करने मे नास्तिक नही हैं? क्या यह अडे से बाहर निकलने का काम है? सच्चा आस्तिक तुच्छ मोह मे नही पडता। वह कपट नहीं करता। किसी को जाल मे नही फसाता। उसके विचार, उसका धन और उसके पास की तमाम शक्ति सम्यग्ज्ञान फैलाने के लिये, देश के कल्याण के लिये और प्राणीमात्र की भलाई के लिये तथा धर्म के ऊपर न्योछावर करने के लिये होती है।

मित्रो! विजय क्रिया की होगी, बातो की नही। इतिहास देखने से पता चलता है कि आस्तिको ने धर्म के ऊपर हँसते-हँसते अपने प्राण समर्पण कर दिये। आस्तिकों को अपना धर्म छोडने के लिए चमचमाती हुई तलवार दिखाकर कहा गया कि तुम अपना धर्म छोड दो, वरना तुम्हारे शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाएँगे,

परन्तु धर्मवीर आस्तिक तनिक भी विचलित नही हुए, उनका एक रोम भी न कांपा। आज वहिनें बडी-वडी तपस्या करती हैं पर छाया को भूत मानकर थर-थर काँपती है। डाकिन के नाम से वेहद डरती हैं। जादू वाले तो मानो इन्ही पर अपने जादू की आजमायश करने वाले हैं। इसलिए घर छोडकर बाहर नही जा सकती। इन सव वातो के मूल मे क्या है? आत्मविश्वास का अभाव। जिसे आत्मविश्वास नही, उसे धैर्य कहाँ से आवे और उसमे निश्चय-वल कैसे प्रकट हो?

अजमेर मे एक बार एक सिक्ख सरदार आये। वे अपने साथ अपने धर्माचार्यों के चित्रो की पुस्तक भी लिये थे। उन्होंने मुझे चित्र दिखलाकर वतलाया—इन धर्माचार्यों को मुसलमान वादशाह ने अपना धर्म छोडने के लिये कहा, परन्तु उन्होंने अपना धर्म नही छोडा। तव वादशाह ने इन्हे उवलते हुए पानी की कडाई मे डाल दिया। पर वे उसमे नही जले। यह देखकर वादशाह ने उन्हें आग से लाल हुई कडाई में विठलाया। पर वहाँ भी उनका वाल वाँका न हुआ। यह सव क्या है? इसका प्रधान कारण आत्म-विश्वास है।

भारत के इतिहास मे सिक्खो का इतिहास वडा जाज्वल्य-मान है। सच्चे क्षात्रधर्म की झलक उनमे दिखाई देती है। माता के सामने उसके प्राण-प्यारे वच्चे के टुकडे-टुकडे कर दिये गये मगर माता ने धर्म का परित्याग करना स्वीकार न किया। उन्हे भयकर से भयकर त्रास दिया गया, मगर उन्होने सभी कुछ हँसते-हँसते स्वीकार कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह के वच्चो को वादशाह भीत मे चिनता है, फिर भी वे धर्म त्यागने से इन्कार ही करते हैं। जव वडे भाई को वादशाह दीवार मे चिनता है तो छोटा भाई खडा-खडा रोता है। उसे रोते देख वादशाह समझता है कि यह डर गया है। इसलिये धर्म छोड देगा। वह लडके को आश्वासन देकर

कहता है—बच्चे, रोओ मत । तुम्हें नही चिनेंगे । किन्तु वह शेर बच्चा कहता है—बादशाह ! मैं किसलिये रोता हूं, यह तुम नहीं जानते । मैं मौत से डरकर नही रोता—दीवार मे चिने जाने का मुझे खौफ नही है । मुझे अफसोस यह है कि मैं अपने भाई से पहले क्यो नही चिना गया ? मेरा भाई हँसते-हँसते धर्म के ऊपर वलिदान हो गया । उसका वलिदान मेरी आँखो ने देखा, पर मेरा वलिदान कौन देखेगा ? यह सोचकर मुझे रोना आता है ।

ओह ! कितनी वीरता है ! कितनी धीरता है !

'सीता की अग्नि परीक्षा' नामक पुस्तक मे लिखा है—एक वादशाह ने अपनी मूर्त्ति वनवाकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि सव लोग मेरी मूर्त्ति के सामने सिर झुकायें और इसे ईश्वर के तुल्य मानें । वादशाह के हुक्म के अनुसार हजारो नर-नारी—जो वेचारे कायर थे—उस मूर्त्ति के सामने सिर झुकाते । परन्तु वादशाह के खास वजीर और सेनापति ने सिर नही झुकाया । यह वात वादशाह को मालूम हुई । उसने कहा—सव लोग मुझे सिर झुकाते हैं, पर मेरा ही नौकर मेरी मूर्त्ति के आगे सिर नहीं झुकाता । यह वर्दाश्त नही किया जा सकता । उसे अभी मेरे सामने वुलाओ ।

वजीर हाजिर हुआ । वादशाह ने क्रोध-भरे स्वर मे कहा—क्योंजी, तुम उस मूर्त्ति के सामने सिर क्यो नही झुकाते ?

वजीर—मैं उस मूर्त्ति के सामने सिर नही झुकाऊगा और न उसे ईश्वर मानूगा ।

वजीर के यह शब्द सुनकर वादशाह के क्रोध का पारा वहुत ऊँचा चढ गया । उसने वजीर को जला देने की आज्ञा दे दी ।

वजीर को अग्नि मे प्रविष्ट किया गया, पर उसके कपडे का एक सूत भी न जला । वादशाह ने उसका आत्मविश्वास देखकर और आश्चर्यजनक घटना से चकित होकर अपना हठ छोड़ दिया ।

मित्रो ! आत्मविश्वासियों के उदाहरणो से इतिहास भरा

पडा है। उन्हे पढो तो पता चलेगा कि कितने ही पुरुषो और नारियो ने नारकीय यातनायें सहना स्वीकार किया मगर अपना दृढ-विश्वास न छोडा।

हिन्दू जाति जब अपने धर्म पर आरूढ थी और धर्म के लिए सभी कुछ समर्पण करने के लिए तैयार थी, तब उसका यश सौरभ सारे ससार मे महक रहा था। जब से उसने धर्म की ओर से उदासीनता दिखलाना आरम्भ किया, तभी से उसकी दशा पलटने लगी। धर्म ही सब कुछ है। धर्म पर दृढ रहने से कैसे-कैसे सुयोग मिल जाते हैं, यह बात आप ऋषभदेव भगवान की कथा से जानने का उद्योग करो।

तात्पर्य यह है कि धर्म को धारण करके ही आप अपना श्रेयस् साध सकते हैं। आपके जीवन में धर्म का स्थान सर्वोच्च होना चाहिए। ससार का वैभव धर्म के प्रताप से ही मिलता है। आत्मिक शान्ति भी धर्म विना नही मिल सकती। अतएव अपने जीवन को धन्य और मान्य बनाने लिए आप सुबाहुकुमार की भांति धर्मनिष्ठ बनो।

सुबाहुकुमार राजकुमार था, पर उसने श्रावक-धर्म धारण कर के अपने जीवन मे परिवर्तन कर लिया। सुबाहु का जीवनचरित्र मेरे लिये तो विचारणीय है ही, परन्तु आपको इस पर विशेप विचार करना चाहिए। यह चरित सुबाहु का नही, आपका ही है, ऐसा समझकर आप इस पर विचार करें।

कई भाई सोचते हैं—हम बारह व्रत पालने लगेंगे तो हमारा गृहस्थाश्रम कैसे निभेगा ? यह कितना भ्रम है ? आज आप लोग तो साधारण गृहस्थ ही हैं, पर प्राचीन काल के अनेक श्रावक राज्य के मालिक होते हुए भी बारह व्रतो का पालन करते थे। अगर इनका पालन करना कठिन होता तो वे क्यो इन्हे स्वीकार करते ?

श्रावक के व्रत पालने मे जब राजा-महाराजाओ को भी अड-

चन नही आती थी और वे धर्म-पालन मे चुस्त थे, तव आपको कौनसी अडचन आ सकती है ? हमे तो अडचन की कोई वात ध्यान मे नही आती । ऐसी स्थिति मे आप धर्म-पालन करने में चुस्ती के वदले जो सुस्ती दिखला रहे हैं, उसका एकमात्र कारण हमे तो अज्ञान ही मालूम होता है ।

सुवाहु श्रावकव्रत धारण करके कैसा जीवन विताने लगा, इस सम्वन्ध मे शास्त्र कहता है कि वह पहले द्विजन्मा वना । उसे जीव और अजीव का ज्ञान हो गया । इससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ । आत्मा अजर-अमर पदार्थ है । आत्मा का कभी नाश नहीं होता । मरना और जन्म लेना सिर्फ स्थिति का परिवर्तन है। आत्मा का मरना कहना, उस पर गलत आरोप करना है । इसका वास्तविक अर्थ इतना ही है कि आत्मा एक पर्याय को त्यागकर दूसरे पर्याय मे चला गया । जब लोगो को सध्या के पश्चात सूर्य नही दिखाई देता तो वे कहते हैं—सूर्य अस्त हो गया । जव प्रातः-काल होने पर वह फिर दिखाई देने लगता है तो कहते हैं—सूर्यो-दय हो गया । मगर वास्तव मे न कभी सूर्य का उदय होता है, न वह अस्त ही होता है । जो सूर्य आपको अस्त हुआ मालूम होता है, वह दूसरी जगह दिखाई देता है । ऐसी हालत मे सूर्य का उदय और अस्त सिर्फ एक देश से दूसरे देश मे जाना ही है, उसका नाश या उत्पाद नही । इसी प्रकार आत्मा जव शरीर धारण करके एक योनि मे आता है, तव उसका जन्म कहलाता है और जव स्थूल शरीर छोडकर दूसरी योनि मे चला जाता है तव मरना कहलाता है । ज्ञानी पुरुष इसे आत्मा की अवस्था का परिवर्तन मात्र समझते हैं और आत्मा को प्रत्येक अवस्था मे विद्यमान रहने वाला—अजर-अमर मानते हैं । जिसने आत्मा के अजर-अमर स्वरूप को नहीं जाना, समझना चाहिए उसका ऊपरी ज्ञान सव थोथा है ।

जहाँ लगी आत्म-तत्व चिन्त्यो नहीं ।

तहाँ लगी साधना सर्व झूठी ॥

जिसने आत्म-तत्त्व पर विचार नही किया, उसके अन्य विचार बालको के खेल से हैं ।

शास्त्रो मे बडी रम्य भाषा मे आत्मा का विचार किया गया है । जन्म और मृत्यु क्या है, इस सम्बन्ध मे गीता कहती है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरः पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जैसे मनुष्य पुराने कपडो को छोडकर दूसरे नये कपडे पहनता है, वैसे ही देही-आत्मा—पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण करता है ।

आप इसका आशय समझ गये होगे । घर मे पहनने की पोशाक आपके यहाँ अलग होनी है और विवाह-शादी या सभा-सोसाइटी मे सम्मिलित होने की पोशाक अलग होती है । जब आप बाहर जाते हैं, उस घरू पोशाक को उतार देते हैं और बाहर के योग्य पहन लेते हैं । इस परिवर्तन से आप बदल नही जाते । आप वही रहते हैं, सिर्फ आपका ऊपरी वेष बदल जाता है । इसी प्रकार जब आत्मा इस देह को छोड देता है—जिसे आप मरना कहते है—तब वह दूसरा देह धारण कर लेता है । यही जनमना कहलाता है ।

अब आप विचार कीजिये कि आप नया कपडा हँसते-हँसते पहनते हैं या रोते-रोते ?

हँसते-हँसते ।

क्योकि आप जानते हैं कि पुराना जा रहा है और नया मिल रहा है । इसमे रोने की बात ही क्या है ? इसी प्रकार ज्ञानी को मृत्यु के समय आनन्द होता है । वह जानता है कि मैं पुरानी देह छोड रहा हूँ । ज्ञानी शरीर छोडते समय हाय-तोबा नही मचाता ।

वह खुशी के साथ शरीर त्यागने के लिए तैयार रहता है। जो हाय-हाय करके रोते-रोते शरीर छोडता है, उसे नरक मिलता है और जो हँसते-हँसते खुशी के साथ देह त्यागता है, वह स्वर्ग का स्वामी बनता है। यह सब जान करके भी आप रोते-रोते शरीर छोडना चाहते हैं या हँसते-हँसते ?

हँसते-हँसते !

तो फिर किसी आत्मीय जन की मृत्यु होने पर रोने का क्या अर्थ है ! हाँ, मोह के कारण उसके वियोग का दिल मे दर्द पैदा हो जाय तो उस समय रोकर दिल की भाप निकालना क्षम्य है परन्तु महीने-महीने और वर्ष-दो वर्ष तक रिवाज के तौर पर रोने का क्या मतलब है ? और बाइयाँ रोती ही कहाँ हैं ? वह तो प्राय ऊँ-ऊँ करके रोने का ढोग करती है। वह जिसके यहाँ मातमपुर्सी के लिए जाती है, वहाँ घूँघट मे उनके असली रोने न रोने का पता तो चलता नही, लेकिन घर वाले को और अधिक दुखी कर देती है। उसका वियोग-जन्य दुख या तो उमड आता है या उसे भी रिवाज के तौर पर रोना पडता है। इस प्रकार रोना भी हिन्दू सस्कृति का एक आवश्यक अग बन गया है।

लोगो को रुलाने मे न जाने क्या मजा आता है ? एक तरफ कहते हैं—आत्मा अजर अमर है और दूसरी तरफ उसके लिए रोते हैं। अगर रोना नही आता तो रोने का ढोग करते हैं। क्या यह शास्त्र का ठट्ठा करना नहीं है ?

रोने की अनेक किस्मे बना ली गई हैं। सुबह का रोना जुदा और शाम का जुदा, दोपहर का रोना तीसरे ही प्रकार का ! और फिर राखी, दीवाली आदि का रोना अलग ही तरह का। इस प्रकार महिला-समाज ने रोने का मानो ठेका ही ले लिया है।

क्या हिन्दुओ मे ही स्वजनो की मृत्यु होती है ? मुसलमानो के प्रियजन नही मरते ? अथवा उन्हे अपने माता-पिता और भाई-

मैंने एक वार एक घटना देखी । किसी मुसलमान भाई के लडके की मृत्यु हो गई थी । उसे कब्रस्तान मे ले जाते समय उसके घर वाले एक गाना गा रहे थे । उसका साराश यह था कि हे नबी ! ऐ मेरे पैगम्बर ! यह बच्चा तेरी शरण मे आया है ! तू इसे सम्भालना ।

भाइयो ! और बहिनो ! मुसल्मान तो अपने बच्चे के लिए गाएँ और ऐसी प्रार्थना करें और तुम बच्चे के लिए रोओ । क्या इसीलिए तत्त्व-ज्ञान सीखा है ?

जब कोई आदमी व्यापार के निमित्त परदेश जाता है, तब नही रोते, फिर आदमी के मरने पर क्यो रोते हो ? अगर यात्रा के लिए स्वजन के जाने पर रोना अमगल है तो मृतक के पीछे रोना क्या अमगल नही है ? मित्रो ! सच समझो, मृतक के लिए रोना ज्ञानियो का काम नही है । यह नास्तिको का काम है ।

जैसे त्योहार आने पर आप पुराने कपडे उतार कर नये कपडे पहनकर खुशी मनाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मृत्यु का महोत्सव मनाते हैं और दुर्गंधमय शरीर को त्याग कर आजीवन किये धर्मा-चरण का फल प्राप्त करते हैं ।

अगर आपको राजघराने से सम्मान देने के लिए बुलावा आवे तो आपको रोना आएगा या आनन्द होगा ?

आनन्द होगा ।

क्यो ? इसीलिए न कि आपने राजघराने का कोई अच्छा काम किया है । उसके उपलक्ष्य मे आपको सम्मान मिलने वाला है । मगर आपको गिरफ्तारी का वारट मिले तो आप रोएँगे या हर्ष मनाएँगे ? उस समय आप रोएँगे, क्योंकि आप जानते हैं कि मैंने चोरी की है, डाका डाला है या इसी प्रकार का कोई दूसरा अन्याय किया है अतएव उसके उपलक्ष्य में आपको कोई दड मिलेगा ।

साराश यह है कि जिसने अच्छा काम किया है उसे आन

आता है और बुरा काम करने वाले को रोना आता है। इसी प्रकार जिसने अपने जीवन मे अच्छे-अच्छे काम किये हैं, वह अपना शरीर छोडकर खुशी के साथ अपना हिसाब देने चला जाता है, मगर जिसने बुरे काम किये हैं, उसे रोना आता है। उसका पाप उसमे कायरता उत्पन्न करता है और रुलाता है। जिसने भली-भाँति श्रावक के व्रतो का पालन किया है, उसे मरते समय धैर्य रहता है, वह प्रसन्न होता है और घबराता नही है। पर जिसने अपने व्रत को अच्छी तरह नही पाला, उसे घबराहट रहती है, वह दुःखी होता है और हाय-तोबा मचाता है। हंसते-हँसते मरने वाला वीर है और जो धैर्य खोकर घबराहट के साथ मरता है, वह कायर है।

अब आप आत्मतत्त्व को समझ गये। अब इस बात का विचार कीजिए कि जीवात्मा विशुद्ध है तो वह जुदे-जुदे रूपो मे क्यों दिखाई देता है? कोई लक्षाधिपति बना हुआ है और कोई टुकडे-टुकड़े के लिए तरसता और भीख मांगता फिरता है। कोई मूर्ख है, कोई चतुर है। कोई सुखी है तो कोई भयानक त्रास पा रहा है। इसका क्या कारण है? जीवात्मा की यह विचित्र गति क्यो हो जाती है? इसका उत्तर है—पुण्य और पाप का भोग। जिस आत्मा ने जैसा पाप या पुण्य किया है, उसे वैसा ही दुःख या सुख रूप फल प्राप्त होता है। जिसने पाप किया है उसे दुःख और जिसने पुण्य किया है उसे सुख प्राप्त होता है।

पुण्य क्या है और पाप क्या है, यह बात ज्ञानी पुरुषों को हथेली की रेखा के समान स्पष्ट हो जाती है। एक ही सोना राजा का मुकुट बनकर उसके सिर पर चढता है और वही झांझर बनकर पैर मे पहना जाता है। जिस मिट्टी का बना कलश मस्तक पर उठाया जाता है उसी मिट्टी का बना सिकोरा शौच के काम आता है। यह सब कर्म की विचित्र गति है। इसी विचित्रता ने जीव को जुदा-जुदा रूप प्रदान किया है। इस विषय का विस्तार बहुत

लम्बा है। थोडे मे यही कहा जा सकता है कि एक चीज के निमित्त से अज्ञानी पाप का उपार्जन करता है और उमी को ज्ञानी धर्म या पुण्य के उपार्जन का हेतु वना लेता है। एक मनुष्य अन्न से पाप कमाता है और दूसरा उसीसे पुण्य उपार्जन करता है।

न केवल अन्न की ही, वरन् समस्त पदार्थों की तीन दशाएँ होती हैं—दान, भोग और नाश। जो लोग खाने के लिए सौ, दो सौ या पाँच सौ का अनाज घर मे लाकर भर लेते हैं, उसकी भी तीन दशाएँ होती हैं। कुछ तो पडे रहने से सड-गल जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है, शेष को खा लेते हैं और दान तो कोई विरला ही करता है। वहुत से लोग तो उतना भी दान नही देते, जितना नष्ट हो जाता है। यह जानते हुये भी लोग अन्नदान नही करते। अगर आप अव दान देने के लिए तैयार हैं तो पहले न देने के लिए पश्चात्ताप करो। पश्चात्ताप इस प्रकार करो, जैसा कि इस मराठी गीत मे किया गया हैं —

उत्तम जन्मा येऊनी रामा गलोमीं वाया।
दुष्ट पातकी शरणमीं आलो सत्वर तव पाया।
आर्जवियले वहु लवण भंजने व्याया जेवाया।
क्षुधित अतिथि कधि नहीं घेतला प्रेम जेवाया॥

यह एक रामभक्त का कथन है। मैं तो राम और अरिहत को एक ही मानता हूँ। जो राम है वही अरिहत है जो अरिहत है वही राम है। अस्तु।

रामभक्त कवि कहता है—हाय! मैंने उत्तम मनुष्य-जन्म पाया और अच्छे कुल मे जन्म लिया, परन्तु उसे वृथा गँवा दिया। हे प्रभो! अव तेरी शरण मे आया हूँ। मैंने समधी-व्याईजी को जिमाने के लिये नाना प्रकार के भोजन वनवाये, तरह-तरह के शाक तैयार करवाए, भाँति-भाँति की मिठाइयाँ वनवाई। जव समधीजी भोजन कर चुके—पेट भर चुके, तव भी मनुहार की—अजी, लीजिए,

लीजिए, एक लड्डू तो और ले लीजिये।

समधीजी कहते—नही साहब, अब पेट मे जगह नही है।

तब मैं कहता—अजी एक लड्डू मे अजीर्ण थोड़े ही हो जायगा। अगर हो भी गया तो मेरे पास खट्टा-मीठा हाजमा चूर्ण मौजूद है। उसकी एक ही फाँकी से सब साफ हो जायगा।

मुझे मालूम था—एक भूखा आदमी—जिसे अपने प्राणो की रक्षा के लिए अन्न की आवश्यकता थी, माँग रहा था। पर हाय! मैंने उसे नही दिया।

भाइयो! राम का भक्त इस प्रकार पश्चात्ताप करता है। अब आप अपनी स्थिति पर दृष्टि दीजिये। आपने कभी भूखे को प्रसन्नतापूर्वक अन्तःकरण की प्रेरणा से दान दिया है? व्याईजी को ठूँस-ठूँस कर भोजन कराने मे पाप समझते हो या पुण्य मानते हो? पाप! फिर उन्हें क्यो ठूँसने के लिए जबरदस्ती करते हो?

जिसे वास्तव मे अन्न की आवश्यकता है, जो मुट्ठी भर दानो के लिए आपके सामने हाथ फैलाता है, उसे तो आप चार दाने या एक टुकड़ा भी नही देते, पर जिसे जरूरत नही है, जो लेने से इन्कार कर रहा है, उसे आप जबर्दस्ती परोसते हो! न जाने आपको इसमें कौन सा महान् पुण्य दिखाई दे रहा है! हमारी समझ मे तो कुछ आता नही।

मित्रो! जैसे व्याईजी को खुशी के साथ लड्डू परोसते हो, उसी प्रकार कभी किसी गरीब और दुःखी आत्मा को दान दिया स्मरण आता है? स्मरण कहाँ से आवे! वह तो श्रीकृष्णजी ही थे, जिन्होने हाथी पर सवार होते हुए भी बूढे को ईंट ले जाते देख कर स्वय ईंट उठाई और गरीब का दुःख दूर किया। आपको याद आता होगा गरीबों को धक्के देना! आपने गरीबो को न जाने कितने धक्के मारे हैं। रेल मे तो पूछना ही क्या है! वहाँ कदाचित् कोई गरीब आ घुसा तो आप उसका कैसा सत्कार करते हैं? चल,

वे साले कही के । यहाँ तो पहले ही बहुत भीड है, फिर तू कहाँ से आ मरा ! यह शब्द हैं, जिनसे आप लोग दीन-दुखिया का अभिनन्दन करते हैं । सेठ साहब और बाबूजी समझते है—मैं ही अकेला गाडी मे बैठूं । उन्हें दूसरे के सुख-दुख से क्या सरोकार ? जिनकी ऐसी मनोदशा है उन्हे पाप-पुण्य की कल्पना ही किस प्रकार आ सकती है ।

हीरो और मोतियो से जडी हुई बँगडियाँ पहनने वाली बहिनों के पास अगर ऐसी ही कोई सेठानी बाई आ जाय तो उसका आदर सत्कार होता है । उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट की जाती है । अगर कोई सदाचारिणी किन्तु गरीब बहिन आ जाती है तो उसकी बात भी नही पूछती ।

एक देहाती मनुष्य बहुत बुद्धिमान और होशियार आदमी था । उसने सोचा—देहात मे जैसी चाहिए वैसी इज्जत नही होती और न कोई काम ही है । ऐसा सोच कर वह शहर मे गया । शहर मे पहुँचकर वह किसी सेठ की दुकान पर गया । सेठ साहब ने उससे कुछ भी बात नही की, क्योकि वह देहाती था और सादी पोशाक पहने था । सेठ अपनी धुन में मग्न था । दुकान पर दस-पाँच मुनीम काम कर रहे थे । कोई हुँडी लिख रहा था, कोई चिट्ठी पढ रहा था, कोई कुछ और कर रहा था । उस देहाती से किसी ने कुछ न पूछा ।

आगन्तुक पुरुष देहाती होने पर भी बुद्धिमान था । वह समझ गया कि मेरी सादी पोशाक देखकर मुझसे कोई बात नहीं करता । वह वहाँ से उठा और धोबी के पास गया । धोबी से कहा—भाई, तुम्हारे पास किसी अमीर की पोशाक धुलने आई हो तो कुछ समय के लिए मुझे दे दो । मैं वापिस लौटा दूँगा । तुम उसे दोबारा धोकर दे देना । अपना मेहनताना चाहे पहले ही ले लो ।

धोबी ने उसकी बातचीत से समझा—कोई भला आदमी

है । उसने उसे कपडे दे दिये । देहाती ने कपडे पहने और कही से वढिया जूते भी खोज लिये । हाथ मे एक वेत ले लिया । अव वह अकड के साथ चलता हुआ किसी सेठ की दुकान पर जा पहुँचा । उसे आता देख सेठ खडा हो गया और वोला—पधारिये साहव, कहाँ से तशरीफ लाये है ? कैसे पधारना हुआ ?

देहाती वोला—आप ही से मिलने आया हूँ ।

सेठ—ठीक, विराजिये ।

देहाती शान के साथ वैठ गया । सेठजी ने पूछा—आपको भोजन आदि करना होगा न ?

देहाती—हाँ, कर लेंगे । जल्दी क्या है ।

सेठजी की आज्ञा होते ही कोई नौकर रसोई की तैयारी मे लगा, कोई पानी लाने लगा । देहाती वुद्धिमान् तो था ही, इधर-उधर की दो-चार बातें वनाई । सेठ उसकी वुद्धिमत्ता पर रीझ गया । खूब खातिर की । भोजन तैयार हो गया तो भोजन के लिए कहा । देहाती भोजन करने गया । आसन पर वैठकर दो लड्डू इस जेव मे डालने लगा और दो वर्फियाँ उस जेव मे । तीसरी मिठाई साफे में वाँधने लगा और कुछ सामान रूमाल में रखने लगा । यह देखकर सेठ भौंचक्का सा रह गया । वह वोला—आप यह कर क्या रहे हैं ?

देहाती ने धीमे स्वर मे कहा—जिनके प्रताप से मुझे यह मिठाई मिली है, उन्हे तो पहले जिमा दूँ ।

सेठ—सो कैसे ?

पहले सादी पोशाक पहनकर मैं आपकी दुकान पर आया था । तव आपने मुझ से वात भी न की । जव यह कपडे पहनकर आया तव यह खातिर हुई । वास्तव में यह खातिर इन कपड़ो की है ।

सेठ वडा लज्जित हुआ और उसने क्षमा मागी ।

आप मे से वहुत से भाई इसी प्रकार का आदर-सत्कार करते हैं । परन्तु यह सच्चे श्रावक का लक्षण नहीं है । मित्रो ! सभ्यता

सीखो । सभ्यता के विना धर्म का पालन नही हो सकता ।

आप इतनी विशाल हवेलियाँ बनाते है, मगर कोई वेचारा दुखी उनमे आश्रय लेने के लिए आ जाय तो आप क्या करेंगे ? आप कहेगे--चल साले, यहाँ से । यहाँ क्या धर्मशाला है ! मित्रो ! क्या यह आदर्श दया है ? आप अपने घर को ठाकुरजी के मन्दिर के समान बना दीजिए । मन्दिर मे ठाकुरजी की भावना की गई है । आप साक्षात् धर्मात्मा बनकर अपने निवासस्थान को धर्मनिवास बना दीजिये ।

मैंने कई वार कहा है कि सादगी सभी के लिए हितकर है । यह भभकेदार मकान जिनमे विजली जगमग करती है, जो तरह-तरह के आकर्षक रगो से रगे हुए हैं और वहुमूल्य साज-सामान से सजाये हुए हैं, इनमे कभी किसी गरीव को स्थान नही मिलता । किन्तु छोटे घरो मे उन्हे आश्रय मिल जाता है । और बातो के विषय मे भी यही समझ लेना चाहिए । अगर आप खादी के कपडे पहनते हैं तो चार-छह महीने पहनने के वाद पुराने हो जाने पर या अधफटे हो जाने पर आप किसी गरीव को दे सकेंगे । वह उन्हें पहनकर दो-चार सर्दी-गर्मी के महीने निकाल देता है । मगर रेशम, मखमल या चाइना सिल्क के कपडे इस प्रकार नही दिये जा सकते । भोजन के विषय मे मैं पहले ही कह चुका हूँ कि दाल का हलुवा वच जाय तो दोवारा सेक कर काम मे लाया जा सकता है, मगर मामूली दाल-भात या घाट किसी भूखे को सहज ही दी जा सकती हैं । इस प्रकार सादगी के साथ जीवन-निर्वाह करने से पुण्य का अवसर प्राप्त होता है ।

मित्रो ! आपका भोजन, आपके कपडे तथा अन्य वस्तुएँ, सव पुण्यदाता हो सकती हैं, अगर विचारपूर्वक इनका उपयोग किया जाय । इसके विपरीत, अविचार-पूर्वक उपयोग करने से यही वस्तुएँ भयकर पाप वढाने वाली भी हो सकती हैं ।

स्प्रिंगदार पलंग और मखमल से मढी कुर्सियाँ केवल अहंकार बढाने का साधन हैं। इन्हे रखने से गर्व होने लगता है। इस प्रकार की वस्तुएँ क्या साधु के काम मे आ सकती हैं ? नही। जो वस्तु आपके गुरु के काम मे नही आ सकती, उन्हे रखकर आप आदर्श श्रमणोपासक कैसे ? आप तो अमीरोपासक कहलाए ! क्योकि इन्हें देखकर अमीर लोग ही प्रसन्न होते हैं और उन्ही के काम मे वह आती है।

भाइयो ! इस चटक-मटक और फैशन-परस्ती से आपका कितना पतन हुआ है ? बारीक विलायती कपडो से समाज मे ब्रह्मचर्य का कितना नाश हुआ है ! इन्होंने क्या-क्या रग दिखाये हैं ! यह सब देखकर भी अगर आप इनका त्याग नही कर सकते तो फिर क्या कर सकेंगे !

यह मनुष्य-देह बडे पुण्य से मिला है। इसका सदुपयोग करो। इसका सदुपयोग प्राणीमात्र पर दया रखने से, मीठे वचन बोलने से, सब के प्रति मैत्रीभाव रखने से, सयम और सादगी से जीवन-निर्वाह करने से होता है।

कल्पना कीजिए, कोई देवता किसी आदमी से कहता है—अमुक पेड के पास दो खानें हैं—एक रत्न की और दूसरी कोयले की। जिसे चाहो, खोदलो। अब आप बताइए, वह आदमी कुदाली लेकर किसे पहले खोदने जायगा ?

रत्न की खान को !

जब वह रत्न की खान खोदने जायगा तो अकेला ही जायगा या अपने इष्ट मित्रो और अपने घर वालो को भी साथ ले जायगा ?

साथ ले जायगा !

क्योकि अकेला जाने से कम रत्न घर मे आएँगे। मित्रो ! अगर तुमसे कोई देव ऐसा कहे तो तुम किसे खोदोगे ?

रत्नों को।

अगर तुम व्रत खोदोगे तो निहाल हो जाओगे। पर आप कहेंगे कि ऐसा देवता है कहाँ? क्या आप उस देवता को नही जानते? मैं कहूँगा—तुम जानते हो। वह देवता हैं—अरिहत भगवान।

भगवान कहते हैं—तुम्हारा मुंह खान है और जिह्वा कुदाली है। इस जीभ से चाहो तो मीठे और सत्य वचन रूपी रत्न निकाल लो, चाहो तो कटुक और झूठे वचन रूपी कोयले निकाल लो। यह तुम्हारे ही हाथ की बात है। मित्रो! मीठे वचन रूपी रत्नो की खान अपने इष्ट मित्रों और घर वालो को भी बतला देना। इससे बडा लाभ होगा। शब्द मे पुण्य भी है और पाप भी है। अच्छे शब्दो से पुण्य और खराब शब्दो से पाप होता है।

जीभ जोग अरु भोग जीभ सब रोग बढ़ावे,
जिह्वा से यश होय जीभ से आदर पावे।
जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुंठ पठावे,
जीभ करे फजहीत जीभ से जूता खावें॥
अकल-तराजू जीभ है, गुण औगुण दोनों तोलिये।
वैताल कहे विक्रम सुनो जीभ सँभाली बोलिये॥

जिस मनुष्य ने खाने और बोलने पर अकुश लगा लिया है, समझ लो उसने सारे ससार पर अकुश लगा लिया है। आप शब्दो द्वारा प्राणी को शान्ति पहुँचा सकते हैं और जला भी सकते हैं। आपको क्या पसन्द है?

वचन वचन के आंतरो, वचन के हाथ न पांव।
एक वचन है औषधी, एक वचन है घाव॥

अगर तुम परमात्मा मे मिलना चाहते हो—परमात्मपद प्राप्त करना तुम्हे अभिष्ट है और सच्ची एव शाश्वत शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो कटुक भाषण करना, पर-निन्दा करना और मर्मभेदी वचन बोलना छोड दो। अगर निन्दा करनी है तो आत्म-निन्दा करो।

कहा भी है—

आतम-निन्दा करिये प्राणी, पर-निन्दा परिहरिये रे ।
जूठी कूडी विना विचारी, अजब गजब ना धरिये रे ॥

इस प्रकार अपने आप की निन्दा करो, दूसरो की निन्दा मत करो। अपनी निन्दा करने से अपने दुर्गुण दूर होते है और परनिन्दा करने से पर के दुर्गुण अपने मे आते हैं । एक पाप करने वाले के घर तो एक ही पाप रहता है, पर परनिन्दा करने वाले के घर सव पापो का वास होता है ।

कई लोग सोचते हैं कि पापी की निन्दा न की जाय तो वह अपना पाप नही छोडता । यह विचार गलत है । अगर तुम किसी मे दोप देखते हो तो उसे एकान्त मे शान्ति और प्रेम के साथ समझा दो । निन्दा करने से उसका पाप नही छूटेगा । निन्दा करने से कदाचित वह गुप्त रूप से पाप करेगा या धृप्ट वन जायगा । इस के अतिरिक्त परनिंदा स्वय पाप है । परनिंदा का पाप करने वाला स्वय पापी है । वह पापी का पाप क्या दूर करेगा ? किसी का पाप छुडाने की नीयत से भी पाप को अगीकार करना उचित नहीं है । वल्कि जो स्वय निष्पाप है, जिसके अन्त करण मे पाप की मलीनता नही है, वही अपने प्रभाव से पापी को पापहीन वना सकता है । अतएव पापी का पाप हटाने के लिए पापी मत वनो, किन्तु अगर आप मे कोई पाप पहले का है तो उसका भी परित्याग करो ।

जो मनुष्य दोपी के सामने जी हाँ, जी हाँ करते हैं और उसकी तारीफ के पुल वांधते नहीं थकते और परोक्ष मे उसकी निंदा करते है, वह मनुष्य महा-नीच है, ऐसा मानना चाहिए। उन की आत्मा पतित है, कायर है । उनमें आत्मवल और स्पष्टवादिता का अभाव है । उनका यह व्यवहार धूर्तता-भरा है ।

आपने 'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति' सव गुण सोने के गहनो मे ही हैं, ऐसा मान लिया है । मगर सच्चा आभूपण सत्य वोलना,

प्रेम से बोलना तथा सब की सेवा करना है । 'इस गहने के आगे इन्द्राणी भी झुक जाती है ।

पतिवरता फाटा लता नहीं गला में पोत ।
भरी सभा में ऐसी दीपै हीरन की-सी जोत ।
पतिव्रता फाटा लत्ता धन जाका दीदार ।
कहे कालू किहि काम का, वेश्या का सिणगार ॥

बहिनो ! सीता जब वन मे गई थी, तब उसने गहना पहना था ? द्रौपदी बारह वर्ष तक वन मे रही, तब वह गहनो से लदी थी ? नही । द्रौपदी ने विराट नगर मे राजा के यहाँ सैरध्री नामक दासी बनकर रानियो की रानी होते हुए भी सिर गूँथने का छोटी से छोटी दासी का काम किया था । आज ऐसी सती-साध्वी देवियो के आगे सारा ससार सिर झुकाता है ।

तात्पर्य यह है कि जीवन को अन्तर्मुख बनाने का प्रयत्न करो । बाहरी बातो में मत पडे रहो । बढिया गहने और कपडे मनुष्य का आभूषण नही हैं । इनसे शरीर का ऊपरी सौन्दर्य चाहे बढ जाय, मगर आत्मा की सुन्दरता का ह्रास होता है । तुम शरीर नही हो, आत्मा हो । आत्मा की सुन्दरता बढाने का उद्योग करो । ऐसा करने से तुम्हारी स्थिति मे अभूतपूर्व परिवर्तन होगा ।

सुबाहुकुमार ने आत्मिक सौन्दर्य बढाने के लिए जो प्रयत्न किया उससे उसकी अवस्था मे क्या परिवर्तन हो गया, उसके क्या कर्तव्य थे और फिर क्या कर्तव्य हो गये, यही बात गणधर भगवान अपनी भाषा मे, सूत्र के रूप मे, आपको सुना रहे हैं । आप दवा के गुण जानते हैं और यह भी जानते हैं कि इसी दवा से मेरा रोग मिटेगा, फिर भी अगर आप दवा का सेवन न करें और आप का रोग न मिटे तो यह आपका ही दोष है । जब आपके विकार शान्त हो जायेंगे और आपको सच्ची शान्ति प्राप्त होगी, तभी यह कहा जायगा कि आपने धर्मतत्व का श्रवण किया है ।

सुवाहुकुमार को जीव और अजीव या जड-चेतन का ज्ञान हो गया। पुण्य और पाप भी उसके लिये हस्तरेखा के समान स्पष्ट हो गया। जिस मनुष्य को पुण्य-पाप का ज्ञान हो जाता हैं, वह अशुभ मे से भी शुभ प्रकृति वांध लेता है। धर्म तो परिवर्तन दशा का नाम है। जो मनुष्य अपने जीवन मे परिवर्तन करके धर्म की आराधना करने लगता है, उसकी इधर-उधर पडने वाली दृष्टि भी शान्ति का सचार करने लगती है। जैसे वृक्ष अपने पुष्पो की सुगध से आस-पास के समस्त वायु-मडल को सुगन्धमय वना देता है, उसी प्रकार आत्मानन्दी पुरुष आस-पास मे रहने वाले प्राणियो को आनदित कर देता है। वृक्ष अपने भीतर से एक प्राणपद वायु छोडता है, मनुष्य अपने श्वास द्वारा उसे अन्दर खीचता है। यह मनुष्य की जिन्दगी टिकाने मे सहायक होती है और मनुष्य के उच्छ्‌वास से जो वायु निकलती है, जिसे कार्वोलिक-विप-वायु कहते हैं, उसे वृक्ष अपने अन्दर खीच लेते हैं। मेरे कहने का आशय यह है कि पुण्य-पाप रूपी आक्सिजन और कार्वोलिक गैस मे से पुण्य रूपी आक्सिजन गैस को खीच लेना चाहिये।

अपने आप में शुभ-भावना का सचार करना आपको मुश्किल मालूम होता होगा, पर वह वास्तव मे मुश्किल नही है। जव इस भावना का सचार अपनी आत्मा मे आप करने लगेंगे तो एक पखवाडे मे ही आपको अपूर्व शान्ति मालूम होने लगेगी।

सुवाहुकुमार ने आत्मशान्ति के लिये आस्रव और सवर का भेद भी समझ लिया। कर्म-वन्ध का कारण आस्रव कहलाता है और आस्रव का निरोध सवर कहा जाता है। अर्थात् नवीन कर्मो का आत्मा के साथ सम्वन्ध न होना सवर है थोड़े मे आस्रव का अर्थ शुभ-अशुभ कर्म को ग्रहण करना है और सवर का अर्थ शुभाशुभ कर्म को रोकना है।

यहाँ; आशका की जा सकती है कि शुभ को भी रोकना

सवर है और सवर ग्राह्य एव मोक्ष का कारण है तो पुण्य भी उचित नही है। इसका समाधान यह कि औषध तभी तक ग्राह्य है, जब तक रोग रहे। रोग मिटने के पश्चात् औषध भी त्याज्य है। नदी पार करने के लिए नाव उपादेय है और परले किनारे पहुँच जाने के बाद त्याज्य है, वैसे ही साधक-दशा मे पुण्य उपादेय है और सिद्ध दशा मे त्यागने योग्य है।

ज्ञानी आस्रव की जगह सवर कर सकता है और सवर की जगह आस्रव कर सकता है।

दातौन—कुल्ला करने मे आरम्भ-समारम्भ होता है। यह आस्रव ही है, परन्तु विवेकी पुरुष यतनापूर्वक काम करके उसमे भी सवर कर लेता है। विवेकी इस बात का ध्यान रखता है कि पानी में कहीं लीलन-फूलन न हो, जिससे कि अयतना हो जाय। अज्ञानी को इस बात का ध्यान नही रहता। विवेकी मुह धोने मे पानी को ज्यादा नष्ट नही करता। इसी प्रकार अन्य कामो मे भी ज्यादा हिंसा न करने का ध्यान रखता है।

मुह क्यों धोया जाता है? इसीलिए कि मैल लग गया हो तो दूर हो जाय। पर ज्ञानी जानता है कि अपना मुह अपने को दिखाई नही देता। उसकी उज्ज्वलता दूसरो को ही दिखाने के लिये है। अतएव वह अपने हृदय की भावना को शुद्ध रखने और करुणा बुद्धि का विकास करने की ओर विशेष लक्ष्य रखता है। इस प्रकार अन्य लोगो को अपनी शारीरिक उज्ज्वलता दिखलाने की अपेक्षा अपनी चरित्र सम्बन्धी उज्ज्वलता प्रदर्शित करना अधिक श्रेयस्कर है। जो पुरुष अपना मुंह सिंगारने मे लगा रहता है और जिसका चरित्र मलीन है, वह चाहे अपने को वेदाग समझे, पर उसके चेहरे प महा-दाग हुआ है।

धर्म की भावना धर्मस्थान मे ही नही होनी चाहिए व जीवन के प्रत्येक कार्य मे ओत-प्रोत होनी चाहिए। पिता, पुत्र

विवाह कराने साथ जाता है, परन्तु स्त्री को लाने के समय साथ नही जाता । पिता कहता है—मैंने तेरा विवाह कर दिया, अब स्त्री को ले आना तेरा काम है । पुत्र की परीक्षा दामाद बनकर सुसराल जाने पर होती है । वही उसकी कसौटी होती है । जो दामाद सुसराल जाकर स्त्री को लाना भूल जाय, उसके समान महामूर्ख दूसरा कहाँ मिलेगा ? उपदेशक की देख-रेख मे धर्मक्रिया के साथ आपका लग्न होता है । अगर आप क्रिया को साथ न लेते गये तो आप भी उस दामाद के समान गिने जाओगे ।

जो मनुष्य प्रत्येक क्रिया करते समय सवर को ध्यान रखता है, वह अपनी आत्मा को एक दिन निष्कर्म और निष्कलक बना लेता है ।

सुबाहुकुमार ने जीव-अजीव, पाप-पुण्य और आस्रव-सवर को समझ लिया । पहले राज्यवैभव के कारण उसकी प्रसिद्धि थी अब धर्मवैभव के कारण उसकी प्रतिष्ठा होने लगी । राज्यवैभव और धर्मवैभव मे बड़ा अन्तर है । इन दोनो मे बडा वैभव कौनसा है, यह बात गम्भीर विचार से जानी जा सकती है । राज्य के वैभव को संसार जल्दी देख सकता है किन्तु धर्म का वैभव कठिनाई से नजर आता है । राज्यवैभव को दुनिया अपनी आँखो से देख सकती है, परन्तु धर्मवैभव को ज्ञानी पुरुष ही अपने हृदय से देख पाते हैं । धर्मवैभव को देखने के लिए दिव्य ज्ञान-चक्षु की आवश्यकता है ।

सुबाहु के धर्मवैभव का ज्ञान हमे भगवान महावीर के केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त हो रहा है । महावीर भगवान, गौतम स्वामी से कहते हैं—हे गौतम ! सुबाहुकुमार श्रमणोपासक हो गया । श्रमणोपासक होने पर उसे जीव-अजीव का ज्ञान हो जाने से पाप-पुण्य का ज्ञान हस्तरेखाओ के समान स्पष्ट हो गया । वह आस्रव-सवर को भली-भाँति समझ गया । वह निर्जरा, क्रिया और अधिकरण तथा बध-मोक्ष को भी अच्छी तरह पहचान गया ।

निर्जरा दो प्रकार की होती है । एक सकाम निर्जरा, दूसरी अकाम निर्जरा । अकाम निर्जरा ससार के प्रत्येक प्राणी को प्रति-क्षण होती रहती है, परन्तु उससे आत्मा का कल्याण नही होता । आत्मकल्याण के लिए सम्यग्दृष्टि पुरुष, सम्यक्त्व के गुण प्राप्त करके वारह प्रकार की निर्जरा मे से किसी एक भेद को स्वीकार करता है । सकाम निर्जरा का अनुष्ठान करना ही निर्जरा के सच्चे मर्म को जानना है ।

निर्जरा के पश्चात् क्रिया का ज्ञान होना आवश्यक है । कौनसी क्रिया करनी चाहिए और कौनसी नही, यह समझ लेना बहुत उप-योगी है । क्रिया-अधिकरण को समझकर शुद्ध क्रिया किये विना सच्चा धर्म नही होता । उदाहरण के लिए रेल की सवारी मे ज्यादा पाप है या बैलगाडी की सवारी में ?

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के सामने भी यह प्रश्न उप-स्थित किया गया था । पूज्य श्री ने फरमाया था कि एक आदमी यहाँ से रेल द्वारा कलकत्ता की मुसाफिरी करे और दूसरा बैलगाडी द्वारा । यद्यपि बैलगाडी द्वारा मुसाफिरी करने वाला देरी से कलकत्ता पहुँचेगा, घास-पानी का आरम्भ-समारम्भ भी होगा, परन्तु रेल द्वारा मुसाफिरी करने वाले से इसे कम पाप लगेगा ।

इसका कारण यह है कि गाडी का आरम्भ-समारम्भ स्वतन्त्र है । गाडी दूसरे देश वालो को हानि नही पहुँचाती—दूसरे देश वालो का खून नही चूसती । मगर रेलगाडी वनाने के लिए कितनी भयकर क्रिया करनी पडती है, कैसे-कैसे पापमय साधनो से उसका निर्माण होता है ! बन जाने के वाद भी वह कितना नुकसान पहुँचाती है ।

रेल के दौडने से कतिपय व्यापारियो के जेव भले ही भर गये हो—वे धनवान बन गये हो, परन्तु देश की तो वर्वादी ही हुई है । यह तुम्हारे देश का खू[illegible] रेल दौडती क्या है, खून चूस रही है । गाडी का तेजी चूसकर विलायत वालो की तोद वढा रही है ।

दौडना क्या वतलाता है ? यह आसन्नमृत्यु का लक्षण है।

यह मैं मानता हूँ कि रेल की सवारी करना आप सवसे कभी नही छूटेगा, मगर जो भाई या वहिन इसका त्याग करेंगे, मैं उन्हे धन्यवाद दूगा—शावासी दूंगा। जिस काम को ज्ञानी वुरा समझता है, वह किसी कारण से अगर न छूटे तो उसे धिक्कार तो अवश्य ही देता है। उसके मोह मे वह नही फँसता।

कई भाई चर्खा कातने मे घोर पाप समझते हैं। उनका कहना है कि चर्खा गर्र-गर्र फिरता है, अतएव वायुकाय की हिंसा होती है। ठीक है, मगर विलायती कपडा किस प्रकार तैयार होता है, यह आप जानते है ?

आप लोग वाहर जाकर कहते हैं—महाराज तो चर्खा कातने का उपदेश देते हैं और रेलगाडी की जगह वैलगाड़ी की सवारी करने को कहते हैं। यह समझना भ्रम है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आप पहले महापाप का त्याग करें। अल्प-पाप का त्याग करना भी उचित है, मगर अल्प-पाप को त्याग कर उसके वदले महापाप का आचरण करना शास्त्रविहित नही है। अगर कोई व्यक्ति मुझसे वनस्पति का त्याग कर उसके वदले मास-भक्षण करने का नियम लेगा तो मैं ऐसे नियम का अनुमोदन नही करूंगा, क्योकि वनस्पति की अपेक्षा पचेन्द्रिय प्राणी का मास-भक्षण करने मे अधिक पाप है। इस सादे सत्य को समझना आपके लिए कठिन नही होना चाहिए। हाँ, अगर कोई मासभक्षी पुरुष मांस का त्याग करके सिर्फ वनस्पति पर निर्भर रहना चाहता है तो उसके मांस त्याग का समर्थन करना चाहिये। इस प्रकार उपदेश देना भी अनुचित नही है। इसी प्रकार मैं महापाप के अन्य कार्यो के त्याग का उपदेश देता हूँ और आपको यह वतलाता हूँ कि कौनसा काम महापाप का और कौनसा अल्प-पाप का है ? मैं महारम्भ की क्रिया मिटाने के लिये कहता हूँ।

वीतराग का मार्ग, जैसा आप समझते हैं, उससे निराला है।

आज आप आटे का माड लगाकर विशुद्ध वस्त्र तैयार कर देने वाले जुलाहो को अछूत कहते हैं, उनसे दूर भागते हैं, पर मिल के कपडो मे पशुओ की चर्बी लगाई जाती है। वह चर्बी मूक पशुओ की हत्या किये विना प्राप्त नही होती। ऐसे कपडे पहन-ओढकर आप गौरव मानते हैं, सेठाई की ठसक दिखलाते हैं और ऐसी घोर हिंसा करने-कराने वालो से हाथ मिलाने मे आप अपना अहोभाग्य मानते हैं। इसलिये कि वे धनवान हैं—मिल मालिक हैं।

चर्खा कातकर, सूत पैदा करके उसके कपडे बनवाने मे आप पाप समझते हैं और मैनचेस्टर के कपडे पहनकर पवित्र हो गये ऐसा मानते हैं। यह आपकी कैसी बुद्धि है कि आप हिंसक को उत्तम और अहिंसक को नीच समझते हैं।

पहले के जमाने मे बडे-बडे धनाढ्य घरो की स्त्रियाँ चर्खा कातती थीं। चर्खा सिर्फ पैसा पैदा करने की मशीन ही नही, वरन् एकाग्रता प्राप्त करने का सरल साधन भी था। चर्खा विधवाओ के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखो की भूख मिटाने वाला था। चर्खा आधुनिक काल का आविष्कार नही, पुरातन काल की स्मृति है। जैन शास्त्रो मे भी इसका वर्णन आया है।

इस विषय मे एक चरित आया है। वह लम्बा है। अतएव उसका कुछ ही सार कहता हूँ।

कुछ कुमारी बालिकाएँ आँखें मीचकर कोई खेल खेल रही थी। उन्होंने मन्दिर मे यह खेल किया था। उन्होने आपस मे यह निश्चय किया था कि जिसके हाथ मे मन्दिर का जो खम्भा आ जाय, वही उसका पति माना जाय। बालिकाएँ खेलने लगी। सयोग-वश आर्द्रकुमार नामक एक मुनि वहाँ खडे थे और वह एक बालिका के हाथो मे आ गये। आँख खोलने पर बालिका चौंकी। मुनि चुपचाप आगे जाने लगे। तब बालिका बोली—नाथ आप कहाँ पधारते हैं ?

मुनि ने उत्तर दिया—वाई, हम अपने ठिकाने जा रहे हैं।

वालिका—मैंने आपको पति-रूप मे स्वीकार कर लिया है। मैं भी आपके साथ ही चलूंगी।

मुनि—हम मुनि हैं। पति स्वीकार करना हो तो किसी ससारी को स्वीकार कर सकती हो।

वालिका—क्या कुलीन कन्या कभी दूसरा पति स्वीकार करती है?

मुनि मौन हो रहे। वालिका उनके पीछे-पीछे लगी। जहां मुनि जाते, वह भी वही उनके पीछे लगी रहती। वालिका की यह दृढता और प्रेम देखकर आखिर मुनि पिघले और बोले—देखो, मैं तुम्हारे साथ विवाह करता हूँ, मगर जीवनभर मैं तुम्हे नही निभा सकता। सिर्फ वारह वर्ष तक मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। अगर यह वात स्वीकार हो तो ठीक, अन्यथा किसी दूसरे पुरुप के साथ विवाह कर लो।

वालिका—नही, नाथ! आप जैसा कहेगे, वही करूंगी। आप कितने ही दिन मेरे साथ रहे, पर विवाह तो अन्य पुरुप के साथ मेरा नही होगा।

दोनो का विवाह हो गया। देवो ने इस अवसर पर वारह करोड सोनैया (स्वर्ण-मोहर) वरसाये। कुछ समय के वाद एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया। दिन जाते क्या देर लगती है? वारहवां वर्ष समाप्त होने आया। अव उस लडकी को, जिसका नाम श्रीमती था, खयाल हुआ कि पतिदेव जाने वाले हैं। मैं भी उन्हे रोकना नही चाहती। उन्होंने मेरे लिए जो अद्भुत त्याग किया है, वही मेरे लिए वस है। मगर उनके जाने पर मैं अनाथ हो जाऊंगी। अव मेरी रक्षा कौन करेगा।

श्रीमती वाई गरीव नहीं थी। पास मे विपुल धन था। पुत्र था। रहने के लिए मकान की कमी नही थी। पर वह सोचती

थी—अभी मैं यौवन अवस्था मे हूँ। किसके सहारे अपना समय व्यतीत करूँगी ? मेरे शील की रक्षा कैसे होगी ?

उसे प्रतिज्ञा थी कि मेरे पास जो धन है, उसमे से एक भी पाई अपने काम मे न लूँगी।

श्रीमती जब विचार मे डूबी हुई थी तो उसे अचानक कुछ स्मरण आया। मानो डूबते को सहारा मिल गया। उसने कहा—वाह ! स्वामी, वाह ! खूब कृपा की। बस, अब वह साधन मिल गया, जिसके सहारे अपना यौवनकाल शान्ति से व्यतीत करूँगी।

आप समझे, श्रीमती को क्या साधन मिल गया था ? चर्खा !

वह सोचती—मुझे ज्यादा खाना होगा तो ज्यादा कातूंगी, मामूली खाना होगा तो मामूली कातूंगी। बस, अब मैं सनाथ हुई। अब हर्षपूर्वक पतिदेव को विदा कर सकूँगी।

यह कथा बहुत लम्बी है। तात्पर्य यह है कि चर्खा प्राप्त कर श्रीमती ने बडी ही शान्ति के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

आज विधवाएँ सुन्दर वस्त्र पहनती हैं, जेवर पहनती हैं। कोई उसकी निन्दा नही करता। किन्तु जब चर्खा चलाती है, अपना जीवन शान्तिपूर्वक बिताने की साधना करती हैं, इधर-उधर भटकना छोडकर एकान्त मे एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं तो उनकी निन्दा की जाती है। धन्य है यह समझ !

आपकी सामाजिक स्थिति दिन-दिन बिगडती देख जब मैं एकान्त मे विचार करता हूँ तब आँसू आ जाते हैं। विचार आता है—अन्न खाना छोड दूँ। पर मैं अभी अपने आपको इतना कम-जोर अनुभव करता हूँ कि अन्न नही छूटता।

विधवाओ के लिये शृंगार आग मे घासलेट डालने के समान है। अगर बहिनों को चन्दनबाला, ब्राह्मी, सुन्दरी जैसी पवित्र बहिनें बनाना चाहते हैं तो उन्हे सादगी से जीवन बिताना सिखाओ।

इनके लटके-छटके छुडाओ ।

अब आप प्रकृत विषय पर आ जाइए । सुवाहुकुमार ने वध और मोक्ष को भी जान लिया । आप मोक्ष जाने का मनोरथ करते है, अतएव मोक्ष के मुसाफिर हैं । मोक्ष, वध के नाश होने पर होता है । अतएव आपको वध और मोक्ष को जान लेना आवश्यक है । आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का क्षीर-नीर की तरह एकमेक हो जाना वध कहलाता है और समस्त कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना मोक्ष कहलाता है ।

सुवाहुकुमार तत्वज्ञानी होने के साथ असहाय भी हो गया । वह अब किसी की गुलामी नही चाहता था । वह स्वाधीन हो गया । उसे किसी के सहारे की आवश्यकता न रही ।

आत्मा स्वतन्त्र है । जो इस तत्त्व को समझ करके भी कहता है—मुझे अमुक का सहारा चाहिये । अमुक मेरी आशा पूरी कर देगा । अमुक के योग से मेरा भला-वुरा हो जायगा । अमुक ने मुझे सुख पहुँचाया । अमुक ने मुझे दुख दिया । समझना चाहिये कि ऐसा कहने और मानने वाले ने अभी धर्म का मर्म नही समझा ।

सुवाहु ने किसी मनुष्य की सहायता न चाही । आपको शका हो सकती है कि मनुष्य को पद-पद पर अपने जीवन-निर्वाह के लिये दूसरे की सहायता की अपेक्षा रहती है, फिर सुवाहु मनुष्य की सहायता के विना कैसे रहा ? सहायता के विना मनुष्य जीवित ही कैसे रह सकता है ? वचपन मे माता-पिता सहायक न वनें तो वालक की क्या दशा हो ? जवानी मे स्त्री की सहायता न मिले तो ? इसके अतिरिक्त कोई पुरुष कितना ही उद्योगी क्यो न हो, अपने जीवन की समस्त आवश्यक वस्तुओ का स्वय उपार्जन नहीं कर सकता । भोजन सम्वन्धी विविध वस्तुएँ, वस्त्र, मकान, आजीविका के साधन आदि सभी कुछ कोई क्या स्वय तैयार कर सकता

है ? किसी भी दृष्टि से देखिये, मनुष्य को किसी-न-किसी रूप में सहायता की आवश्यकता रहती ही है। सिर्फ रोटी बनाने मे कितनो ने सहायता दी ? जिन गेहूँओ की आप रोटी खा रहे हैं, उन्हे आपने उत्पन्न नही किया। किसी जमीन मे वह पैदा हुए। किसी किसान ने बोये, काटे, तैयार किये। किसी के द्वारा बनाये हल से किसान ने जमीन जोती। हल के लिये लकडी कौन लाया ? हल मे बैल जुते। बैलो की रक्षा करने के लिए क्या-क्या साधन काम मे लिये गये ? उन्हे किसने तैयार किया ? किसने गेहूँ पीसे ? गेहूँ पीसने की चक्की किसने बनाई ? रोटी सेकने के लिये आग की आवश्यकता पडी। आग कहाँ से आई ? दियासलाई जलाई तो वह किस-किसने बनाई ? थाली कटोरी, चकला, बेलन आदि कहाँ-कहाँ से आया ? जिस घर मे रोटी बनाई जा रही है, वह किसने बनाया ? किन-किन साधनो से बनाया ? वह साधन किस-किसने बनाये ? उन साधनो के लिये भी किन-किन साधनो की आवश्यकता पडी ? और वह किसके परिश्रम से तैयार हुए ? इस प्रकार सिर्फ रोटी बनाने के लिये न जाने कितनों की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसी हालत मे ससार के दूसरे कामो मे मनुष्य को मनुष्य की सहायता की कितनी आवश्यकता है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

ऐसी स्थिति मे असहाय का तत्त्व समझना जरा कठिन है। अगर आप आत्मतत्त्व को समझ जायेंगे तो असहाय का अर्थ भी समझ सकेंगे। आत्मा स्वतन्त्र है। यह जब जहाँ जाता है तो अपना किया पुण्य और पाप साथ लेकर जाता है। इस पुण्य और पाप के अनुसार ही उसे प्रत्येक वस्तु का सयोग मिलता है। जिस वस्तु के सयोग के योग्य पुण्य आत्मा ने उपार्जन नही किया, वह उसे कदापि नही मिलती। इसलिए ज्ञानी समझता है कि कौन मेरा सहायक और किसका मैं सहायक !

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अर्थात्—कर्म करने वाला कौन है ? आत्मा । और कर्म कराने वाला कौन है ? आत्मा । मतलव यह है कि सभी कुछ करने वाला आत्मा ही है । आत्मा अपने ही कर्तव्यो से स्वतत्र वन सकता है और अपने ही कर्तव्यो से परतन्त्र भी वन सकता है । आत्मा को अधिकार है कि वह अपने आपको वैतरणी नदी बनावे या नरक मे ले जाने वाली नाव वनावे, चाहे कामधेनु बनावे, चाहे नन्दनवन वनावे । आत्मा आप ही सभी कुछ वन सकता है । जव वह स्वतन्त्र है, उसमे सव कुछ करने की शक्ति विद्यमान है, तव उसे किसकी सहायता की आवश्यकता है ? ज्ञानी पुरुष सिर्फ अरिहत की सहायता चाहते हैं और वह भी इसलिये कि आत्मा ही अर्हन्त है । आत्मा से भिन्न कोई दूसरा अर्हन्त नही है । ज्ञानी पुरुप आत्मा को ही ईश्वर मानता है । कहा भी है—

यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स. परमस्ततः ।
अहमेव मयाऽऽराध्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ।

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है । अतएव मैं ही मेरे द्वारा आराध्य हूँ—आत्मा से भिन्न और कोई आराध्य नहीं है ।

ज्ञानी पुरुप आत्मा और परमात्मा मे निश्चय नय से इस प्रकार का अभेद देखते हुए भी व्यवहार से भेद भी देखते हैं । इसी लिए कहा जाता है—

दीन को दयालु दानी दूसरो न कोई ।

हे दीनदयाल ! तू महादानी है । दूसरा कोई ऐसा दानी मुझे नजर नहीं आता । इसीलिये मैं तुझसे याचना करता हूँ । तू दाता है । मैं याचक हूँ । तुझे छोड किसी से मैं याचना नही करता । दूसरे को अपनी दीनता क्यों सुनाऊँ । जिसे मैं अपना दु ख सुनाऊँगा वह मुझसे भी अधिक दुखी नजर आयेगा । जो स्वय दुखी

है वह मेरी मुराद कैसे पूरी कर सकता है ? जिसके आगे मैं भिखारी बनकर जाऊँ, वह मुझसे भी बड़ा भिखारी निकलेगा। भिखारी से कैसे भीख मांगूँ ?

आप इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। जो भिखारी आपके पास माँगने आता है उसे आप पैसा दो पैसा दे देते हैं और वह सन्तुष्ट हो जाता है। पर आपको कितने पैसो की जरूरत है ? हजारो लाखो की। अब बतलाइये, बड़ा भिखारी कौन ठहरा ? आप या वह ?

भिखारी आपसे रोटी का एक टुकड़ा माँगता है। मिलने पर वह तृप्त हो जाता है। पर आपको कलाकद, पेड़े आदि-आदि मिठाइयो से भी सतोष नही होता। कहिए, बड़ा भिखारी कौन हुआ ?

भक्त कहता है—अपना दुखड़ा किसके आगे रोऊँ। जिसे अपना दुःख सुनाता हूँ वह स्वय दुखी है। जो अपना दुःख नहीं मिटा सकता, वह मेरा दुःख कैसे मिटायेगा ? दुःख उसी को सुनाना योग्य है जो मिटा सकता हो। जो स्वय दुःखी है वह दूसरो का दुःख कठिनता से ही मिटा सकता है। जो सब प्रकार से सुखी है, जिसे किसी तरह का दुःख नही है, वही दूसरे का दुःख दूर कर सकता है।

अनाथी मुनि ने ससार की एक-एक वस्तु हाथ मे ली। उस पर विचार किया। पर एक भी वस्तु उन्हें ऐसी न मिली जो दुःख का नाश कर सके। उन्होने कहा—मेरा अनाथपन कोई नही मिटा सकता। मेरे पिता मौजूद हैं, पर मैं अनाथ हूँ। अनाथ इस कारण हूँ कि मेरा दुःख वह भी नहीं मिटा सके। जब किसी से मेरा दुःख न मिटा तो मैं अनाथ ही ठहरा। मैंने अपने पिता से अपना दुःख कहा तो वे स्वयं रो पड़े। सब रोने वाले ही इकट्ठे हुए। म[illegible] स्वय रोने वाले किसी को हँसा नही सकते। मेरा दुःख देख[illegible]

पत्नी ने अन्न खाना छोड़ दिया, गध लगाना छोड दिया, सुगन्ध सूघना छोड दिया, अलकार और सुन्दर वस्त्रो का धारण करना छोड दिया । पर कोई मेरा दु ख न मिटा सके । वे मेरे दु ख से दु खी हो गये और उनका दु ख देखकर मैं और ज्यादा दु खी हो गया । पर इससे लाभ किसी को नहीं हुआ । मेरा दु:ख ज्यो का त्यो बना रहा ।

रोने वाला सहायक नही बन सकता । दु ख का गुलाम दु ख से कैसे छुडा सकता है ?

मेरे दु ख को छुडाने मे धन की भी कसौटी हो गई । माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री और मेरे इस शरीर की भी कसौटी हो गई । सभी नाकामयाब रहे । इनमे से कोई अनाथ को सनाथ करने वाला न निकला ।

यह ससार स्वय दुखी है । यह किसी को सुखी नही कर सकता । मेरे स्वामी—मेरे नाथ केवल वीर भगवान ही हो सकते हैं । वीर भगवान नाथ क्यो बने ? इनमे क्या विशेषता है ? जो स्वय दीन न हो—किसी के आगे हाथ न फैलावे, वही नाथ होने योग्य है । बडे-बडे देवता भी मेरे दु ख को नही मिटा सकते । औरो की क्या बात की जाय, देवताओ का भी राजा इन्द्र, जिसके ३ लाख ३६ हजार आत्म-रक्षक हैं, स्वय दु खी है । उसकी रक्षा देवता करते हैं । जो स्वय दूसरो से रक्षित है, वह मेरी क्या रक्षा करेगा ?

आज अनेक बहिने भैरव, भवानी और पीर-पैगम्बर के आगे नतमस्तक होकर बेटा-बेटी की याचना करती है । जो भैरव, भवानी तेल और पतासो की आशा रखते हैं, वे बेटा-बेटी कैसे दे सकते हैं ? वह बेचारे स्वय दीन बन रहे है । जो स्वय दीन हैं, वे दूसरो की मुराद कैसे पूरी कर सकते हैं ?

इन्द्र, इन्द्राणी का हाथ पकड़ना चाहे और कदाचित् इन्द्राणी

उसे लात मार दे तो इन्द्र उसके पैर पर हाथ फेरता है और कहता है—प्यारी ! मेरे मुकुट की कठोर मणियो से तुम्हारी चरण-कमल को चोट तो नही पहुँची ! इस प्रकार जो स्वय स्त्री का गुलाम है, वह दूसरे की गुलामी कैसे छुडा सकता है ?

मित्रो ! अगर आप जीव, अजीव, पाप, पुण्य, निर्जरा, आस्रव, सवर, वध और मोक्ष को तथा असहेज्जपन को भली-भाँति समझ लें तो आपको तीनो लोक तुच्छ जान पडने लगेंगे। जव तक यह ज्ञान नही होगा तव तक भैंरो-भवानी, पीर आदि की पूजा तुम से नही छूटेगी। क्या वेटा, वेटी और धन इनकी कूँख मे रखा है, जो झट से तुम्हें निकाल कर सौंप देंगे।

वहिनें अज्ञान के प्रताप से इधर-उधर झाडा-फूंका, जत्र-तत्र कराती फिरती हैं, इसका क्या कारण है ? यही कि इन्होंने तपस्या कर-करके पेट मे सल तो डाल लिये हैं, पर आत्मविश्वास इनमे पैदा नही हुआ। पावूजी और रामदेवजी वीर पुरुप हुए हैं। उनकी वीरता का, उनकी सच्चरित्रता का वखान करो, पर उनके मन्दिरो मे जाकर, सिर धुन-धुन कर वेटा-वेटी की माँग करना तुम्हारे हृदय की कमजोरी है और अपने सच्चे प्रभु के प्रति अवि-श्वास करना है।

वताइये, आपके देव कौन हैं ?

अर्हन्त !

सव से वडा देव कौन है ?

अर्हन्त !

जव आप सव से वडा देव अर्हन्त को मानते हैं तो दूसरो के प्रति याचना कैसी ?

वहिनो ! अगर आप अर्हन्त नाम को कल्पवृक्ष जान जाती तो दूसरों के पास जाने की कोई आवश्यकता ही न रहती। अर्हन्त का नाम कल्पवृक्ष है। इसे तुमने अभी तक नही जाना।

नाम आपको याद भी नही आता ।

जब तक वास्तविक धर्मभावना नही आती, तब तक आप की दीनता दूर नही होगी । महाकवि शादी क्या कहता है—

न दौरम गैर अजत्त् फरियाद रस,
तू ही आसियारास खता बख्शोबस ।

अर्थात्—मैं अपने मालिक के सिवाय किसी के आगे अपनी फरियाद न पहुँचाऊँगा, क्योकि वही मेरी मुराद पूरी करने वाला है । वही मेरे गुनाहो को देखने वाला है । गुनाहो के लिये वही शिक्षा देगा ।

मित्रो ! कवि ने अपने भाव प्रकट किये हैं । उसने कहा—मेरा गुनाह-अपराध-कर्म मेरे मालिक से मिटेगा । आप कहिए—आपको कौन निहाल करेगा ? अर्हन्त ! आपके अन्तरतम मे विराजमान आत्मा !

अर्हन्त के गुण कहाँ तक गाऊँ ? अगर उनके गुणो को एक वार तुम समझ लो तो उन पर से तुम्हारी श्रद्धा हट नही सकती । तुम कहोगे—अर्हन्त के प्रति हमारी श्रद्धा है, मगर मैं पूछता हूँ—अपनी श्रद्धा से विचलित होकर वेटा, वेटी और धन के लिए क्यो मारे-मारे फिरते हो ? कहना पडेगा—तुम मे वल नही है, आत्मविश्वास की सच्ची शक्ति तुम्हे प्राप्त नही हुई है । अगर आत्मवल और आत्म विश्वास हो तो तुम साक्षात् अर्हन्त के दर्शन कर सकते हो ।

मित्रो ! तुमने छछडी (सम्यक्त्व मे आगार) आगार रखा है । अगर छछडी को छोड दिया है तो राजा ने तुम्हारा हाथ पकड़ा है ? मन ने रोक रखा है ? क्या किसी भूत से डर कर नही करते ? मोह के जाल मे फँस गये हो ? क्या तुम्हें गुरु ने मना किया या किसी देव ने धमकाया है ? क्या हो गया है तुम्हे ? तुम्हे आस्था क्यो नही है ?

तुम सोचते होगे—मोह मे पडे विना घर-गृहस्थी का काम नही चल सकता । मगर यह विचार गलत है । मोह दुःख पैदा करने वाला है । निर्मोह बनकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करोगे तो कोई हानि नहीं होगी । धर्म पर विश्वास करो, श्रद्धा रखो । सुदृढ आस्था तीर्थङ्कर गोत्र बँधाने वाली है । मोह छोडे विना अनाथी सरीखे नही बन सकते ।

अनाथी का दुःख किसी से नही मिटा । उसे सब रोने वाले ही मिले । आखिर वह अर्हन्त के शरण गया । वहाँ जा, अपना दुखडा सुनाया । सब रोग शान्त हो गये । यह महाभावना क्या नही कर सकती ? इसमे अनन्त शक्ति है । जिसने अनाथी मुनि के दुःख मिटाये, वह हमारे दुःख नही मिटा सकती ?

उस परमात्मा के आगे सुर, नर, मुनि सब हाथ जोडे खडे हैं । योगीश्वर कहते हैं—प्रभो ! तेरा सरीखा दुःख दूर करने वाला हमे और कोई नही मिला । तेरे कृपाकटाक्ष से ससार के सारे दुःख छिन भर मे दूर हो जाते हैं ।

अर्हन्त को देव, असुर, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि तमाम सिर झुकाते हैं । जिसे अर्हन्त पर विश्वास हो गया है, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन से कभी नही हटता ।

आज धर्म का मतलब एक जिद है । धर्म का असली मतलब कोई विरला ही जानता है । लोग जिद मे कहते हैं—मैं बाईस सम्प्रदाय को मानता हूँ, मैं तेरापथी हूँ, मैं मन्दिरमार्गी हूँ, मैं श्वेताम्बर हूँ, मैं दिगम्बर हूँ, मैं वैष्णवमत को मानता हूँ, मैं इस्लाम को मानता हूँ, आदि । पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म मे जो तत्त्व रहा हुआ है, उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए । पर धर्म के नाम पर आज जनता मे भारी भ्रम फैला हुआ है ।

धर्म को स्वतन्त्रता से धारण करना चाहिये । जहाँ सत्य के आवरण मे असत्य छिपा हो, उसे त्याग देना चाहिये । धर्म का

खास लक्षण क्या है ? जीव-अजीव का ज्ञान होना । जीव-अजीव का ज्ञान होने पर मनुष्य के सिर पर चाहे धधकते हुए अगारे रख दिये जाएँ, चमडी जल जाय, फिर भी वह यही समझता रहेगा कि जड़ चीज जल रही है, मुझे कोई नही जला सकता। इस परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर तुम सच्चे ज्ञानी कहलाओगे ।"

तुम कहोगे—हम गृहस्थ हैं । हम ऐसी कठोर परीक्षा कैसे दें ? मैं कहूँगा—क्या कामदेव गृहस्थ नही था ? जिसके घर मे अठारह करोड सोनैया और साठ हजार गायें हो, क्या वह कोई साधारण गृहस्थ था ? आज साठ हजार गायें, गृहस्थ की तो बात दूर, किसी राजा-महाराजा के यहा भी नही मिल सकती । उस ऋद्धिशाली कामदेव श्रावक की परीक्षा एक देव ने की ।

जैसे आप धन चाहते हो, उसी प्रकार अरणक भी चाहता था । आप व्यापार करते है, अरणक भी व्यापार करता था । एक बार अरणक का जहाज देवता ने दो उगलियो से उठाकर रोक दिया । तमाम लोग घबरा उठे । बोले—ऐ अरणकजी ! तुम क्यो जिद करते हो ! तुम्हारी जिद हमे भी ले बैठेगी ।

अरणक ने विश्वस्त भाव से उत्तर दिया—भाइयो ! घबराते क्यो हो ? तुम्हे डुबाने वाला कौन है ?

लोग कहने लगे—वाह भाई, जहाज दो उगलियो से उठाया हुआ है । पल भर मे उलट सकता है । फिर पूछते हो—कौन उलट सकता है ।

अरणक ने कहा—मुझसे अधर्म को धर्म मानने के लिये कहा जा रहा है । मैं अधर्म को धर्म कैसे मानूँ । जहाज को डुबाता कौन है ? अधर्म ही डुबाता है । धर्म तो तारने वाला है । अगर जहाज डूब भी गया तो चिन्ता क्या है ? अधर्म ही तो डूबेगा !

आखिर हार मानकर देवता ने कहा—धन्य है तुझे ! तू

परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। तेरा धर्म दृढ है।

मित्रो! जिद करो तो ऐसी करो। सत्य की जिद करने वाले का कल्याण हो जाता है।

आपके सामने किसी जीव की हिंसा की जाय तो आप बचायेंगे या नही?

बचायेंगे!

ठीक। तुम्हे जीव और अजीव पर विश्वास है, इसीलिये करुणा करके जीव की हिंसा बचाते हो न?

जी, हाँ!

तो जहाँ जीव हिंसा होती है वहाँ जाकर क्यो नाक रगड़ते हो?

अरणक से हार मानकर देवता जब जाने लगा तो मिट्टी के लड्डुओ में बाँधकर दो कुडल देता गया। अरणक को उनका पता नही था। लड्डू फोड़ने पर मालूम हुआ कि इनमे कुंडल हैं। मर्यादा से अधिक धन रखने का उसने त्याग कर दिया था। अगर इन रत्न-जटित कुंडलों को वह रख ले, तो उसका त्याग झूठा हो जाय। अतएव उसने वह दोनो कुडल राजा को भेंट कर दिये।

ऐसी उदारता के साथ त्याग की मर्यादा पालनी चाहिये। अगर आपके पास मर्यादा से अधिक धन आने लगे तो आप कह देंगे—अब इसे क्यो फेंक दें? इस तरह की निर्बल भावना से प्रतिज्ञा खोटी पड जाती है।

आनन्द चार करोड सोनैयो से व्यापार करता था। परन्तु मर्यादा से ज्यादा एक पाई भी घर मे नही आने देता था। मानो उसका व्यापार बिना नफा लिये ही चलता था। नफे का तमाम पैसा परोपकार मे ही चला जाता था, जैसे परोपकार के लिये ही वह व्यापार करता था। ऐसे श्रावक ही सच्चे सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं।

सुबाहुकुमार ऐसा ही श्रावक बना। वह राजपुत्र था, मगर

ससार मे उसकी प्रसिद्धि राजपुत्र के नाते नही वरन् आदर्श पुरुष के नाते हुई । इस आदर्श पुरुष पर आध्यात्मिकता का ऐसा गहरा रग चढा कि उसका वर्णन नही किया जा सकता । उसके बाह्य राजकीय वैभव को दुनिया अपनी आँखो देख रही थी, पर उसके आन्तरिक उज्ज्वल प्रकाश को कोई विरला ज्ञानी ही जानता था ।

आप सुबाहु की इस कथा को, सुबाहु की ही कथा न समझकर अपने आत्मा की कथा समझेंगे तो बडा कल्याण होगा । सुबाहु मे और आपकी आत्मा मे अगर कोई अन्तर है तो केवल यही कि वह अपनी दबी हुई आत्मिक शक्ति को प्रकाश मे ले आया था और आपको अभी प्रकाश मे लाना है ।

आप यह वर्णन सुनकर अपने-अपने घर चले जाएंगे । आप में से कितने इस पर वहाँ जाकर मनन करेंगे ? आप व्याख्यान सुनने के लिये जितने उत्सुक रहते हैं, उतनी उत्सुकता उस पर मनन करने की भी हो तो आपके जीवन मे भारी परिवर्तन हो जायगा । आप जानते हैं, भोजन वही फायदेमन्द होता है जो पच जाय । जो भोजन पच न सके, वह चाहे कितना ही कीमती हो, शरीर को कोई वास्तविक लाभ नहीं पहुँचा सकता । जो मनुष्य रूखे सूखे-रोटी के टुकड़ों को भी भली-भाँति पचा सकता है, उसके चेहरे की रौनक और ही तरह की होती है । ऐसे मनुष्य को अगर अच्छा भोजन मिल जाय और यदि वह उसे पचा ले, तो कुछ ही दिनों मे उसके चेहरे का रग पहले से निराला और चमकदार बन जायेगा । इससे विपरीत जो मनुष्य हमेशा अच्छे-अच्छे भोजन करता है, बादाम और पिस्तो की चक्की उडाता है पर उन्हें पचा नही सकता, उसका मुख रूखी सूखी रोटी खाकर पचाने वाले मनुष्य के मुख की अपेक्षा भी क्षीण, निस्तेज और दुर्बल मालूम पडेगा । उसमे उतनी शक्ति भी उत्पन्न नही होगी ।

यही बात व्याख्यान सुनने के विषय मे है । जो मनुष्य

व्याख्यान तो हमेशा सुनता है पर एक कान से सुन दूसरे कान से निकाल देता है, उसे कोई विशेष लाभ नही पहुँचता। जो व्याख्यान सुनने के पश्चात उस पर मनन करता है, उसे लाभ हुए बिना नही रहता। सुनी या पढी वात पर मनन करना रोटी खाकर पचाने के समान है। खाकर पचा लेना भोजन करने का उद्देश्य है, इसी प्रकार उपदेश सुनकर उस पर मनन करना और उसे व्यवहार मे ले आना उपदेश-श्रवण का खास प्रयोजन है। सुने हुए उपदेश पर मनन करने वाले की आन्तरिक ज्योति जगत् मे फूट पडती है।

सुवाहुकुमार ने भगवान के उपदेश पर मनन न किया होता तो उसकी स्थिति मे शायद ही परिवर्तन होता। वह किस स्थिति मे था और किस स्थिति पर पहुँच गया, इस विपय का उल्लेख शास्त्र मे विद्यमान है। वही मैं आपको वतला रहा हूँ।



१२ : सुबाहु की सुदृढ़ श्रद्धा

सुवाहुकुमार को निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर इतनी दृढ श्रद्धा हो गई कि कोई देवता भी उसे विचलित करने मे समर्थ न था। उसके प्रचण्ड सामर्थ्य के सामने देवता अपनी शक्ति को कमजोर समझने लगे। सुवाहु को अपने आत्मा पर पक्का विश्वास था। उसका पक्का विश्वास ही देवों को कम्पित कर देता था।

अहा मनुष्य ! जो मनुष्य अन्न का कीडा समझा जाता है, जो जरा से जहर से मर जाता है, जिसे विच्छू का छोटासा डक हाय-तोवा मचवा देता है, उसी मनुष्य मे इतनी ताकत ! उसमे इतनी शक्ति है कि वह देवताओ की शक्ति को भी तुच्छ समझता है और देवता उसके आगे अपना मस्तक झुका देता है।

मनुष्य ने अपनी कायर मनोवृत्ति से अपने को निर्बल वना लिया है, परन्तु जिस क्षण वह अपनी असली शक्ति का विचार करेगा, शक्ति को पहचान लेगा, उसी क्षण उसे विश्वास हो जायगा कि मैं अनन्त और अतुल वल का स्वामी हूँ। मुझ मे इतना वल है कि समस्त ससार का और देवो का वल एक ओर तथा मेरा वल दूसरी ओर हो तो भी मैं विजयी होऊँगा।

ऐ मनुष्यो ! उठो। अपने आत्मिक वल को पहचानो। अपनी अक्षय शक्ति का कोप सँभालो। क्षण भर मे निर्वलता को क्षीण कर डालो।

अरणक और कामदेव जैसे श्रावको को देवता भी नमस्कार करते थे। देवताओ को अपने चरणो मे झुकाने की ताकत मनुष्य-मात्र मे है—तुम्हारे भीतर भी है। पर मनुष्य अपनी ताकत को

भूलकर कुदेवों और कब्रो को पूजता फिरता है। मनुष्य मे यह दयनीय दीनता कहां से आई है ? अपनी शक्ति के अज्ञान से। ऐ मनुष्य ! इसलिए इधर-उधर भटकना छोड और अपनी शक्ति की ओर देख।

वही मनुष्य अपने बल पर विश्वास रख सकता है, जिसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर पूरा भरोसा है। सुबाहुकुमार मे यह गुण मौजूद था। उसे निर्ग्रन्थो के प्रवचन पर अणुमात्र भी सन्देह नही था। जिसके आत्मा मे मान नही होता, माया नही होती, राग-द्वेष का नाम मात्र नही होता वह महापुरुष निश्चय से निर्ग्रन्थ कहलाता है। जिसके अन्त करण की तमाम गाँठें खुल गई हैं, वह निर्ग्रन्थ है। ऐसे निर्ग्रन्थ का प्रवचन, निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहलाता है।

वचन वह है, जिसमे कोई विशेष बात नही होती, जैसे दो आदमियो का साधारण वार्तालाप वचन है और जो वचन जगत्-कल्याण की दृष्टि से बोले जाते हैं, उन्हे प्रवचन कहते हैं। पहुँचे हुए अर्हन्त आदि महापुरुष ही ऐसे वचन-प्रवचन बोल सकते हैं। न्यायाधीश न्यायालय मे बैठकर मुकद्दमे का फैसला भी सुनाता है और घर मे बैठकर अपने बाल-बच्चो से बातें भी करता है। दोनो अवस्थाओ मे वह वचनो का प्रयोग करता है। पर कितना भेद है इन वचनो मे ? घर पर बोले जाने वाले उसके वचनो से किसी का कुछ बनता-बिगडता नही है और जब फैसला सुनाता है तो मानो वह वादी और प्रतिवादी के जीवन का विधाता बनकर, उनके जीवन-मरण और हानि-लाभ का लेखा बता रहा है। उसके वचनो पर वादी-प्रतिवादी का बहुत कुछ हानि-लाभ निर्भर है। इस प्रकार न्यायाधीश की घरू बातचीत को वचन और फैसले के वाक्यो को प्रवचन समझ लीजिये।

प्रवचन हानि-लाभ को बतलाता है, नरक और स्वर्ग का मार्ग प्रदर्शित करता है। बन्धन और मुक्ति का भेद समझाता है।

जिसे जो रुचिकर हो, वह उसे ग्रहण कर ले। अर्हन्तो का प्रवचन एक फैसला है, जो तुम्हारे शाश्वत कल्याण की ओर निर्देश करता है। वही मैं तुम्हे सुना रहा हूँ।

कितनेक लोग ऐसे हैं जो नि शक हैं—निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर जिन्हे शका नही है, लेकिन नि कांक्ष बनना उनके लिए भी कठिन हो जाता है। नि कांक्षा का अर्थ है—कांक्षा-वाँछा-इच्छा रहित होना। जिसके हृदय मे कांक्षा रहती है, वह पाप की भावना मे पड जाता है।

कई लोग असाधु की पूजा होते देख और साधु की पूजा न होते देखकर अपने धर्म की ओर से उदासीन हो जाते हैं। वह सोचते हैं—उँह हमारे धर्म के साधुओ का कोई आदर नही करता, हमारे निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर कोई नही चलता और अवज्ञा करता है। अत हमारा धर्म, हमारे साधु और हमारे शास्त्र अच्छे नही है। इस प्रकार के विचार आत्मघातक सिद्ध होते हैं। हम जिस धर्म को मानते हैं, उसके मानने का फल अगर अच्छा होता तो हमारे साधुओ की महिमा लोग क्यों नही गाते ? या हमारे धर्म की वृद्धि क्यो नही होती ? ऐसी कांक्षा मे पडकर धर्म के मूल तत्त्वो का नाश नही करना चाहिए। जैन-धर्म सच्चा धर्म है, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास है, दूसरे इसे मानें या न मानें, मैं अपने आत्मा को अपना रास्ता क्यो भूलने दूँ ? जिसके अन्तरग मे ऐसा विश्वास है, उसका सच्चा सम्यग्दृष्टिपन आप ही फूट पडता है।

कल्पना करो, तुम्हारे पास सच्चे हीरे की एक अगूंठी है। जौहरी ने उस हीरे की वडी कीमत वतलाई। एक जमाना ऐसा आया कि लोग इमीटेशन हीरो पर ज्यादा मुग्ध हो गये। उन हीरो की ऊपरी चमक-दमक से लोग इतने आकर्षित हो गये कि वे सच्चे हीरे की कीमत इमीटेशन हीरो की बरावर भी देने को तैयार नहीं। अब वताइये, सच्चा हीरा वाला अपने हीरे को झूठा समझेगा या

उन लोगो को मूर्ख समझेगा ? वह ऐसे लोगो को ही मूर्ख मानेगा, क्योंकि उसे अपने असली हीरे के मूल्य पर विश्वास है। इसी प्रकार जिसे एक वार अर्हन्त के तत्त्व पर पूर्ण विश्वास हो गया उसे दूसरे तत्त्व पर विश्वास नहीं हो सकता। वह कुसाधुओ की पूजा प्रतिष्ठा देखकर उनकी ओर आकर्पित नही हो सकता। अधर्म से पैदा होने वाला पैसा या प्रतिष्ठा सम्यग्दृष्टि को मुग्ध नही कर सकती। गोहत्या करने वाला कसाई अगर नवाव का बच्चा बनकर घूमे तो तुम उसका सन्मान करोगे ? नही ! कलकत्ता की गौहरजान एक-एक गाने के हजारो रुपये लेती थी। उसे धन वाली समझकर तुम उसे साध्वियो की तरह नमस्कार करोगे ?

जिसके पास पहनने को पूरा कपडा नही है, ऐसी पतिव्रता स्त्री के चरण-रज की बरावरी अनमोल वस्त्रों से सजी हुई वेश्या कर सकती है ? नही ?

आप निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अटल श्रद्धा रखो। जिधर की वायु चले, उधर ही ध्वजा फडकने लगे, इस प्रकार की निर्वल श्रद्धा से नहीं, वरन् अविचल और अखण्ड श्रद्धा से धर्म का पालन करो।

सुबाहुकुमार ने भगवान महावीर के वचन सुनकर उनका निश्शक और नि कांक्ष होकर पालन किया। आपको यहाँ सीता की वात कहूं या द्रोपदी की ? सीता की वात पर ही ध्यान दीजिये।

राम के शरीर पर पूरे वस्त्र नही। काला भील सरीखा रग है। जगल मे भटकता फिरता है। घास के विछौने पर सोता है। समय पर भूख-प्यास मिटाने के साधन नही। राम की ऐसी अवस्था है। इस अवस्था मे भी सीता ठोकरें खाती हुई राम के पीछे-पीछे चली जा रही है।

एक दिन रावण सीता को उठाकर अपने महल मे ले गया। जहाँ सोने की लका हो वहाँ भोग-विलास की सामग्री का पूछना ही क्या ? रानी मन्दोदरी रावण के कहने पर दूती वनकर सीता को

समझाती है। उस समय सीता का हृदय किस ओर था ? राम की ओर ! इस बात से इन्कार करने की हिम्मत पापी से पापी भी नही कर सकता तो आप सत्सग करने वाले कर ही कैसे सकते है ? कहने का आशय यह है कि सती सीता वन-वन मे भटकने वाले राम के पीछे कष्ट उठा रही है, मगर रावण का असीम वैभव देखकर भी उसे भोगने से साफ इन्कार करती है। इसका क्या कारण था ? राम वन-फल खाने वाला था। राम वस्त्रहीन था। राम घास के बिछौने पर सोता था। उधर रावण के महलो मे किसी वस्तु की कमी नही थी। फिर सीता ने क्यो इन्कार किया ? इसीलिए कि भोग-सामग्री सीता के मन को आकर्षित न कर सकी। उसने सोचा—कहाँ रामचन्द्र जो सत्य और धर्म के लिए बनवास भोग रहे हैं और कहाँ यह लम्पट रावण, जो स्त्रियों की चोरी करता फिरता है ! धन्य राम ! वाह राम ! राम ने भरत को राज्य दे दिया। गृह-कलह मिटाने के लिये माता के वचन का पालन किया। पिता के वचन की रक्षा के लिए राज्य को ठोकर मार दी। मगर यह नीच, पामर रावण ! स्त्रियो का दास ! भोग का गुलाम ! पवित्र मन्दोदरी को कुट्टिनी बनाकर भेजता है ! ऐ मेरे राम ! तू ही मेरी नस-नस मे समाया है—रग-रग मे रम रहा है।

एक समय ऐसा था, जब महावीर भगवान को भी कष्ट उठाना पडा था। उन्होंने उडद के बाकलो (छिलको) के लिये हाथ फैलाया था। उन्हे घर-घर भिक्षा माँगनी पडी थी। लोग उन पर धूल फैंकते थे और कुत्तो से कटवाते थे। कहा जाता है—उनके कानो मे कीले ठोके गये। परन्तु महावीर के भक्तो को, दुनिया का विलास करने वाले किन्तु धर्म के ढोग करने वाले लोग आकर्षित न कर सके। जैसे सीता का मन राम को छोडकर रावण की तरफ नही जाता था, उसी प्रकार महावीर के भक्तों का मन पाखण्डियों की तरफ नही जाता था। वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा रखते थे। इसी

प्रकार मित्रो ! तुम्हें जिस धर्म पर विश्वास है—श्रद्धा है, उस धर्म से कभी मत डिगो। नि कांक्ष बनो। किसी प्रकार की महिमा की इच्छा मत करो। चमत्कार देखकर भूल न जाओ।

अब निर्व्वितिगिच्छे विशेषण आता है। जिसके चित्त मे अस्थिरता न हो वह निर्विचिकित्स कहलाता है। वस्तु पर अविश्वास होने से पूरा फल नही मिलता। मन मे ऐसा अविश्वास मत लाओ कि हमने इतना धर्म किया, इतना जप-तप किया, अभी तक हमारे दिन नही फिरे या अमुक काम अब तक सिद्ध नही हुआ। ऐसा मत सोचो कि अभी तक मेरे मन की मुराद पूरी नही हुई तो धर्मक्रिया का फल होता है या नही ! विश्वास रखो ! विश्वास से— अखण्ड श्रद्धा से कार्य मे सफलता मिलती है। अविश्वासी को फल इसलिए नही मिलता, क्योकि उसका चित्त डॉवाडोल रहता है। उसके चित्त की अस्थिर अवस्था ही उसकी सफलता मे बाधा है। इस सम्बन्ध मे एक शास्त्रीय उदाहरण लीजिये——

दो लडके जगल मे गये। वहाँ से मोरनी के दो अडे उठा लाये। अडे मुर्गी के पास रख दिये। मुर्गी उन अण्डो को अपने पखो के नीचे रखती और सेती थी। एक लडके को विश्वास था कि मोरनी के अडे से बच्चा जरूर निकलता है। पर दूसरे लडके मे विश्वास की कमी थी। उसका चित्त अस्थिर था। उसे शका होती—न जाने इस अडे मे से बच्चा निकलेगा या नही ? वह अडे को कभी ऊँचा करता, कभी नीचा करता। कभी हिलाता और देखता कि इसमे बच्चा है या नही ? दूसरा लडका अपने विश्वास के कारण निश्चित था। वह जानता था कि मयूरी के अडे मे से बच्चा तो निकलेगा ही, मगर निकलेगा योग्य समय पर ही !

अस्थिर-चित्त लडके के अडे मे जो रस था, वह हिलाने-डुलाने के कारण जम न सका और पतला पड गया। उसने एक दिन ज्यों ही अडा देखने के लिए उठाया, वह फूट गया। दूसरे लड़के

का अडा समय आने पर मुर्गी ने फोडा । भीतर मयूर का वच्चा निकला । बडा होने पर उसे नृत्यकला सिखलाई गई ।

एक दिन कही कोई जलसा था । वह लडका अपने मयूर को वहाँ ले गया । मनुष्य को स्वभावत पक्षियो से प्रेम होता है, फिर मयूर जैसे पक्षी पर किसे प्रेम न होगा ? उस मयूर को देखकर सब लोग प्रसन्न हुए, पर जब उसने अपनी नृत्य-कला दिखलाई तो सबके मुँह से वाह-वाह शाबास की ध्वनि निकलने लगी । सबने पालने वाले की सराहना की ।

एक लडके को अपने ही कर्तव्य से दु खी होना पडा, क्योकि उसमे चचलता अधिक थी । उसे मयूरी के अडे से मयूर पैदा होने का विश्वास नही था । दूसरा अपने दृढ विश्वास के कारण सुखी हुआ । उसकी श्रद्धा अटल थी । वह जानता था कि मोरनी के अडे से जरूर मोर पैदा होगा ।

मित्रो ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अटल विश्वास रखो । यो मत कहो कि—महाराज काँई कराँ, तेलो कीधो पिण आशा पूरी नही हुई, शान्तिनाथ रे नाम री माला फेरी पिण मुराद पूरी कोयनी हुई । ऐसा कहना तुम्हारी दुर्बलता है । धर्म मे तथ्य न होता तो आज भी धर्म प्रवर्त्तको को करोडो मनुष्य क्यो पूजते ? मनुष्य राजपाट छोडकर क्यो जगल की राह लेता ? अपने विपुल वैभव को तिनके की तरह त्याग कर क्यो इधर उधर घूमता फिरता ? धर्म मे कोई तथ्य अवश्य है, इसीलिये ज्ञानी लोग इसकी ओर आकर्षित होते हैं । अगर तुम्हारी आशा पूरी नही होती तो यह धर्म का दोष नही है, तुम्हारी करनी मे ही कही कमी है । अतएव काँक्षा पूरी न होने के कारण धर्म को मत छोडो । काँक्षा ही तुम्हे धर्म-श्रद्धा से डिगा देती है । अतएव जहाँ तक हो सके, काँक्षा को ही छोडने का प्रयत्न करो । नि काँक्ष हो जाने पर तुम्हारी समस्त काँक्षाएँ पूरी हो जाएँगी । एक वृद्धा स्त्री की बात कहता हूँ ।

किसी वृद्धा को धर्म से वडा प्रेम था। वह सदा साधु-सन्तो के दर्शन करने जाती और उनका धर्मोपदेश सुनती। इतना ही नही वह आसपास की स्त्रियो को भी साथ ले जाती। स्त्रियो मे धर्म-भावना फैलाती। उन्हे सीख देती।

एक दिन उसे विचार आया—मैं इतना धर्मध्यान करती हूँ। धर्म के लिए उद्योग करती हूँ। अतएव मेरे पोता अवश्य होगा। इसके वाद पोता होने की आशा मे दिन-पर-दिन और वर्ष-पर-वर्ष वीत गये परन्तु पोता नही हुआ। पोता न होने से उसकी धर्म-भावना मन्द पडने लगी। वह विचार करने लगी—यह कौनसा धर्म है, जो मेरी अन्त करण की अभिलापा भी पूरी नही करता। जो धर्म पोता नही दे सकता, वह मोक्ष क्या देगा? इस प्रकार वृद्धा की श्रद्धा घटने लगी। ठीक ही कहा है—श्रद्धा परमदुर्लभा। सव कुछ सरल हो सकता है, मगर श्रद्धा कायम रहना वहुत कठिन है। उस वृद्धा की श्रद्धा जोखिम मे पड गई। धीरे-वीरे उसे धर्म के प्रति इतनी अरुचि हो गई कि स्वय साधु सतो के समीप न फटकती और जो जाती उन्हें भी हटकती। कहती—क्या रखा है दर्शन करने मे। क्यो घर के काम का नुकसान करती हो। वहाँ कुछ स्वाद होता तो मैं ही क्यो छोड वैठती?

वृद्धा जहाँ की थी, वहाँ अकसर साधु पहुँचा करते थे। एक पुराने साधु वहाँ गये। वहुत सी वहिनें दर्शन करने आईं। मगर साधु ने वृद्धा को न देखा। वह किसी समय महिला समाज मे अगुआ थी। धर्म मे उसे वडा उत्साह था। अतएव साधुजी ने पूछा—वहिनो! यहाँ एक धर्मशीला वाई थी। वह आज दिखाई नही दी। क्या कही गई है?

एक स्त्री ने मुँह मटका कर उत्तर दिया—महाराज, वह तो मिथ्यात्विनी हो गई। खुद नही आती और दूसरो को भी आने से रोकती है।

साधु—अच्छा, यह बात है ! उससे जरा कह तो देना कि अमुक मुनि आये है । व्याख्यान सुनना । अगर इच्छा न हो तो भी जैसे मिलने वालो से मिल जाते हैं, उसी प्रकार समझ कर व्याख्यान सुनना ।

यह समाचार वृद्धा के पास पहुँच गये । वह कहने लगी—मैंने बहुत दर्शन किये । कई व्याख्यान सुने । कोई मुराद पूरी नहीं हुई । अब वहाँ जाकर क्या करूँगी ?

साधु प्राणीमात्र का भला चाहते हैं । उन्हे किसी पर क्रोध नही होता । उन्होने वृद्धा को सन्मार्ग पर लाने के उद्देश्य से एक वार फिर कहला भेजा ।

वृद्धा आई । अनमनी होकर, हाथ जोड़ नीचा सिर किये गुमसुम बैठ गई ।

साधुजी ने कहा—वहिन, आजकल तुम धर्मध्यान नही करतीं । पहले तो बहुत धर्मक्रिया किया करती थी ! क्या कारण है ?

लम्बी सास लेकर वृद्धा वोली—क्या कहूँ महाराज !

साधु—नही, नही वहिन, कुछ कहो । बात क्या है ? क्यों श्रद्धा हट गई ?

वृद्धा—पूछकर क्या करोगे महाराज !

साधु—वन सकेगा तो कुछ उपाय करेंगे ।

वृद्धा उत्सुक होकर—आप सुनना ही चाहते हैं ?

साधु—हाँ, वहिन !

वृद्धा—तो सुनिये । मेरा एक लडका है । आप जानते ही हैं कि मैं पहले कैसा धर्म करती थी और कैसी सेवा वजाती थी । मैं समझती थी कि धर्म प्रताप से मेरे पोता होगा । आशा ही आशा मे कई वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु पोता न हुआ । धर्म तो वह जो आशा पूरी करे । वहुत धर्म करने पर भी आशा निराशा मे पलट गई । पोते का मुंह देखने को न मिला । इस कारण धर्म से

आस्था घट गई ।

साधुजी ने समवेदना दिखलाते हुए कहा—बहिन, सच कहती हो । जो धर्म आशा पूरी न करे वह कैसा धर्म !

अपने पक्ष का समर्थन होते देखकर वृद्धा कहने लगी—महाराज, आप सच फरमाते हैं। झूठ कहती होऊँ तो आप वताइए ।

साधु—नही वहिन तुम झूठ नही कहती । अच्छा एक वात तुमसे पूछता हूँ । धर्म ने पोता नही दिया, यह मैंने माना, मगर बहिन, ससार सम्बन्धी ऐसी कुछ वाधाएँ भी तो होती हैं कि धर्म भी वेचारा क्या करे ? अगर अकेला धर्म ही पोता दे देता तो तुम घर मे वहू आने से पहले ही माँगती । पर ऐसा नही होता । ससार सम्बन्धी भी कुछ कारण मिलते हैं । तव पोता होता है ।

वृद्धा सिर हिलाकर बोली—सच वात है ।

साधु फिर कहने लगे—मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें कोई सासारिक वाधा ही कारण होगी ।

वृद्धा—नही महाराज, सासारिक बाधा कुछ भी नही है ।

साधु—वहिन, हो सकता है कि तुम्हे मालूम ही न हो । मान लो, पति-पत्नी मे मेल-मिलाप ही न हो तो ?

वृद्धा—नही महाराज, दोनो मे इतना प्रेम है, जितना सीता और राम मे था ।

साधु—सम्भव है, वह रोगिणी हो ! रोगिणी के वच्चा नही भी होता ।

वृद्धा—अजी, उसके तो नख मे भी रोग नही है । वह खूब भली चगी है ।

साधु—तुम्हारे लडके मे कोई त्रुटि नही हो सकती ?

वृद्धा—यह भी नही है । ऐसा होता तो सतोष कर लेती कि जब लडके मे ही कमी है तो पोता कैसे हो ? पर वह तो वलिष्ठ और सुन्दर है । देखती हूँ, कई लडके खाट पर पड़े रहते

हैं, पर मेरा लड़का ऐसा नही है । वह पहाड-सा बलवान है ।

साधु—इसके अतिरिक्त एक बात और हो सकती है ।

वृद्धा—वह क्या ?

साधु—सब कुछ ठीक हो, पर यदि तुम्हारा लडका परदेश चला जाता हो और बहू तुम्हारे पास ही रहती हो तो पोता कैसे हो । एक बात और भी है । सम्भव है, पति-पत्नी साथ ही रहते हो किन्तु मनुष्य को धन की चिन्ता बहुत बुरी होती है । इस चिन्ता से तुम्हारा लडका घुलता हो तो भी पोता न होना सभव है ।

वृद्धा व्यग की हँसी हँसकर बोली—मैं ऐसी भोली नही हूँ । काले केश पक गये हैं । ऐसा होता तो समझ जाती, मगर यह सब कुछ नही है ।

साधु—एक बात पूछना फिर भूल गया ।

वृद्धा—वह भी पूछ लीजिये ।

साधु—जो माता-पिता की सेवा नही करते, उनके भी प्राय पुत्र नहीं होता ।

वृद्धा—महाराज, मेरा लडका और मेरी बहू—मिलकर मेरी इतनी सेवा करते हैं कि शायद ही किसी को नसीब होती है । सब बातें पूछ ली । अब बताइये, किसका दोष है ?

साधु—यह तो धर्म का ही दोष है ?

वृद्धा जरा तेज स्वर मे—मैं पहले ही कहती थी कि यह धर्म का ही दोष है । इसी कारण मैंने धर्म छोड दिया । स्त्रियाँ मुझे मिथ्यात्विनी कहती हैं । कहती रहे, मेरा क्या बिगडता है ? सच्ची बात तो कहनी ही पडेगी ।

साधु—मैं समझ गया बहिन, यह धर्म का ही दोष है । धर्म से जाकर अर्ज करनी पडेगी कि बहुत से लोग बेचारे बूढे हो कर मर जाते हैं, पर बेटे का मुँह नही देख पाते । तुमने उस वृद्धा को लडका देकर और दु खी कर दिया । नही तो वह धर्मध्यान करती ।

अब पोते के बिना उसे चैन नही पडती । उसे रात दिन चिन्ता रहती है ।

वृद्धा चौंक कर बोली—ऐं महाराज ! यह क्या कहते हैं ?

साधु—सच ही कह रहा हूँ ।

वृद्धा—नही महाराज ! यह तो धर्म का ही प्रताप है । अच्छा पुण्य किया तो बेटा मिला है ।

साधु—कई लोग विवाह के लिये भटकते-फिरते है। तुम्हारे लडके का विवाह जल्दी हो गया, यह बुरा हुआ ?

वृद्धा—नहीं अन्नदाता, यह तो धर्म का ही प्रताप है ।

साधु—लोग पैसे-पैसे को मोहताज रहते हैं । तुम्हें पैसा देकर धर्म ने बुरा किया ?

वृद्धा—हुजूर, यह क्या फरमाते हैं ! यह भी धर्म का ही प्रताप है ।

साधु—यह क्या ? सभी बातो मे धर्म ही धर्म का प्रताप बतलाती हो !

वृद्धा—सच बात कहनी ही चाहिए न ?

साधु—अच्छा तो पति-पत्नी की जोडी स्वस्थ मिली, यह बुरा हुआ । नही तो संतोष मानकर धर्म तो करती !

वृद्धा—यह भी धर्म का प्रताप है ।

साधु—पति-पत्नी अविनीत—माता-पिता से झगडने वाले मिलते तो ठीक था ।

वृद्धा—जिसने खोटे कर्म किये हो, उसी को ऐसे लड़का-बहू मिलते हैं । आपकी कृपा से कुछ पुण्य-धर्म किया, उसी का यह प्रताप है ।

साधु—तुम सभी बातें धर्म के प्रताप से कहती हो ! ऐसा है तो जो धर्म सभी कुछ दे, सिर्फ पोता न दे, उस पर इतनी नाराजी क्यो ?

वृद्धा हाथ जोडकर बोली—क्षमा कीजिये महाराज ! मुझसे भूल हुई। मैंने धर्म का उपकार न माना। मैं बडी कृतघ्नी और पापिनी हूँ। अब मैं समझ गई, मेरा मोह दूर हो गया। आपने मुझ पर असीम दया की, ठीक रास्ता दिखला दिया। अब मैं फिर यथाशक्ति धर्म की सेवा करूँगी।

आपने यह दृष्टान्त सुना। ऐसे विचार वाले भाई—बहिन आप मे कम नही होगे। अपनी आशा पूरी होते न देख कह उठते हैं—वाह ! धर्म ने इतना भी न किया !

इस प्रकार की तुच्छ भावना से धर्म की दुर्दशा नही, आप की दुर्दशा होती है। तुम सच्चे धर्मात्मा बनो, तुम्हारी मुराद तो क्या, त्रिलोकी तुम्हारे चरणो मे लौटने लगेगी।

बातें बनाने से धर्म नहीं होता। धर्म को पालने वाली सीता और द्रौपदी थी, जो पति के पीछे-पीछे—धर्म के पीछे-पीछे—वनो मे भटकती फिरी। क्या किसी वेश्या ने जगल मे भटकना मजूर किया ? नही।

धर्म मे कांक्षा का भाव नही होना चाहिये। निस्पृह होकर धर्म करना चाहिए। जिस चीज से ज्यादा मोह किया जाता है, वह दूर भागती है, जिसकी ओर से निस्पृह बन जाओगे वह तुम्हारे पैरो पर लौटेगी। वह वृद्धा स्त्री जब पोता-पोता करती थी, तब पोता नही हुआ। जब उसने उत्सुकता छोड दी तो झट पोता भी हो गया। इसलिए कहता हूँ—विश्वास रखो। चचल-चित्त मत बनो। अन्यथा जैसे मोरनी के अडे से कुछ नही निकला, वैसा ही फल निकलेगा। हाँ, अगर धर्म पर विश्वास रखोगे—श्रद्धाशील रहोगे, चित्त को चचल नही होने दोगे तो जैसे मयूरी के दूसरे अडे से मयूर का बच्चा निकला था, उसी प्रकार तुम्हे अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी। सम्यग्दृष्टि बनो। सम्यग्दृष्टि की भावना को देवता पूजते हैं।

आगम-साख सुणी छे एहवी ।
जे जिन-सेवक होय हो सोभागा, तेनी आशा पूरे देवता ।
चौसठ इन्द्रादि के सोय हो सोभागी ।
श्री शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलवाँ ।
शान्तिदायक तुम नाम हो सोभागी ।
तन-मन-वचन शुद्ध करी ध्यावता, पूरे सगली आश हो ।

मित्रो ! धर्म पर तन, मन, धन, वार दो । विश्वास रखो । जिस काम के लिए मन-देवता मना करे वह काम मत करो । तुम पत्थर के भैरोजी को पूजते फिरते हो, पर तुम्हारी मुराद पूरी करने वाले मन-देवता से उदासीन रहते हो, यह तुम्हारी कितनी अज्ञानता है ?

अर्हन्त परमात्मा पर विश्वास लाओ । यही परमेश्वर, यही परमात्मा, यही खुदा, यही गॉड (God) यही सब कुछ है । इसकी माया अजब है । एक खुदापरस्त क्या कहता है, सुनिये—

खुदा की हिकमत को कौन जाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने ।
सभी अजीज यहाँ सयाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने ॥

हरेक मनुष्य अपने आपको बडा बुद्धिमान समझता है । मूर्ख होना कोई स्वीकार नही करता । पर खुदापरस्त कहता है—खुदा की बात खुदा ही जानता है—और कोई भी नही

सम्यग्दृष्टि बनो । धर्म पर विश्वास रखो । आडम्बर करके धर्म मत करो । धर्म के नाम पर दूसरो को धोखा मत दो । अज्ञानी मनुष्य कदाचित् तुम्हारी बात न जान पावे, मगर सर्वज्ञ प्रभु सब देख रहा है । तुम लाख प्रयत्न करने पर भी उससे कुछ छिपा नहीं सकते । अगर सच्चे हृदय से श्रद्धायुक्त होकर धर्म करोगे तो सब अमगल दूर होगा और मगल ही मगल प्राप्त होगा ।

दुनिया मे कुछ मनुष्य धर्म-प्रकृति का अनुसरण वाले और कुछ अधर्म यानी पाप-प्रकृति का अनुसरण करने वाले हैं । ससार

एक रगभूमि है । इसमे जुदी-जुदी प्रकृति के जीव, पात्र के रूप मे जुदा-जुदा खेल करते हैं । ज्ञानी तटस्थ-भाव से इस नाट्यभूमि का दृश्य देखता है । वह किसी दृश्य पर या पात्र पर राग नही करता और न द्वेष ही करता है । वह उमसे उचित शिक्षा लेता है ।

प्राय मनुष्य दूसरे की भलाई-बुराई को चट पहचान लेता है, मगर प्रयत्न करके भी वह अपने गुण-अवगुण को नही देख पाता । जब दूसरे लोग उसकी टीका करने लगते हैं, तब उसे होश आता है । जो मनुष्य अपनी टीका सुनकर आत्म-निरीक्षण करता है और अपने अवगुणो को सुधार लेता है, वही बुद्धिमान गिना जाना चाहिए । वास्तव मे अपने आपको सुधारने का कार्य बहुत महत्त्व-पूर्ण है । जगत् को सुधारने की अभिलाषा रखने वाला पहले आत्म-सुधार करे, तभी वह अपना मनोरथ पूरा कर सकता है ।

सुबाहुकुमार ने यही किया । राजपुत्र होते हुए भी वह भोग-विलास मे नही फँसा । उसने वीर पुरुष की तरह ज्ञानादि आत्मिक गुण प्रकट किये और वह सच्चा श्रावक बन गया । यह बतलाया जा चुका है उसे निर्ग्रन्थप्रवचन मे शका न रही ।

निर्ग्रन्थप्रवचन पर शका उसी को हो सकती है, जिसमे कुछ समझने की ताकत है । जिसमे जरा भी समझने की शक्ति नही उसे शका किस पर होगी ? पहले वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रयत्न करो । उसमे शका हो तो उसे ज्ञानियो के समक्ष प्रस्तुत करके निवारण कर लो । ऐमा करने से तत्त्व पर नि शक श्रद्धा उत्पन्न हो जायगी । सुबाहु को ज्ञान हो गया था । उसने अपनी शकाओ का निवारण कर लिया था । अतएव वह लध्दट्ठ (लब्धार्थ) हो गया था ।

जिस मनुष्य ने सन्देह होने पर मन का पूरा समाधान कर के धर्म स्वीकार किया है, उसकी श्रद्धा इतनी दृढ हो जाती है कि कोई तलवार का डर दिखला करके उससे धर्म को त्याग देने के लिए कहे तो भी वह धर्म से विचलित नही होता । सुबाहु मे ऐसी

ही श्रद्धा आ गई थी।

बुद्धि का फल क्या है ? आप बुद्धि का फल मानते हैं— पैसा कमा लेना, इज्जत पा लेना, दुनियादारी के काम करके कुछ लोगो पर अपनी छाप लगा देना। जो लोग अपनी बुद्धि को अर्थ (धन) उपार्जन करने मे लगाते है, उन्हें प्रत्यक्ष फल नजर आता है, मगर परमार्थ मे बुद्धि का उपयोग करने वाले को क्या फल मिलता है, यह लोगो की समझ मे नही आता। ठीक ही है, चमडे की आँखो से परमार्थ नही देखा जा सकता। उसे देखने के लिए हृदय के नेत्र चाहिए। विचार कीजिए, श्रेष्ठ रत्न पैदा करने वाले दुनिया मे कितने हैं ? बहुत थोडे। कोहेनूर हीरा, जो दुनिया मे एक बहुमूल्य हीरा गिना जाता है, कृष्णा नदी के तीर पर पडा हुआ एक किसान को मिला था। किसान से वह हिन्दू राजा के पास पहुँचा। फिर यवन बादशाह के हाथ लगा और अब इगलेण्ड के बादशाह के पास है। ऐसा हीरा प्राप्त करने वाला क्या बुद्धिमान नही है ? है और बडा बुद्धिमान है। वह दुनिया के हिसाब से बडा बुद्धिमान गिना जायगा, पर ज्ञानी की दृष्टि मे परमार्थ करने वाला सब से बडा बुद्धिमान माना जाता है। कोहेनूर या उससे भी बढकर रत्न चिन्तामणि अथवा पारसमणि कितने समय तक मनुष्य का साथ देगा ? पारसमणि लोहे को सोना बनाती है परन्तु क्या मनुष्य को शुद्ध (सोना) बना सकती है ? क्या वह हमारे दुखों को दूर कर सकती है ? क्या उससे हमारे सफेद केश काले हो सकते हैं ? उसके द्वारा हम गये यौवन को प्राप्त कर सकते हैं ? जन्म-जरा-मरण की व्यथाओं से मुक्ति पा सकते हैं ? उससे ऐसा कोई भी ठोस काम नही हो सकता। बल्कि मृत्यु के समय वह और अधिक दुख का कारण होती है।

इसी कारण ज्ञानी पुरुष इनमे विश्वास न करने की सलाह देते हैं। हम लोग अज्ञान के कारण नित्य वस्तु की उपेक्षा कर

करके अनित्य को पाने की चेष्टा मे लगे रहते हैं। हम ध्रुव को छोड़कर अध्रुव की ओर ही झुके रहते हैं। मगर ध्रुव को प्राप्त करना ही परमार्थ है। ससार मे फंसा हुआ मनुष्य कहता है—त्यागियो ने सुख को छोड दिया है। मगर उन्होंने छोड क्या दिया, वे स्वय छूट गये हैं।

मानव-जीवन की सार्थकता स्थायी-तत्त्व प्राप्त करने मे है। इसके लिए यह विचार करना आवश्यक है कि वस्तुत. मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? आप कह सकते हैं—क्या पता कहाँ से आये और कहाँ जाएँगे? ठीक है। जैसे शराब के नशे मे चूर आदमी को कही उठाकर बैठा दीजिये। जब वह होश मे आवे तब उससे पूछिये—तुम कहाँ थे और यहाँ कैसे आ गये? तब वह क्या उत्तर देगा? वह कुछ भी नही बता सकेगा। इसी प्रकार मनुष्य अज्ञान मोह के नशे मे चूर है। उसे क्या पता कि वह कहाँ से आया और कहाँ जायगा? जब किसी सच्चे ज्ञानी के चरणों मे बैठकर वह ज्ञान प्राप्त करेगा तब उसे होश आयेगा तभी उसके भीतरी नेत्र खुलेंगे।

जो पूर्वजन्म मे विश्वास नही रखता, उसे तुरन्त के बच्चे को देखकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। बारीकी से देखने पर मालूम होगा कि वह बच्चा हमे पूर्व-जन्म का कैसा अच्छा प्रमाण देता है। बहिनें यह बात खूब समझ सकती हैं, क्योकि उन्हे मातृत्व का सौभाग्य प्राप्त होता है। तुरन्त का बालक बाहर आते ही रोने लगता है? रोने की यह क्रिया उसे किसने सिखलाई है? क्योकि सिखलाये बिना किसी क्रिया का होना कठिन है। बच्चे के रोने की क्रिया से मालूम होता है कि पहले जन्म मे उसे रोने की आदत थी। इसी प्रकार बच्चा स्तन चूसता है। उसे स्तन चूसना किसने सिखलाया? उसमे पहले से ही भूख की सज्ञा थी। इसी कारण वह चूसने की क्रिया करता है।

बहुत से भाई समझते हैं—बालक अज्ञान होता है। वह कुछ समझता नही है। परन्तु उसके सामने कठोर शब्द बोलने पर वह डरता है और मधुर शब्दो से—गाने-बजाने से खुश होता है। बच्चे मे क्रोध, मान, माया आदि के बीज पहले से ही विद्यमान हैं। इसी कारण उसकी प्रकृति उन बीजों के अनुसार बनती है। वृक्ष मे बीज रहता है। वह जब तक वृक्ष मे रहता है तब तक के समय मे वृक्ष के सारे गुण प्राप्त कर लेता है। जब बीज बोया जाता है तो उसमे से वैसा ही वृक्ष, वैसे ही सस्कार लेकर निकल आता है। गेहूँ के बीज से गेहूँ का पौधा और चने के बीज से चने का पौधा उगता है। कर्म-शास्त्र प्राणी के इन सस्कारो को कार्मण शरीर कहता है। मनुष्य जैसे विचारो का सग्रह करता है, वैसा ही बन जाता है। गीता मे कहा है—श्रद्धामयोऽय पुरुष। यह मनुष्य श्रद्धा का बना हुआ है। जो मनुष्य उच्च या नीच जैसे विचार निरन्तर करता रहता है, वैसा ही बन जाता है।

इस कारण ज्ञानी कहते हैं—हे भव्य। जब तक श्वास चल रहा है, तब तक के अवसर मे कुछ अच्छा काम करना हो तो कर ले। दम निकल जाने पर आदम (मनुष्य) बेदम हो जाता है। फिर कुछ भी नही हो सकता। जो ईश्वर को भजता है वह अनेक दुःखो के आ पडने पर भी आनन्द मे मस्त रहता है। जो ईश्वर को नही भजता वह फूलो की सेज पर पडा हुआ भी हाय-हाय करता है। एक मनुष्य फूलो की शय्या पर भी हाय-हाय करता है और दूसरा कांटो पर सोता हुआ भी हसता रहता है। यह कौनसी शक्ति है जो एक को इस परिस्थिति में हँसा रही है और दूसरे को रुला रही है?

प्रह्लाद को मारने के लिये उस पर विषधर सांप छोडा गया। सांप फुफकार करने लगा। पर प्रह्लाद जब उठकर खडा हुआ तब हँसने लगा।

लोगो ने चकित होकर पूछा—क्यो रे, तुझे डर नही लगता ?

प्रह्लाद मुस्कराता हुआ बोला—डर किस बात का ?

लोग—काले और विषैले साँप का !

प्रह्लाद—मुझे तो पता ही नही !

उसे काला साँप कृष्ण के रूप मे दिखाई देता था। सर्प उसे नजर ही नही आता था। आज जो मनुष्य सर्प को देखकर थर-थर काँपने लगता है, कल वह अगर ईश्वर मे रमण करने लगता है तो उसे डर का भान भी नही होता। उसे सर्प का विष भी नहीं चढता।

आप कहेगे—यह तो पुराने जमाने की बातें है। इस समय तो कही ऐसा दिखाई नही देता। मगर मैं आप से पूछता हूँ—आप सर्प से क्यो डरते हैं ?

श्रावक—सर्प काटता है।

कौन काटता है ?

साँप।

अगर साँप काटता है तो चित्र मे लिखा साँप क्यो नही काटता?

वह निर्जीव है।

ठीक है, पर कई सँपेरो के गले मे साँप देखे जाते हैं। वे उन्हे नही काटते। इसका क्या कारण है ?

वे लोग मन्त्र जानते है।

अच्छा, जब किसी आदमी को साँप काट खाता है, तब सँपेरा उसे पानी पिलाता है। पानी पीने से मनुष्य का जहर उतर जाता है। इसका क्या कारण है ?

वह पानी मन्त्रित होता है।

कैसे मन्त्रित किया उसे ?

मत्र बोलकर पानी मे फूंक मारी।

फूंक मारने से क्या हो गया ?

मत्र पानी मे आ गया ।

अगर वह पानी सादे पानी की तरह साँप के डँसे को कोरा सादा पानी कहकर पिलाओगे तो जहर उतर जायगा ?

नहीं ।

क्यो ?

श्रद्धा के विना नही उतरता ।

आप समझ गये । श्रद्धा के विना नही उतरता, यह वात दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कही जा सकती है कि श्रद्धा ही मन्त्र है। श्रद्धा ही जहर उतारती है । तो ईश्वर पर अटल श्रद्धा रखने से क्या आत्मा का जहर—काम-क्रोध आदि—नही उतरेगा ? क्या उससे ईश्वर के साथ भेंट न होगी ? अवश्य होगी ।

जो मनुष्य ईश्वरमय हो जाता है, वह किसी से भय नहीं खाता। कामदेव श्रावक के चरित पर विचार करो । कामदेव श्रावक के टुकडे-टुकडे किये गये, उसे साँपो से कटवाया गया, हाथी से कुचलवाया गया, पर उसका वाल भी वाँका न हुआ । इसका क्या कारण है ? प्रवल भावना । ईश्वर मे पक्का विश्वास ! ईश्वर का स्मरण करने से—उसमे तल्लीन हो जाने से पापरूपी समस्त विप झड जाता है ।

साँप क्रोध आने पर ही काटता है । विना क्रोध आये नही काटता । कई वार पास से साँप शान्तिपूर्वक निकल जाता है । साँप को क्रोध आया और काटा और तुम्हे क्रोव आया नही कि जहर चढ़ा नही । अगर तुम्हें क्रोध न आएगा तो जहर भी नही चढेगा ।

भगवान महावीर को चडकौशिक साँप ने काटा, मगर उन्हे विप क्यो नहीं चढा ? इसी कारण कि भगवान में क्रोध नही था। जिसमें क्रोध होता है, उमे जहर चढता है । अर्थात् क्रोव मे क्रोध मिलने पर जहर का पावर (शक्ति) वढ जाता है । लकडी पर खड़े

होकर स्पर्श करने से विजली हानि नही पहुँचाती। अगर आप जमीन पर खडे हो तो ? हानि पहुँचाती है। इसीलिये कि जमीन की विजली, तुम्हारी विजली और वह विजली मिल गई। तीनो के सम्मिलन से विजली की शक्ति वढ गई। अतएव वह हानिकारक बन गई। जब आपके पैरो के नीचे लकडी होती है तब पृथ्वी की विजली पृथक् हो जाती है या बिजली की शक्ति कम हो जाती है। पच्चीस आदमी एक कतार मे, एक दूसरे से हाथ मिलाकर बैठ जावें। फिर एक-एक आदमी विजली का स्पर्श करे तो क्या होगा ? सब मे विजली दौड जायगी और यदि बीच मे मुर्दा लाकर, उसके हाथ से हाथ मिलाकर पहला आदमी विजली छुए तो मुर्दा को लाघकर विजली असर नही कर सकती। इसका कारण यही है कि मुर्दे मे स्वय की विजली नही है। अतएव उसमें बिजली का वल नहीं वढ सकता और वह बीच ही मे रुक जाती है। यही वात जहर के सम्बन्ध मे है। सर्प के जहर ने आपके शरीर मे प्रवेश किया। दूसरा जहर आपके शरीर मे विद्यमान है। दोनो के मिलने से जहर की शक्ति वढ जाती है और वह मारने वाला हो जाता है। सॉप के काटने पर आपको तनिक भी क्रोध न आवेगा तो जहर नही चढेगा।

विहार प्रान्त मे एक आदमी घास का छप्पर बाँध रहा था। एक सर्प छप्पर मे बँध गया और उसने उस आदमी को काट खाया। आदमी को खबर न हुई। उसने समझा—कोई काँटा चुभ गया है। अगले साल जब वह आदमी छप्पर खोलकर नये सिर से वांधने लगा तो उसे मरा सर्प दिखाई दिया। उसे गत वर्ष की घटना याद आ गई। सोचा—अरे ! जिसे मैंने कॉटा समझा था, वह कॉटा नही, सॉप था। क्रोध आते ही जहर ने असर किया और वह आदमी मर गया। सोचिये, इतने दिनो तक जहर कहाँ छिपा बैठा था ? वास्तव मे उसकी भावना के कारण ही उसे जहर

चढा । भावना का बड़ा चमत्कार है । भावना के बल से ससार के न मालूम कितने खेल हो रहे हैं । जो बारीक नजर से देखता है, वही उन खेलों की वास्तविकता समझ पाता है ।

चलते-फिरते उठते-बैठते, ईश्वर की भावना रखने से ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है । वास्तव मे ईश्वर का नाम पावन है—पवित्र करने वाला है । ईश्वर-भक्त का अपमान करने वाला ईश्वर का अपमान करता है । जो मनुष्य ईश्वर-भक्त है, वह चाहे कैसा ही मनुष्य क्यों न हो—किसी भी जाति या किसी भी कुल में क्यो न पैदा हुआ हो, उसे उच्च समझना चाहिये । सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली से घृणा की थी ? नही । फिर तुम गरीबो से घृणा क्यो करते हो ? एक भाई ने, जिसे तुम नीच समझते हो, मुझ से कहा—महाराज ! अठारह वर्ष हुए मैं गगाजी गया था । तब से मैं मास और मदिरा काम मे नही लेता और परायी स्त्री को तो माता के समान समझता हूँ । मित्रो ! मैं इसे नीच कहूँ ? पतित से पतित समझी जाने वाली जाति का चरित्रवान पुरुष, चरित्रहीन सेठ से अच्छा है । आप चरित्रवान बनकर ही उच्चता प्राप्त कर सकते हैं । उच्चता प्राप्त करने से आपका गृहस्थाश्रम भी देदीप्यमान हो उठेगा । चरित्र ही उच्चता की कसौटी है । चरित्र ही जीवन का सर्वोत्तम सार है । चरित्र ही जीवनरूपी पुष्प का सौरभ है ।

सुबाहुकुमार राजा का पुत्र था । उसकी प्रकृति सुन्दर और सौम्य थी । उसने अपने उज्ज्वल चरित्र के द्वारा अपना गृहस्थाश्रम आदर्श बनाया ।

आज के राजा ऐश-आराम में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं । विलास और आमोद-प्रमोद ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है । मोटरो मे बैठकर सैर करना और मजे उडाना ही उनका साधना है । बेचारा धर्म उनके नजदीक फटक नही सकता । वे

उसे अर्धचन्द्र देने के लिये तैयार रहते हैं। फुर्सत के समय साधु-सन्तो की निन्दा करने और उनका उपहास करने से नही चूकते। परन्तु इन्ही के क्षात्र वश मे उत्पन्न हुआ सुबाहुकुमार इनसे एकदम विपरीत था। उसने अपने आत्मा मे ऐसे भाव भरे कि वह आदर्श पुरुष माना जाने लगा।

सुबाहुकुमार लद्धट्ठ हो गया, यह कहा चुका है। अर्थात् उस ने निर्ग्रन्थप्रवचन का अर्थ समझ लिया। कोई भी वस्तु प्राप्त हो जाने पर भी उपयोग मे लिए बिना लाभदायक नही होती। आप को रास्ते मे बहुत-सा धन मिला। मगर जब तक आप उठाकर उसे काम मे न लेंगे, तब तक उससे कोई लाभ न होगा।

सन्त-महात्मा किसी की आज्ञा से या किसी के दबाव से नही बोलते। बसन्त ऋतु आई देख कोकिल अपने आप ही सुघड राग की तान छेडने लगती है। उसी प्रकार सन्त-महात्मा भी योग्य समय देखकर उपदेश की मधुर वाणी सुनाने लगते है। कोकिल की मधुर तान, प्रत्येक मनुष्य नि शक भाव से सुन सकता है, उसी प्रकार सन्त-महात्मा की वाणी से भी नि सकोच-भाव से मनुष्यमात्र लाभ उठा सकता है। सन्तो की वाणी अमूल्य रत्न है, महानिधान है। जिसकी इच्छा हो, उसे प्राप्त कर सकता है। इसे लद्धट्ठे समझ लीजिये। आप मोतियों को या दूसरे रत्नों को सोने के तार मे गूथकर गले का हार बनाते हैं। इसी प्रकार जब आप शास्त्र-रूपी रत्न और सन्तो की वाणी-रूप मोतियो को प्रेम के तार मे पिरोकर हृदय मे धारण करेंगे तो आपकी महिमा अनन्तगुणी बढ जायगी। आपको इससे अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

लद्धट्ठे के बाद मूलपाठ मे पुच्छियट्ठे पद आता है। जिसने अर्थ को पूछ लिया हो वह पुच्छियट्ठे कहलाता है। अर्थ को ज्ञाता से पूछ लेने पर असदिग्धता और रुचिकरता आ जाती है। मान लीजिए, पिता ने पुत्र को रत्नो का हार पहनाया। पुत्र बाद मे

पूछता है—पिताजी, इस हार की क्या कीमत है ? इस हार मे कही हीरे लगे हैं और कही पन्ने लगे हैं । इन दोनो मे क्या अतर है ? हीरे की कीमत ज्यादा क्यो लगती है ? नकली और असली हीरे मे क्या भेद है ? वह कैसे पहचाना जाता है ? आदि । जो लडका इस प्रकार अपने हार का हाल पूछता है, वह गले का शृगार करके तो खुश होता ही है, साथ ही हार की कीमत उसकी परीक्षा उसका भेद समझकर जौहरी होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । उस हार के प्रति उसका विशेष आकर्षण हो जाता है । वह किसी के धोखे मे नही आ सकता । यह बात व्यवहार मे है । वैसे धर्म मे भी है । धर्म को भलीभाँति समझ लेने से मनुष्य पापरूपी खोटी वस्तु से ठगा नही सकता ।

आप लोगो मे पूछने की प्रवृत्ति बहुत कम पाई जाती है । हाँ, व्यावहारिक बातें तो आप आपस मे पूछते हैं, जैसे आपकी दुकान कहाँ है ? आप क्या व्यापार करते हैं ? आदि-आदि । इसी प्रकार बहिनें आपस मे पूछ-ताछ करती हैं—यह बँगडियाँ कहाँ से बनकर आई हैं ? यह गोखरू कहाँ बनवाया ? यह बोर बडा सुन्दर है । इसमे कितना खर्च हुआ ? इत्यादि । इस प्रकार बातें तो आप मे होती है, मगर पाप-पुण्य कैसे होता है ? कौन से कार्य से पुण्य उपार्जन किया जा सकता है ? अमुक कार्य करने मे पुण्य होता है या पाप ? इस प्रकार की धार्मिक बातें करने का अवसर ही शायद आपको नही मिलता ।

वीर क्षत्रिय राजा लोग, जिन्हे राज-कार्य से फुर्सत मिलना कठिन था, समय निकालकर धर्म-चर्चा करते थे । आप इसके लिए समय नही निकाल सकते, यह कैसी अनोखी बात है ? धर्म-चर्चा से आपकी कुछ भी हानि नही होगी, सासारिक कार्यों मे बाधा नही पडेगी, बल्कि आपका ससार स्वर्ग बन जायगा । घर-घर मे सीता और राम मिलने लगेंगे ।

मित्रो ! व्यवहार के काम तो सदैव चलते रहते हैं, जरा धर्म-चर्चा भी किया करो। मैं यह नहीं कहता कि आप जैन के साथ ही धर्म-चर्चा करो या जैन-साधु से ही करो। मेरा मतलब यह है कि आप प्रत्येक धर्म के अनुयायी के साथ धर्म-चर्चा करो। जो सीखने योग्य मिले सो सीखो, जो सिखाने योग्य हो वह सिखाओ। पूछ-ताछ करने पर भी समाधान न हो तो जब किसी साधु-सन्त का समागम हो तब अपनी शका का निर्णय कर लो। निर्णय के बिना जो काम किया जाता है वह फलशून्य होता है। उससे कोई लाभ नही होता।

शका का समाधान कर लेने से मनुष्य विणिच्छियट्ठे—विनिश्चितार्थ—जिसे अर्थ का निश्चय हो गया है, ऐसा हो जाता है।

गीता मे इस विषय मे कहा है—सशयात्मा विनश्यति। अर्थात् जिसके आत्मा में सन्देह भरा रहता है, उसका नाश हो जाता है। आत्मा मे किसी प्रकार का सशय नही रखना चाहिये। अगर कभी कोई सशय उत्पन्न हो तो उसे निकाल डालना चाहिये। सन्देह दूर हो जाने से आत्मा को बडा आनन्द आता है। आत्मा मे प्रफुल्लता रहती है, निर्मलता आ जाती है, आत्मा धर्म मे रग जाता है। साफ, सफेद और मुलायम मलमल को कसुंबे के रग मे डालने से क्या होता है? वह उस रग को चूस लेती है और स्वय उसी रग की बन जाती है। अगर मैले-कुचैले कपडे को उस रग मे डाला जाय तो क्या उस पर वैसा सुन्दर रग चढेगा? नही।

भाइयो ! पुरुष का मन रूपी कपडा जितना मुलायम और जितना स्वच्छ होगा, धर्म का रग उतना ही अधिक और सुन्दरता से चढेगा। जिस पुरुष का मनरूपी कपडा मसौता हो गया अर्थात् खराब कामो से और गन्दे विचारो से अपवित्र हो गया, उस पर धर्म का रंग वैसा नही चढने का। सुबाहु की आत्मा स्वच्छ थी, इसलिए उसके ऊपर धर्मरूपी कसुंबे का रग उज्ज्वलता से चढ गया।

जो वस्तु धर्म से रगी हुई हो, उसी को आप ग्रहण करना। विना धर्म की वस्तु को थोथी और नि.सत्व समझकर फैंक देना।

एक समय की बात है। रामचन्द्रजी, सीताजी के साथ राजसभा मे विराजमान थे। हनुमान उनका वडा भक्त था। उसने रामचन्द्रजी की सेवा निष्कामभाव से अर्थात् स्वार्थवुद्धि से रहित होकर की थी। लोगों ने उसकी उत्कृष्ट सेवा की प्रशसा की। सीता देवी ने प्रसन्न होकर अपने गले का हार हनुमान को इनाम मे दे दिया। आप जानते हैं, हार कीमती होता है और फिर सीता जैसी महारानी के पहनने का हार! उसकी कीमत का क्या पूछना? वह अमूल्य हार था।

हनुमान उस हार को ले एक तरफ चले गये और हार मे से एक-एक हीरा निकाल-निकाल कर, उसे पत्थर से फोडकर टुकडो को हाथ मे ले आकाश की तरफ मुँह कर आँख से देखने लगा। लोग यह दृश्य देखकर खिलखिलाकर हँसने लगे। आखिर हनुमान से पूछा गया—भाई, हार की यह दुर्दशा क्यो कर रहे हो?

हनुमान ने उत्तर दिया—मैं हीरे फोड-फोडकर देख रहा हूँ कि इनमे कही राम हैं या नही? अगर हैं तो ठीक, अन्यथा मेरे लिए यह निकम्मे हैं, निस्सार हैं। लोग यह उत्तर सुनकर चकित रह गये। सभी उसकी वाह-वाह करने लगे।

यह एक आलकारिक वर्णन है। इसके गूढ रहस्य को समझने का प्रयत्न कीजिए। हनुमान ने यहाँ आत्मिक विचार किया था। उन्होंने देखना चाहा—इन हीरों मे धर्मरूपी राम हैं या नही? जिस वस्तु मे धर्म न हो वह रद्दी है। अगर हीरों मे राम न हो—धर्म न हो तो वह चाहे जितने कीमती समझे जाते हो, काच के टुकडे की वरावर हैं। यह वात जैन शास्त्र मे ऐसे अणट्ठे शब्दों द्वारा व्यक्त की गई है अर्थात् जिस वस्तु मे धर्म न हो वह थोथी है—अनर्थ रूप है। जिस वस्तु मे धर्म है, वह पाप से वचाती है।

कल्पना कीजिए, कोई पुरुष राजा का भण्डारी है। खजाने मे करोड़ो रुपया का माल पडा है। भण्डारी चाहे तो उसमें से लाखो का गबन कर सकता है। लेकिन जो भण्डारी भण्डार की वस्तुओ को राजा की ही समझता है, वह कभी नमकहराम और विश्वास-घाती नही हो सकता। वह पाप की चीजो की ओर निगाह भी न करेगा। वह सोचेगा—इनमे कुछ भी मेरा नही है। मेरा सिर्फ वह है, जो प्रसन्नतापूर्वक राजा मुझे दे दे। इस प्रकार चीजो मे धर्म होता है।

सुदर्शन सेठ को रानी ने भोग-विलास करने के लिए अपनी ओर आकर्षित करना चाहा। वह बोली—तुम मेरे साथ आनन्द करो। मैं तुम्हे राज्य दे दूंगी मेरे साथ विलास करोगे तो मैं राजा को मरवा डालूंगी।

सुदर्शन उत्तर देता है—आप मेरी माता हैं। माता अपने पुत्र से ऐसा नहीं कहती। मैं आपकी प्रजा हूँ। प्रजा, राजा के पुत्र के समान है। इस सम्बन्ध से यह राज्य मेरा ही है। किन्तु राज-सिंहासन पर आप ही सुशोभित होती हैं। पुत्र पर तो आपका प्रेम होना ही पर्याप्त है।

सुदर्शन को आपकी ही तरह धन की आवश्यकता थी। वह धनोपार्जन के लिए व्यापार करता था। मगर अन्याय एवं पाप से मिलने वाले राज्य को और रानी को उसने ठोकर मार दी। यह धर्म का प्रताप है। यह धर्म की महिमा है। कनक-कामिनी को इस प्रकार ठोकर मार देना कोई साधारण बात नही है।

रानी ने सुदर्शन से कहा—तुम मां-मां क्या करते हो? मैं जिस भाव से तुम्हे देख रही हूँ, उसी भाव से तुम मुझे देखो। मैं कोई तुच्छ स्त्री नही हूँ। अगर तुम मुझे प्रसन्न करोगे तो मैं तुम्हारे लिए मगलदात्री-सुखविधात्री हूँ और विपरीत करोगे तो मैं ही सिंहनी बनकर तुम्हे फाड़कर खा जाऊँगी।

पर सुदर्शन न डिगा । वह अपने धर्म पर दृढ रहा । धर्म निष्ठ के लिए प्राण दे देना एक साधारण वात है ।

मनुष्य-शरीर बड़ी कठिनाई से मिलता है । बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि इसे व्यर्थ न गँवा दे । आपने रेलगाडी देखी है । इस के आविष्कार मे तीन पीढियाँ खत्म हो गईं । एक पीढी ने कुछ काम किया । दूसरी ने उसमे सशोधन और विकास किया । तीसरी ने उसे सुव्यवस्थित कर दौड़ाना आरम्भ कर दिया । अब आप बताइये कि रेल बडी है या इजीनियर ?

इजीनियर !

इजीनियर क्यो बड़ा है ? इसलिए कि उसने अपनी मस्तिष्क शक्ति से रेल बनाई है । इजीनियर के मस्तिष्क के पुर्जों को घड़ने वाली कुदरत कैसी विचित्र शक्तिशालिनी है, जिसने न जाने कहाँ कहाँ के तत्त्वो को, किस प्रकार सग्रहीत करके पेशाव के स्थान से निकलने वाले दो बिन्दुओ से—वीर्य से—इस नर-देह को खड़ा कर दिया है !

आप देह रूपी ऐंजिन मे बैठ गये । यहाँ विचारणीय यह है कि ऐंजिन का ड्राइवर ऐंजिन की सफाई करके, उसमे पानी और कोयला डालकर यो ही इधर-उधर घुमाया करे तो क्या रेलवे-कम्पनी उसे धन्यवाद देगी ? नही ? जब तक वह ऐंजिन के साथ डिब्बो को जोडकर कम्पनी को लाभ नही पहुँचायेगा तब तक कम्पनी उसे धन्यवाद कैसे देगी ?

अब जरा दूसरा विचार कीजिए । ड्राइवर घर जाता है । उसकी स्त्री पूछती है—तुम किसलिए ड्राइवरी का काम करते हो ? वह उत्तर देता है तेरी आवादी के लिए—वाल-बच्चो के पोषण के लिए । ड्राइवर ने ऐसा कह दिया, लेकिन वह आटा-दाल का प्रवन्ध न करे तो क्या स्त्री उसे धन्यवाद देगी या धिक्कारेगी ? वह धिक्कारेगी, क्योकि उसने अपना कर्तव्य पालन नही किया ।

इसी प्रकार जो मनुष्य अच्छे से अच्छा भोजन कर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहन देह रूपी ऐंजिन को इधर-उधर व्यर्थ घुमाया करता है और सुबुद्धि-रूपी स्त्री का भरण-पोषण नही करता उसे कोई धन्यवाद नही देता। वह सर्वत्र धिक्कार का पात्र बनता है।

मनुष्य बुद्धिशाली होने के कारण ही समस्त प्राणियो में उत्तम है। हाथी डील-डौल मे बड़ा है, पर मनुष्य उस पर सवारी करता है। सिंह बडा पराक्रमी है, किन्तु मनुष्य उसे पीजरे मे बद कर देता है। मनुष्य की शक्ति विलक्षण है। यह विलक्षण शक्ति उसकी बुद्धि की बदौलत ही है। मनुष्य अपनी बुद्धि के कारण सब के सिर पर चढ बैठता है। लेकिन इस सर्वोतम बुद्धि का अगर सदुपयोग न किया जाय तो उससे क्या विशेष लाभ हुआ ?

प्रश्न होता है—बुद्धि का सदुपयोग क्या है ? बुद्धि का सदुपयोग है उसे तत्त्व विचार मे लगाना। तत्त्व दो हैं—एक नाशवान और दूसरा अविनाशी। एक दृष्टि से देखा जाय तो नाशवान वस्तु कोई भी नही है। देह नाशवान माना जाता है मगर उसका भी केवल रूपान्तर होता है। जब किसी वस्तु के परमाणु बिखर जाते है तो मालूम होता है—उसका नाश हो गया। उदाहरण के लिए पानी को ले लीजिए। पानी जब पृथ्वी पर गिर जाता है तो हम लोग कहते हैं—पानी सूख गया, नष्ट हो गया। मगर वास्तव मे वह ऑक्सिजन और हाईड्रोजन नामक गैस मे परिवर्तित हो गया है। इन दोनो की मिलावट से फिर पानी तैयार हो जाता है।

इन परिवर्तनशील जड-वस्तुओ में इतनी विलक्षण शक्ति है तो चैतन्य-आत्मा मे कितनी शक्ति होगी, यह अन्दाज आप ही लगा लें। वास्तव मे जिस मनुष्य ने अपनी आत्मा को विकसित कर लिया—स्वच्छ और निर्मल बना लिया, वह ससार को चकित कर देता है। वह जगत् मे उथलपुथल मचा देता है। लोग जड-वस्तुओं के लिए—घर-द्वार-धन आदि के लिए उद्यम करते हैं, अगर आत्म-

चिंतन के लिए भी कुछ उद्योग करें—सच्चिदानन्द को पहचानने का प्रयत्न करें तो आनन्द की सीमा न रहे। जो मनुष्य सच्चिदानन्द को पहचानने मे अपना मन लगा देता है, उसका मन हरा-भरा और प्रफुल्लित रहता है। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष मे भी मिल रहा है।

आपको शायद मालूम न हो कि मन का भी फोटो खीचा जाता है। इसका आविष्कार कैसे हुआ, यह जरा सुन लीजिये। एक अग्रेज महिला ने मुर्गी के दो बच्चे पाले थे। उसे उन पर बडा प्रेम था। प्रिय वस्तु का नाश होने से मनुष्य को कितना दु:ख होता है, यह प्राय. सभी जानते हैं। एक दिन बिल्ली ने दोनो बच्चे खा लिए इससे वह महिला अत्यन्त दु:खी हुई। उस समय उसे अपना फोटो उतरवाने की सूझी। फोटोग्राफर ने उसका फोटो उतार लिया। दूसरे दिन जब फोटो धोकर तैयार की गई और वह महिला फोटो लेने आई तो फोटोग्राफर एक बार फोटो की तरफ देखने लगा और दूसरी बार उस महिला की ओर। बार-बार उस की यह चेष्टा देखकर महिला ने कडक कर फोटोग्राफर से कहा—महाशय! यह भले आदमियों का काम नही कि इस प्रकार औरतों की ओर देखें। आपकी दुकान पर गरीब भी आते हैं, अमीर भी आते हैं। औरतें भी आती हैं, मर्द भी आते हैं। आपको सभ्यता रखनी चाहिये।

यह सुनकर फोटोग्राफर कुछ लज्जित-सा हुआ। उसने कहा—क्षमा कीजिये देवी! मैंने बुरी निगाह से आपको नही देखा। मुझे एक बडी ही आश्चर्यजनक बात दिखाई दे रही है। इसी कारण मैंने आपकी तरफ देखा है।

महिला—ऐसी क्या आश्चर्यजनक बात है?

फोटोग्राफर—महाशया! मैंने बड़ी सावधानी मे आपकी तसवीर खीची थी। उस समय पास मे कोई नही था। मगर आपकी तसवीर के साथ एक बिल्ली और दो मुर्गी के बच्चो की भी तस-

वीर खिच गई है ।

महिला चकित हुई । बोली—लाइए, देखें तो सही ।

महिला इसका रहस्य समझ गई । उसने फोटोग्राफर से सारी घटना कही । इस घटना के आधार पर फोटोग्राफर ने मन की तसवीर उतारने की तरकीब निकाली ।

तात्पर्य यह है कि मन की जैसी प्रबलतर भावना होती है, उसी प्रकार का फोटो खिच आता है । जिस मनुष्य मे क्रूरता होगी—अमुक को मार डालूं, अमुक का धन छीन लूं, लूट लूं आदि । उसका फोटो बडा ही भयावना—कँपकँपी पैदा करने वाला उतरेगा । जिसके विचार निर्मल होंगे, उसका फोटो उज्ज्वल और सौम्य होगा ।

जैन-सिद्धात मे छह लेश्याएँ मानी गई हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल । इनमे तीन लेश्याएं शुभ और तीन अशुभ हैं । अशुभ लेश्याओ का रग भद्दा और शुभ लेश्याओं का उत्तम माना गया है । अशुभ लेश्याओ की बुरी गन्ध और शुभ लेश्याओ की उत्तम गन्ध होती है । अच्छी लेश्याओ मे बहुत बढिया खुशबू होती है और बुरी लेश्याओ मे ऐसी घृणित दुर्गन्ध होती है कि उसका वर्णन नही हो सकता । सडे कुत्ते, सडे सर्प या सडे हुए गाय आदि के कलेवर मे जितनी दुर्गन्ध होती है, उससे भी कहीं ज्यादा—बहुत ज्यादा दुर्गन्ध अशुभ लेश्याओं मे होती है । इसी कारण अशुभ लेश्याओ को त्यागने और शुभ लेश्याओ को स्थान देने का उपदेश दिया जाता है ।

वैज्ञानिक ने इस बात पर विचार किया कि फूल रग-बिरगे क्यों होते हैं ? आप शायद जानते होंगे—गुलाब के फूल काले रग के भी होते हैं, सफेद रग के भी होते हैं और ललाई लिए भी होते हैं । वैज्ञानिको ने इस रग-भेद का कारण भी बतलाया है । जो फूल सूर्य की किरणें ज्यादा खीचता है और उनका त्याग कम करता

है वह काला होता है। जो फूल सूर्य की किरणें कम खीचता है और अपना पावर बाहर ज्यादा फेंकता है वह उज्ज्वल और सुगंधित होता है।

फोटोग्राफर फोटो खीचते समय केमरे पर काला कपडा डाल लेता है। इसका कारण यह है कि काला कपडा सूर्य की किरणो को हजम कर जाता है। इस उपाय से फोटोग्राफर सूर्य की आवश्यकता से अधिक किरणें रोककर फोटो उतार लेता है। यही बात आप अपने ऊपर घटा लीजिये। जो आत्मा लेता ही लेता है, देता कुछ भी नही है वह आत्मा काला-मलीन-नीच बन जाता है। इसके विपरीत उत्सर्ग करने वाला आत्मा उज्ज्वल-स्वच्छ होता है। वीर क्षत्रिय अपने ऊपर किसी का उपकार नहीं रखते थे। उदयपुर के महाराणा आज भी किसी की भेट नही रखते। क्षत्रिय लोग अपने ऊपर किसी का कर्ज नही रखना चाहते। इसीलिए वे ससार मे प्रखर तेज फैलाते हैं।

मित्रो! आप लेने ही लेने मे न रहिए। वापिस भी दिया कीजिए। उपकारी का बदला प्रत्युपकार से चुका देना चाहिए। देखो, प्रकृति का आपके ऊपर कितना महान् उपकार है। एलेक्ट्रिक कम्पनी का मालिक आप से खर्च लिये बिना आपके घर सूर्य लगवा दे तो आप कितना उपकार मानेंगे? तब क्या असाधारण प्रकाश देने वाले सूर्य का हमें उपकार नही मानना चाहिए? बिजली का प्रकाश हमे हर तरह तन्दुरुस्त रखता है, यहाँ तक कि वह जीवन के लिये अनिवार्य है। ऐसी दशा मे सूर्य का हमारे ऊपर कितना उपकार है? इसी प्रकार प्रकृति की अनुपम देन-हवा हमारे ऊपर कितना उपकार कर रही है? इसी के सहारे हम जीवित हैं। क्या इसका उपकार हमे नहीं मानना चाहिए?

याद रखो, जो उपकारी का उपकार ग्रहण करता ही जाता है, उसका जरा भी बदला नहीं चुकाता वह नेस्तनाबूद हो जाता

है । स्वार्थबुद्धि को त्यागो । स्वार्थबुद्धि तुम्हारा नाश कर देगी । परमार्थी बनो । दूसरों का कल्याण करो । अपने ही लिये मत जीओ । अपना जीवन दूसरो के लिए बिताओ । ऐसा करके अगर कुछ खाओगे भी तो उससे अनन्तगुणा पाओगे । त्याग किये बिना प्राप्ति नही होती । जो मनुष्य पेट मे सचित मल का त्याग नहीं करेगा, वह नवीन खुराक नही खा सकेगा ।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—आपकी आराधना किस प्रकार करनी चाहिए ? हमारा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में कृष्ण ने कहा—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च ।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
> यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
> हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
> अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
> सर्वारम्भपरित्यागी यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
> यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
> शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
> समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।
> शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
> तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
> अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥

—गीता, अ० १२, श्लोक १३—१९

इन श्लोको की व्याख्या के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । इतना समय नही है । इनका सारांश यह है कि—हे अर्जुन ! अगर तू मेरा भक्त होना चाहता है तो सब से पहले इन

गुणो को प्राप्त कर—प्राणीमात्र पर मित्रता रखना, सब के प्रति समभाव धारण करना। सूर्य किस समान भाव से प्राणीमात्र को प्रकाश देता है? हवा सब को समान रूप से जीवन देती है। यही बात जैनशास्त्र मे कही है। मित्ती मे सव्वभूएसु। अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखो।

जीव मात्र ईश्वर की मूर्ति है। किसी को नीच न समझो। सब से प्रेम करो। सब की सेवा करो। निष्पक्ष रहो। सन्तुष्ट रहो दु:खों से मत घबराओ। सुख मे मत फूलो। समभावी को सदा सब सुख प्रस्तुत रहता है।

ममता त्यागो। अहकार को छोड़ो। सुख-दु:ख को समान समझो। क्षमावान बनो। सन्तुष्ट रहो। मन को जीतो। सकल्प-शक्ति को दृढ बनाओ। निष्काम-बुद्धि धारण करो। किसी को उद्वेग न पहुँचाओ, न किसी से उद्विग्न होओ। हर्ष, क्रोध आदि की तरगो मे मत बहो। पवित्र और विवेकशील बनो। आसक्ति छोड़ो। अनिष्ट प्रसग उपस्थित होने पर भी चित्त को व्यथित मत होने दो। आरभ-समारभ को तजो। द्वेष, शोक और कामना को दूर करो। शुभ-अशुभ का त्याग कर विशुद्ध की ओर बढने का विचार रखो। शत्रु-मित्र मे, मान-अपमान मे सर्दी-गर्मी मे, निन्दा-प्रशसा में समता धारण करो। ममत्व घटाओ। मौन रहो। सन्तुष्ट रहो। अनगार बनने का प्रयत्न करो। बुद्धि को चचल मत होने दो। ईश्वरभक्ति मे लीन रहो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

मैं आपको सुबाहुकुमार की जो जीवनी सुना रहा हूँ, उसका सार यह है, जो ऊपर कहा गया है। आपने यह सुन लिया कि सुबाहुकुमार ने अपने जीवन को किस प्रकार उच्च बनाया, किन्तु सुनना ही पर्याप्त नही है। जब तक आप इसके अनुसार अमल न करेंगे तब तक कोई विशेष लाभ नहीं पहुंच सकता। एक आदमी

को कोई रोग हुआ । उसने कोई औषधि ली और उसे फायदा हो गया । अब क्या दूसरे आदमी को उसी रोग मे वह लाभ नहीं पहुँचाएगी ? सुबाहु ने जो कार्य किया, आप भी अगर वैसा ही करेंगे तो आप भी सुबाहु बन सकते हैं ।

यह बतलाया जा चुका है कि सुबाहुकुमार ने निर्ग्रन्थप्रवचन पर पूर्ण प्रतीति की । उसने उसका मर्म प्राप्त किया, प्रश्न पूछे और अर्थ का निर्णय किया । वह तत्त्वो का ज्ञाता हो गया । इसके पश्चात् शास्त्र बतलाता है कि वह अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा— इस प्रकार महीने मे छ दिन पौषध व्रत पाल कर धर्म की आराधना करने लगा ।

पौषध चार प्रकार से होता है—(१) आहार का त्यागकर (२) ब्रह्मचर्य का पालन कर (३) शृगार अर्थात् शरीर का विलास छोड़ कर और (४) व्यावहारिक कार्य बन्द करके ।

जिसे पौषध करना हो उसे उस दिन आहार आदि का त्याग करना चाहिये । एकान्त स्थान मे जाकर ईश्वर मे तन्मय हो जाना चाहिये । उस दिन धर्म-चर्चा के सिवाय दुनियादारी का कोई काम नही करना चाहिए ।

अन्न खाना छोडने से धर्म का पोषण किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर यह है कि धर्म का मर्म समझने से अपने आप ही इस प्रश्न का समाधान हो जायगा । महाभारत और अन्य वैदिक-ग्रन्थो मे उपवास का उल्लेख मिलता है । उपवास करने से शारीरिक व्याधियां दूर होती है और इन्द्रियो की चचलता दूर होती है । इससे मन को बडी शान्ति मिलती है । उपवास ईश्वर के समीप शीघ्र पहुँचने का मार्ग है ।

भारतवर्ष बहुत प्राचीन काल से उपवास का महत्त्व जानता है ? इसीलिये भारतीय धर्मों के क्रियाकाण्ड मे उपवास का स्थान बहुत ऊँचा है । आज अमेरिका जैसे यूरोपीय देशो ने भी इसका

महत्व समझा है । वहाँ बारह करोड रुपयो के खर्च से एक उपवास सस्था कायम की गई है, जिसमे उपवास-चिकित्सापद्धति से ही सब रोगो का इलाज होता है ।

उपवास से क्या-क्या लाभ होते हैं और उपवास मे कितने गुण हैं, यह वात भारत ने ही दुनिया को वतलाई थी । परन्तु भारत आज इसके महत्व को दिन पर दिन भूलता जाता है । आज इसका स्मरण क़रीव-करीव पुस्तको के पृष्ठो पर ही रह गया है । यह वडे खेद की वात है ।

महाभारत मे कहा है —न तपोऽनशनात्परम् । अर्थात् अनशन—उपवास से वढकर और कोई तप नही है ।

गीता मे लिखा है —

इन्द्रियाणाँ हि चरताँ यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञाँ वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

—गीता, अ० २, श्लो० ६-७

इन्द्रियो को वश मे करना वहुत कठिन है । प्रचण्ड शत्रु पर अधिकार करना कठिन है पर इन्द्रियों पर कावू पाना उससे भी ज्यादा कठिन है । जो मनुष्य इन्द्रियो पर अधिकार करना चाहता है, उसके लिए एक ही राजमार्ग है—उपवास करना । उपवास इन्द्रियो को जीतने का अत्यन्त सरल उपाय है । उपवास का मतलव निराहार रहना है । कुछ भी आहार न लेना, निराहार रहना कहलाता है । कई लोग छाछ या दूध का उपयोग करते हैं उन्हे पूरा निराहारी नही कहा जा सकता । उपवास, अनाहार और अनशन यह सब एकार्थक शब्द हैं ।

मनुष्य प्रतिदिन खाता है । सावधानी रखने पर भी कभी न कभी भूल होना अनिवार्य है । भूल होने पर प्रकृति दड दिये विना नही रहती । किसी और के द्वारा दिये गये दण्ड को आप माफ करा सकते हैं, मगर प्रकृति के दण्ड से आप किसी प्रकार नही वच

सकते । आपने प्रकृति के किसी कानून की अवज्ञा की तो आपको तुरन्त दण्ड भोगने के लिए तैयार रहना चाहिये । आप दूसरों की आँखों मे धूल झोंक सकते हैं, पर प्रकृति को आप धोखा नही दे सकते । प्रकृति का कानून अटल है, अचल है । कोई उसमे हेर-फेर नही कर सकता ।

अच्छा तो खाने मे कभी भूल हुई कि कोई न कोई रोग आ धमकता है । उस रोग को दूर करने का सरल उपाय उपवास करना है । उपवास कर डालिए, रोग छू-मन्तर हो जायगा । अगर आपको किसी प्रकार का रोग नही है, तो भी उपवास करने का नियम रखने से वडा लाभ होगा । आप प्रतिदिन जो भोजन करते हैं, उसे आँतें पचाती हैं । अगर आप आँतो को वीच-वीच मे विश्राम देते रहेंगे तो उनमे नवीन शक्ति आती रहेगी और अन्न का पाचन अच्छा होगा । इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखिये, उपवास का महत्त्व वहुत अधिक सिद्ध होता है ।

कुदरत के नियम को कोई वदल नही सकता । और की तो क्या चलाई, साक्षात् परमात्मा भी उसमे दखल नही दे सकते । लोग चटोरे बनकर कुदरत के नियम को तोड रहे हैं और इसलिए विविध व्याधियो के शिकार वनते हैं । अगर आप अपना तन और मन स्वस्थ रखना चाहते हैं तो भोजन की अमर्यादा का त्याग करो । सातवे व्रत—भोगोपभोगपरिमाण—का पालन करो । आवश्यकता से अधिक खाकर पेट पर व्यर्थ वोझ मत डालो । जवान के अधीन होकर सडे और गन्दे पदार्थ गटागट पेट मे मत घुसेटो । दोना चाटने वालो की दुनिया निराली है । वे सीधा खाने मे ही धर्म-पुण्य समझते हैं । घर पर वनी रसोई खाने से उन्हे आरम्भ-समारम्भ का पाप लगता है । वाजार मे जाकर कलाकन्द और रवडी खाई और पाप से निस्तार हुआ । अफसोस कैसी दुर्बुद्धि है ! लोगो ने आलस्य मे ही धर्म मान रखा है ।

वहुत से भाई विलायत के बने विस्कुट पर ही अपना निर्वाह करते हैं। उन्हें क्या पता है कि यह विस्कुट कैसे बनाये जाते हैं। विस्कुट वनाने के लिए पहले खमीर उठाया जाता है। वह इतना सडने लगता है कि पास मे खडे रहने की तवीयत नही होती। फिर उस खमीर से विस्कुट वनाये जाते हैं। कुछ चर्बी ऊपर चुपड कर सुवासित गन्ध मे दुर्गंध उडा दी जाती है और डिव्वो मे वन्द कर देते हैं। उन पर सुन्दर लेविल लगा दिये जाते हैं और आपके यहाँ भेज दिये जाते हैं। उन्हें आप प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं। उन्हे खाकर अगर आप रोगो के शिकार न वनें तो आश्चर्य!

डवल रोटी भी विस्कुट की तरह ही बनाई जाती है। आज-कल जर्मनी का बना मसाला भी आने लगा है। इस मसाले की पेटियाँ की पेटियाँ भारत मे आती हैं। आप मे से वहुत से लोग विलायती शक्कर का उपयोग करते होंगे। विलायती शक्कर कैसे घृणित पदार्थों से तैयार की जाती है, यह आप जानते हैं? दया-धर्मियो! वह तुम्हारे खाने योग्य नही है। इस सव के उपरान्त कुछ दिनो से वनस्पति-घृत आने लगा है। क्या आपके लिये वह लाभकारक है? आप आलस्य मे धर्म मानने लगे, इसीलिए विजली की चक्की मे आटा पिसवाने लगे। मगर आपको क्या पता है कि ऐसा करने से आप कितनी हिंसा के भागी वनते हैं।

एक जैन कहलाने वाले भाई ने मुझसे पूछा—मैं वाजार से सीधा दूध लाता हूँ। इसमे तो कोई पाप नही है?

मैंने पूछा—क्यो पाप नही है?

वह वोले—गौ के पालने मे आरम्भ-समारम्भ होता है। वाजारू दूध लेने से पाप से वचाव हो जाता है।

मैंने कहा—वाजार मे विकने वाला माँस खरीद लाने में तो आप पाप नही मानते न?

वह वोले—महाराज! यह कैसे हो सकता है? उसमे तो

पशु मारने की अनुमोदना हो गई ।

मैंने कहा—वस, मनुष्य अपने मतलव के लिए पाप को कुछ नही गिनता, दूसरो के काम मे झट पाप खोज निकालता है । जैसे दूसरे के काम मे पाप ढूंढते हो, उसी प्रकार अपने काम मे भी पाप ढूंढो तो तुम्हारी भलाई होगी ।

कहाँ तक कहा जाय ? धर्म का असली स्वरूप न समझने से गौ को माता कहने वाले ही गौहत्या कराने मे सहायक बनते हैं । जिस कृतघ्न को गौ की हत्या कराने मे सकोच नही होता उसे अपनी रोगिणी माता के लिये क्या फिक्र होती होगी ? वह यही समझता होगा—मैं क्या करूं ? यह अपने कर्म के उदय से दुःख पा रही है । मैं अपने बाल-बच्चो को सँभालूं या इसकी चाकरी करूं ? हाय ! इस हत्यारे को अपने कर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नही है ?

मैं यह कह रहा था कि सातवें व्रत का अच्छी तरह पालन करो । धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीर मूलमुत्तमम् की जगह आपने शरीर व्याधिमन्दिरम् वना रखा है । अर्थात् जो शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम कारण है उसे आपने व्याधियो का घर वना डाला है । अगर आप शरीर को फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन वनाना चाहते हैं तो मर्यादापूर्वक सातवें व्रत का पालन करते हुये उपवास करना कभी मत चूकिये । ऐंजिन और मशीन को भी विश्राम दिया जाता है, तव भी आप उपवास का महत्त्व नही समझते ? उपवास करके तुम भूखो नही मरोगे, वरन् अपने रोगो को भूखो मार दोगे । यह सव उपवास के शारीरिक लाभ हैं । आत्मिक लाभ इससे भी विलक्षण होते हैं ।

थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रधान कार्यकर्त्री श्रीमती एनी-वीसेंट के एक लेख मे पढ़ा था कि उपवास से शारीरिक लाभ तो होता ही है, पर आत्मिक लाभ कुछ कम नही होते । उपवास करने से ऐसे-ऐसे अद्भुत उच्च विचार प्रकट होते हैं कि जानकर

चकित रह जाना पडता है । जो गूढ़ विषय यों समझ मे नही आता, उपवास मे सरलता से समझा जा सकता है । उपवास करने से और भी कई प्रकार के लाभ होते हैं ।

प्रकृति का नियम है कि जितने मनुष्यो को उसने पैदा किया है, उनको खाने के लिए उतना वह पैदा कर देती है । पर हम लोगो ने धीगाधागी करके, जबर्दस्ती खाकर, पेट मे ठूंस-ठूंसकर भोजन भर कर, छह करोड भूखो मरने वालो की खुराक छीन ली है और उन्हे भूखा मारने का पाप अपने ऊपर ले लिया है । भारतवर्ष मे तेतीस करोड मनुष्य रहते हैं । इनमे से छह करोड को अलग कर सत्ताईस करोड मनुष्य महीने मे सिर्फ छह उपवास करने लगें तो क्या छह करोड भूखो मरने वाले बचाये नही जा सकते ? अवश्य ।

उपवास, भूखो की भूख मिटाने वाला, रोगियो का रोग दूर करने वाला और ईश्वरोपासक को ईश्वर से भेंट कराने वाला है । उपवास शब्द का अर्थ है—उप अर्थात् समीप मे वास करना अर्थात् ईश्वर के साथ वसना । उपवास करने वाले के हृदय में प्रेम, दया, शान्ति निर्मोहता आदि अनेक सद्‌गुण उत्पन्न हो जाते हैं ।

उपवास का महत्त्व सुबाहुकुमार ने समझा था । वह वीर क्षत्रिय था । आप अपने बनियापन मे इसके महत्व को भूल गये हैं । मैं कई वार कह चुका हूँ कि आप वनिया नही है । आपके भीतर क्षत्रियो का खून दौड रहा है । कुछ उत्साह रखो, यही खून आपके शरीर मे लहरें मारने लगेगा ।

यह धर्म—जैन धर्म जिन दिनो वीर क्षत्रियो की गोद मे था, उन दिनो यह ससार मे अपनी प्रखर किरणें फैला रहा था । सुबाहुकुमार जैसे क्षत्रिय पुत्र ने उसे प्रकाशित किया था । सुबाहुकुमार ने पूर्वजन्म मे अच्छे कार्य करके पुण्योपार्जन किया था, इसलिये उसे राजा के घर जन्म मिला और इस जन्म मे भी पुण्य के प्रताप से धार्मिक कार्य करता हुआ आदर्श गृहस्थ-धर्म पालने लगा ।

यह कहा जा चुका है कि सुबाहुकुमार नियमित रूप से महीने मे छह पौषध करता था। पौषधव्रत का पालन प्रत्येक श्रावक को करना उचित है। जो लोग कहते हैं कि हमे समय नही मिलता, अन्यथा पौषध का पालन करते। समझना चाहिये कि समय की शिकायत करने वालो का जीवन व्यवस्थित नही है। जिस मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता है, उसे समय निकालने मे कोई कठिनाई नही हो सकती। जब सुबाहु जैसा राजकुमार—युवराज पद भोगने वाला—राज्य की धुरा धारण करने वाला भी समय निकाल सकता है तो आप क्यो नही निकाल सकते ? आपको समय न मिलना, इस बात का प्रमाण है कि आपका जीवन अव्यवस्थित है। जो मनुष्य अपना जीवन व्यवस्थित रूप से व्यतीत करता है उसे इस लोक मे और परलोक मे सुख मिलता है। आप समय का मूल्य समझो। आज भारत के अधिकाश मनुष्य समय की कीमत नहीं समझते। जो समय की कीमत नही समझेगा, वह दिलचस्पी से उसका आदर कैसे कर सकता ?

यूरोप के लोग समय का जितना मूल्य आकते हैं, उतना हम भारतवासी नही आकते। वह समय को सोने से भी ज्यादा कीमती समझते हैं और हम लोग अर्थहीन गपसप मे ही बहुत-सा उपयोगी समय व्यतीत कर देते हैं। यूरोप का छोटे से छोटा काम करने वाला भी समय को बहुमूल्य मानता है और इसी प्रकार उसका उपयोग भी करता है। यूरोपीय लोग समय के इतने पाबन्द हैं कि देख कर आश्चर्य-चकित होना पडता है। सेठ निहालसिंह नामक एक भारतीय सज्जन पैरिस की सैर करने गये। वहाँ उन्होंने रास्ता साफ करने वाले एक मेहतर का फोटो लेना चाहा। मेहतर ने अपनी घडी देखकर कहा—मेरी ड्यूटी खत्म होने मे पाच मिनिट बाकी हैं। उसके बाद आप चाहें तो फोटो ले सकते हैं। यह सुन कर श्री निहालसिंह को बडा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा—पैरिस

के मेहतर भी समय के इतने पाबन्द हैं और इतनी प्रामाणिकता के साथ अपनी ड्यूटी अदा करते हैं ! भारतीयो के लिये यह बात अनुकरणीय है ।

हमारे यहाँ समय की कीमत नही । इसलिये लोगों का खाना-पीना, सोना, काम करना, टहलना, उटना, बैठना सब अव्यवस्थित है । जो मनुष्य अव्यवस्था से अपना जीवन व्यतीत करता है उसे न यहाँ सुख मिलता है, न वह परलोक के सुख का ही अधिकारी होता है ।

सुबाहुकुमार का जीवन व्यवस्थित था । अतएव वह राज्य-कार्य करता हुआ भी धर्मक्रिया के लिये समय निकाल लेता था । सुबाहु ने पौषधव्रत धारण किया, इसीलिये उसका हृदय दर्पण के समान स्वच्छ हो गया । जिसका हृदय स्वच्छ होता है, उसमें अलौकिक शक्तियो का वास हो जाता है । यह अलौकिक शक्तियां सासारिक वस्तुओ को तो क्या, देवताओ को भी अपनी ओर आकर्पित कर लेती हैं । स्वच्छ-हृदय पुरुप की सेवा के लिए देवगण भी लालायित रहते हैं ।

आप मे से बहुत से भाइयो को पौपध करने का भी समय नही मिलता । सारा समय सांसारिक झझटो मे भी समाप्त हो जाता है । अब आप सोचिये कि आपको आत्मप्रकाश कैसे प्राप्त होगा ?

पौषध मे उपवास करना पडता है । बहुत से लोग समझते है—उपवास से शरीर क्षीण हो जाता है और भूख की व्याकुलता सताती है । मगर सचाई इसके विपरीत है । उपवास से शरीर क्षीण नही होता, वरन् शरीर के साथ-साथ आत्मा भी पुप्ट होता है । उपवास ने शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियो का विकास होता है ।

हाँ, यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है । वह यह कि उप-

वास का फल प्राय पारणे पर अवलम्बित है । आप मे से कई भाई और बाइयाँ कई दिनो के उपवास करते हैं, उन्हे पारणा करते समय बहुत सावधानी रखनी चाहिये । पारणा करते समय अधिक खा लेने से भयकर रोग खडे हो जाते है । पारणा करते समय बिलकुल हल्का और अल्प पदार्थ सेवन करना हितकर माना गया है । भारी और चरपरी चीजें और भोजन की अधिक मात्रा हानिकारक है । पारणे के अवसर पर मन पर काबू न रखा और खाने के लोभ मे पड गये तो स्मरण रखिये, आपको उपवास का महत्व मालूम नही होगा । तपश्चर्या विधि-पूर्वक करके सफलता प्राप्त करना जिनमार्ग को दिपाने के समान है । जो विधि विरुद्ध व्यवहार करके तपस्या मे असफल होगा, वह तपस्या के उपहास का कारण बनेगा। उसे देखकर लोग कहेंगे—देखो, तपश्चर्या की सो उसका फल-बीमारी-भोग रहे है । क्या रखा है ऐसी तपश्चर्या मे ।

भाइयो, तपस्या करने से पहिले उसकी विधि समझ लेना अत्यावश्यक है । तपस्या को बदनाम करना धार्मिक तत्वों का अपमान करना है ।

कई एक गर्भवती बहिनें तपस्या का लोभ सवरण नही कर सकतीं । वह भी उपवास करती हैं, मगर तमाम शास्त्रो मे गर्भवती के लिये उपवास करने की मनाई है । आयुर्वेद के ग्रन्थ भी स्पष्ट रूप से निषेध करते हैं । गर्भवती के उपवास करने से कई बार गर्भपात हो जाता है और इससे पचेन्द्रिय की हिंसा का पाप भी लगता है । कई बार स्वय गर्भवती बाई के प्राण सकट मे पड जाते हैं और कइयो को तो प्राणो से हाथ धोना पडता है । इन सब कारणो से मैं गर्भवती स्त्रियो को उपवास करने की सलाह नही देता । मैं स्पष्ट शब्दो मे कहता हूँ कि गर्भवती स्त्रियो के लिये तपस्या करने का उल्लेख किसी भी शास्त्र मे नही मिलता ।

उपर्युक्त विवेचन से उपवास का महत्व समझ मे आ सकता

है । पौषध-उपवास मे ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है । साथ ही शरीर-शृगार का त्याग करना चाहिये और ससार सम्बन्धी झझटो से मुक्त हो जाना चाहिये । महीने में चौवीस दिन आजीविका के लिए कम नही हैं । धर्म क्रिया में छह दिन तो व्यतीत करना ही चाहिये । थोडे समय टिकने वाले इस वर्तमान-जीवन के लिए अगर वहुत कुछ करते हो तो थोडा सा भविष्य-जीवन के लिए भी तो करलो । आगामी भव मे क्या पूंजी लेकर जन्मोगे ? वर्तमान अल्प है और भविष्य का अन्त नही है । आखिर तो भविष्य से ही काम पड़ना है । क्या उसके लिए कुछ भी तैयारी नही करोगे ?

भगवान ने चार प्रकार के श्रावकों का वर्णन किया है । उनमे पहला श्रावक वह है, जिसकी आत्मा काच के समान हो । काच मे दूसरी वस्तुओ का दृश्य भले ही दिखाई दे, मगर उनका स्पर्श नही हो सकता । ऐसा आत्मा स्तुति के योग्य है ।

सुनन्द नामक एक चित्रकार था । किसी राजा ने वहुत से चित्रकारो को अपने महल मे चित्रकारी के लिये बुलाया । सुनन्द भी वहाँ आया था । राजा ने सर्वश्रेष्ठ चित्रकारी करने वाले को विशिष्ट पारितोषिक प्रदान करने की घोषणा की । सभी चित्रकार पारितोषिक पाने के लिए लालायित हुए । वह लोग पर्दा लगा-लगा कर चित्रकारी करने लगे । एक दीवाल सुनन्द को भी चित्रकारी के लिए मिल गई थी । सब चित्रकार अपने-अपने काम मे लग गये । सुनन्द ने वहुत सोच-विचार कर भीत पर वढिया पालिश करने की ठानी । राजा नियत समय पर चित्रकारी देखने आया । सब चित्रकार अपना कार्य समाप्त कर चुके थे, पर सुनन्द ने अभी तक पालिश ही किया था । राजा सब की चित्रकारी देखता हुआ जब सुनन्द वाली दीवाल की ओर आया तो उसे उस पर कुछ भी नजर न आया । राजा ने कहा—अरे सुनन्द, सब चित्रकार अपना-

अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं और तू अभी पालिश ही कर पाया है ?

सुनन्द नम्रतापूर्वक बोला—अन्नदाता ! सब ने एक काम किया है, मैंने दो काम दिये हैं ।

राजा—कैसे दो काम ?

सुनन्द—पृथ्वीनाथ ! इन लोगों ने सिर्फ चित्रकारी की है, पर मैंने ऐसा काम किया है कि दीवाल पर चित्र भी दिखने लगें और जब चाहें तभी उन्हें मिटा सकें । इनके चित्रो मे यह गुण नही है ।

राजा का आदेश पाकर सुनन्द ने सामने का पर्दा हटा दिया । सामने की दीवाल पर जो चित्र अकित किये गये थे, वह सब बढिया पालिश की हुई इस दीवाल पर प्रतिबिम्बित होकर दिखाई देने लगे । थोडी देर बाद उसने पर्दा डाल दिया तो दीवाल चित्र-रहित स्वच्छ दिखलाई पडने लगी । राजा उसकी कुशलता देख बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पारितोषिक दिया ।

कहने का आशय यह है कि आप अपने हृदय पर ऐसा उत्तम पालिश कीजिये कि वह पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाय । उस पर संसार के बिम्ब भले ही पड़ें परन्तु आत्मा से उनका स्पर्श न हो । काच मे पडने वाले प्रतिबिम्ब को वायु हिला नहीं सकती ।

आप अपने हृदय को काच बनाकर उसमे जिन-वचन-श्रद्धा का ऐसा प्रतिबिम्ब डालो कि देवतारूपी वायु उसे हिलाने में असमर्थ हो जाय । सुबाहुकुमार ने ऐसी ही विशेषता प्राप्त की थी । इसी कारण ससार के कुसस्कारो को उसके हृदय मे स्थान न मिला ।

सुबाहुकुमार ने अतिथियो को दान देने के लिए अपने घर का द्वार खोल दिया था । कोई भी भिक्षुक उसके द्वार पर आकर अन्न-पानी ग्रहण करता था ।

आज कई भूले भाई दान देना ही बुरा समझते है । उनकी

मनोवृत्ति इतनी सकुचित हो गई है कि जिसकी सीमा नही ।

भेषधारी आयो घर वार ए,
जाने शरमाशरमी दीजे दान ए ।
पछे किजे पश्चात्ताप,
तो थोड़ो लागे पाप ए ॥

तात्पर्य यह कि पहले तो दान देना ही नही चाहिए । कदाचित् लोक-लज्जा से या किसी के दवाव से कुछ टुकडा दे भी दिया जाय तो देने के बाद पश्चात्ताप करना चाहिए कि—हाय ! आज का दिन कितना बुरा हुआ कि मुझ से पाप का काम हो गया । मैं कुछ न देता तो अच्छा था । इस प्रकार पश्चात्ताप करने से पाप कम हो जाता है ।

हाय-हाय ! यह कैसी विपरीत बुद्धि है ! अगर दान देना निन्दनीय होता तो शास्त्र मे ऊसियफलिहे विशेषण श्रावक को क्यों लगाया जाता ।

मैंने एक बार कहा था कि घूरे पर (उकरडी पर) कमल उगा है अर्थात् क्षत्रियो का धर्म बनिया की गोद मे आ गया है । फल यह हुआ कि धर्म मे भी दुकानदारी चालू कर दी गई है । अधिकाश वणिक यही चाहते हैं कि हमारी दुकान जम जाय और पडौसी की उठ जाय तो ठीक है । यही हाल इस धर्म के कुछ साधुओ का हो रहा है । वह कहते हैं—हम सुपात्र हैं । हमे ही दान देना चाहिये । हमे छोडकर जगत् के लोग कुपात्र हैं । उन्हे दान नही देना चाहिये ।

वीतराग के नाम पर ऐसे-ऐसे मनगढत विचार प्रकट किये जाते हैं, जिनके कारण जनता भ्रम मे पड जाती है और साधारण विचारक की धर्म के प्रति आस्था ही नही रहती । वे सोचते हैं—यह कैसा स्वार्थमय धर्म है !

भाइयो, दान का बड़ा महत्व है ! भारत के समस्त धर्मो ने

एक स्वर से दान की महिमा गाई है देखिये —

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ।।

अर्थात्—जिस गृहस्थ के घर से अतिथि—साधु या पाहुना आदि निराश होकर लौट जाता है यानी कुछ मिलने की आश से गृहस्थ के घर आया था, पर वहाँ कुछ भी न मिला—सिर्फ गालियाँ मिली या धक्के मिले, तो उस अभ्यागत अतिथि का तो कुछ बिगडा नही, हानि गृहस्थ की ही हुई । अतिथि अपना पाप उस गृहस्थ को देकर और उसका पुण्य लेकर लौट जाता है ।

प्रश्न होता है—पाप देकर और पुण्य लेकर कैसे चला जाता है ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि अतिथि, गृहस्थ को दातार जान कर उसके घर जाता है और नम्रता से—गरीबी से—मीठे शब्दो से याचना करता है । मगर गृहस्थ उसे धक्का देता है, फटकारता है, गालियाँ देता है । कदाचित् गृहस्थ की देने की शक्ति न हो तो वह मधुर शब्दो मे उत्तर दे सकता है । ऐसा न करके उसके प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार करना, अभ्यागत से भी नीचा बन जाना है । अभ्यागत ने मधुर वाणी बोली, मगर गृहस्थ मधुर वचन का भी दान न कर सका । अतएव वह भिखारी से भी अधिक भिखार हुआ । क्रोध आदि करने से पाप होता ही है । जब गृहस्थ ने भिखारी को फटकारा, धक्का दिया तब उसने पाप तो ले ही लिया । अभ्यागत मीठे वचन बोला । मीठे वचन बोलना पुण्य तो है ही । इस प्रकार उसने पुण्य ग्रहण करके अपना रास्ता पकडा ।

अभ्यागत को कभी निराश होकर मत लौटने दो । भारत मे पहले बिना किसी भेदभाव के दान दिया जाता था । कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न हो, उसके लिये प्रत्येक दातार का द्वार खुला रहता था ।

आप कह सकते हैं कि ऊपर का श्लोक अन्य धर्मियो का

है ! मगर मित्रो ! सुवाहु तो अन्यधर्मी नही है। उसने उदार वृत्ति से अपना दानभडार खोल दिया। प्रत्येक अभ्यागत, साधु, दुखी, भूखा वहाँ पहुँच कर सन्तोष प्राप्त करता था।

मित्रो ! अपने लडके की बीमारी मे सेवा-शुश्रुषा करो, इस मे आपकी कोई महत्ता नही है। यह तो आपका फर्ज ही है। महत्ता तो पराये की सेवा करने मे है। आपने दस हजार रुपये विवाह मे खर्च कर दिये, इससे क्या हुआ ? खर्च कर दिये तो वही वात और खर्च न किये होते तो भी वही बात ! अगर आप उस रकम का चौथाई भाग भी गरीबो की भलाई के लिए, पतितो के उद्धार के लिये या धर्म के प्रचार के लिये खर्च करते तो आपको कितना पुण्य होता ? आपका यश कितना फैलता ? मगर ऐसी उच्च भावना किसी पुण्यवान पुरुष के ही मस्तिष्क मे आती है। ससार मे उदार-चित्त पुरुषो की सख्या वहुत कम है। कृपणो की सख्या वहुत है। किसी विद्वान् ने कहा है—दाता थोडा थोड़ा दान देता है पर कृपण एक साथ सव दे देता है अर्थात् कृपण जव मरता है तो अपना धन साथ मे तो नही ले जा सकता, दूसरे लोग ही उपभोग करते हैं। सभी शास्त्र और विद्वान् दान देने का उपदेश देते हैं। किसी ने कहा है—

पामर प्राणी चेते तो चेताऊँ तो ने ।
नथी घर-बार म्हारु, मिथ्या कहे छे म्हारु म्हारु ।
तेमां नथी कशु तारु रे ॥ पामर प्राणी ॥१॥
माखीए मधुपूडु कीधु, न खाधु न खावा दीधु ।
लूटनारे लुटी लीधु रे ॥पामर प्राणी ॥२॥
खंखेरी ने हाथ खाली, ओचीतु जाबु छे चाली ।
करे माथाफोड़ खाली रे ॥पामर प्राणी ॥३॥

मित्रो ! घर-द्वार, हाट-हवेली, कोई वस्तु स्थिर नही है। वडे-वड़े चक्रवर्ती भी इन्हे साथ नहीं ले जा सके। अतएव सद्-

व्यय करना सीखो। दान, परोपकार का बड़ा भारी साधन है। ससार परोपकारी की पूजा करता है।

सुबाहुकुमार हिसा आदि क्रूर कर्मों से बचा और दान आदि पुण्य-कर्मों मे प्रवृत्त हुआ। उसने पहले जो शुभ कार्य किये थे, उन्ही के प्रताप से आज भी—वर्तमान जन्म मे भी वह शुभ कार्य कर रहा है। वह पुण्य के प्रभाव से ऋद्धिशाली हुआ है। ऋद्धि पाकर उसे घमड नही हुआ किन्तु नम्रता धारण कर ऋद्धि का उपयोग दान देने मे करने लगा। उसका द्वार सबके लिये खुला था। वह केवल जैन मुनियो को ही दान नही देता था वरन् सभी को यथोचित भाव से दान देता था।

आत्मा अनादिकाल से भवभ्रमण कर रहा है। पुण्य-कर्म के सुयोग से आपको यह सुअवसर मिला है। इसे व्यर्थ मत खोओ। आपका यह समय कितना कीमती है! धर्म के द्वारा आप ससार का कोई भी मूल्यवान पदार्थ खरीद सकते हैं, मगर जीवन नहीं खरीद सकते—मृत्यु को नही टाल सकते। धन मृत्यु से नही बचा सकता। करोड़ो रुपया खर्च करने पर भी जो चीज दुर्लभ है—अलभ्य है—उसे क्या आप कीमती नही समझेंगे? आपने बड़ी ही कठिनाई से यह अवसर पाया है। अगर आप इसका सदुपयोग कर के इससे भी उच्च अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं तो धर्म की आराधना कीजिये। धर्म आपके ससार-व्यवहार मे कोई रुकावट नहीं डालता। धर्म ही इस लोक और परलोक को सुधारता है। अतएव धर्म-जीवी बनो।

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहां जाऊँगा? इत्यादि प्रश्नो पर प्रतिदिन विचार किया करो। अगर अभी आपसे पूछा जाय कि आप कौन हैं? तो उत्तर मिलेगा—मैं ओसवाल हूँ। अरे भाई? आपकी जाति ओसवाल तो है, पर आप कौन हैं? जिसकी जाति ओसवाल है, ऐसे आप कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर

मे आप अपना नाम वताएँगे, ग्राम वताएंगे, मगर वह कोई उचित उत्तर नही हुआ । आप क्या नाक हैं ? आँख हैं ? कान हैं ? पैर हैं ? हड्डी हैं ? चमडी हैं ? क्या हैं ? आप कौन हैं ?

यह विषय वडा गहन और विशाल है । समय होता तो स्पष्टतया समझाता । परन्तु इतना तो सभी जानते हैं कि मनुष्य अगर हाथ, पैर, नाक, आँख आदि होता तो अपने हाथो से कई छोटो, वडों और वरावर वालो को श्मशान में ले जाकर क्यो जलाया होता ? इसी से मालूम होता है कि मैं कान नही, कान से सुनने वाला हूँ, मैं आँख नही, पर आँख से देखने वाला हूँ, मैं नाक नही पर नाक से सूंघने वाला हूँ, मैं जिह्वा नही पर जिह्वा से चखने वाला हूँ । मित्रो ! यह सव तुम्हारे औजार हैं । तुम इनके स्वामी हो । मगर आज कुछ उलटा ही तमाशा नजर आ रहा है । तुम्हारे व्यवहार से ऐसा जान पडता है कि तुम इनके स्वामी नही सेवक हो, मालिक नही गुलाम हो । तुम्हारा सारा जीवन इन्ही की तृप्ति के लिए है ।

शास्त्र मे धर्म के प्रधान रूप से दो विभाग वतलाये गये हैं—अनगारधर्म और आगारधर्म । अनगारधर्म साधु के लिए और आगारधर्म गृहस्थ के लिए है । गृहस्थ आगारधर्म का पालन करता हुआ अनगारधर्म को धारण करके किसी समय पूर्ण अहिंसक वन जाता है । पूर्ण अहिंसक को अ, इ, उ ऋ, लृ इन पाँच स्वरो का उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने ही समय मे मोक्ष मिल जाता है ।

सुवाहुकुमार का जीवन इस कथन का उदाहरण है । पहले वह राजकुमार राजनीति के अनुसार कार्य करता था । अव वह समस्त कार्य धर्म की दृष्टि से करने लगा । उसकी आजीविका भी धर्मपूर्वक ही चलने लगी ।

आप सोचते होगे—क्या कोई आजीविका भी धर्म से

चलती है ? सामायिक को छोडकर ससार के समस्त कार्य पाप से ही होते हैं ।

यह विचार एकदम भ्रमपूर्ण है । आजीविका भी धर्मपूर्वक चल मकती है । हाँ, यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमे अपने व्रत खण्डित न हो पावें । व्रतो की ओर पूर्ण लक्ष्य रखने से तथा इहलोक, परलोक और सत्य के विरुद्ध कोई काम न करने से धर्म के साथ आजीविका क्यो नही चल सकती ?

असि, मसि और कृषि मे सब प्रकार की आजीविकाओ का समावेश हो जाता है । असि आजीविका क्षत्रियो की है और मसि एव कृषि वैश्यो की है । इन तीनो आजीविकाओ से रहित होकर ज्ञान देने का काम ब्राह्मणो का और तीनो वर्णों की सेवा करना शूद्रो का काम बतलाया गया है ।

यो कोई भी काम आरम्भ-समारम्भ के बिना नही होता । लिखा-पढी का काम बहुत पुण्य वाला मालूम होता है, पर उसमे भी कलम चलाने मे सूक्ष्म हिंसा हो ही जाती है । अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस काम मे सूक्ष्म हिंसा होती है उसे धर्म—आजीविका का काम कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जो मनुष्य अपने व्रतो का खण्डन न करता हुआ सत्य से अविरुद्ध कार्य करता है, उसमे अगर हिंसा हो जाय तो भी उसे धर्म आजीविका ही कहना चाहिए । चन्द्रमा मे कुछ काले धब्बे हैं, पर उसके स्वच्छ प्रकाश के आगे वह गौण हो जाते हैं । दूसरा उदाहरण केसर का लीजिए । बहुत सी केसर कढाही मे डालकर औटाई गई । उसका रँग शुद्ध सोने के समान पीला हो गया पर उसमे स्याही की एक बूंद गिर गई । उसने अपना काला रग कुछ फैला दिया । ऐसी स्थिति मे कोई यह अस्वीकार नही करेगा कि केसर मे किंचित काली झाँई है, तथापि पीले रग के सामने कालापन इतना गौण है कि उसे कोई काले रग की कढाही नहीं कहेगा,

वह पीले रंग की ही कढाही कहलायगी ।

बहुत से लोग शास्त्रो का वास्तविक अर्थ न समझकर भी ऐसा अर्थ करते हैं, मानों वह स्वयप्रज्ञ हैं, उन्हे निर्ग्रन्थ-बुद्धि प्राप्त हो गई है । मगर कल्याण का मार्ग यह नही है ।

आशय यह है कि सुवाहुकुमार धर्म-आजीविका करके जीवन व्यतीत करने लगा । सुवाहु पहले, लोगो की रुचि के अनुसार सामयिक परिस्थिति के अनुकूल, कुल परम्परा के आदर्श को सामने रखता हुआ काम करता था । परन्तु अब स्वतन्त्रता के साथ धर्मानुकूल कार्य ही करता था । पहले वह सोचता था—अगर लोक-रुचि के अनुसार कार्य न किये जाएँगे तो कई प्रकार के षडयन्त्र रचे जाएँगे । कुल परम्परा को मान दूँगा तो लोक-निन्दा होगी । मगर अब उसने यह परतन्त्र विचार त्याग दिये । उसने धर्म को ही अपना ध्येय मान लिया । अब भले ही उसके विरुद्ध बलवा हो, षड्यन्त्र रचा जाय या कोई निन्दा करे, इसकी उसे कोई चिन्ता नही थी । अब कोई भी बाहरी वस्तु उसके कार्यों का सचालन नही करती थी । धर्म ही उसका पथ-प्रदर्शक था । अन्तरात्मा की ध्वनि ही उसे प्रेरित करती थी ।

इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करके परतन्त्रता को ठोकर मार देना, मोक्ष का मार्ग पकड लेना है ।

स्वतन्त्रता से किया गया काम कल्याणकारी है और परतन्त्रता से किया हुआ अकल्याणकारी है । स्वतन्त्र विचार से जो शुभकार्य किया जाता है, उसका स्थान बहुत उच्च है । जो काम किसी के दबाव से, लिहाज से या जाति के कानून के डर से किया जाता है वह उतना उच्च नही माना जा सकता । उदाहरणार्थ—ओसवाल भाई माँस नही खाते । मगर जाति के लिहाज से इसे न खाना उत्तम तो अवश्य गिना जायगा, पर उतना उत्तम नहीं जितना उसके अवगुणो को देखकर हृदय से — स्वतन्त्रतापूर्वक त्यागना

उत्तम है।

मूल—तए ण से सुवाहुकुमारे अण्णया कयाइं। चाउदसट्ठमुद्दिट्ठपुण्ण-
मासिणीसु जेणेव पोसहसाला तेणे व उवागच्छइ। उवागच्छित्ता
पोसहमाल पमज्जत्ति। पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमि पडिलेहेइ।
पडिलेहित्ता दब्भसथार सथरेइ। सथरित्ता दब्भसथार दुरूहइ।
दुरुहित्ता अट्ठमभत्त पगिण्हति। पगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए
अट्ठमभत्तिए पोसह पडिजागरमाणे विहरति।

अर्थात्—तदनन्तर किसी समय सुवाहुकुमार पौपधशाला मे गया। जाकर पौपधशाला का प्रमार्जन किया। प्रमार्जन करके (पूंज कर) मल-मूत्र त्यागने की जगह का प्रतिलेखन किया। फिर डाभ का आसन विछाया और आसन विछाकर उस पर वैठा। वैठकर अष्टमभक्त (तेला) का प्रत्याख्यान किया। प्रत्याख्यान करके पौपधशाला मे पौपधयुक्त होकर धर्म जागरण करता हुआ विचरने लगा।

पिछले समय की वर्त्तमान समय से तुलना करने पर आकाश-पाताल जितना अन्तर नजर आता है। प्राचीन काल का जीवन जितना स्वतन्त्र था, वर्तमान काल का उतना ही परतन्त्र है। पहले जमाने मे छोटे-मे-छोटा काम भी, जहाँ तक सम्भव हो, अपने ही हाथ से करने की तरफ विशेप ध्यान रखा जाता था परन्तु आज इस बात का खयाल रखा जाता है कि जहाँ तक हो सके अपना काम दूसरे से कराया जाय। पहले के लोग अपने हाथों से काम करने मे सुख और दूसरे से काम कराने मे दुख मानते थे।

समय की वलिहारी है कि जो मनुष्य धार्मिक कार्य करने में अपना गौरव मानते थे, उन्ही की सन्तान उन कामो को करने मे अपना अपमान मानती है।

सुवाहुकुमार के चरित्त-वर्णन से आपको पता चल जायगा कि

प्राचीन काल के महापुरुषों की जीवनचर्या किस प्रकार व्यतीत होती थी !

सुबाहुकुमार पौषध करने के लिए पौषधशाला मे गया। यतना के साथ पौषधशाला की प्रतिलेखना की। पश्चात् आवश्यक कार्य करके दर्भ (कुश) के बिछौने पर बैठकर आत्मध्यान करने लगा।

पौषधशाला किसे कहते हैं ? और उसकी आवश्यकता क्यो है ? यह विचार कर लेना आवश्यक है। जहाँ पौषध किया जाता है, उस स्थान को पौषधशाला कहते हैं। जैसे भोजन करने की जगह भोजनशाला, नाटक करने की जगह नाटकशाला, तथा पाठ करने की जगह पाठशाला कहलाती है, उसी प्रकार जहा बैठकर पौषध किया जाय उस स्थान को पौषधशाला कहते हैं।

पौषधशाला की आवश्यकता क्यो हुई ? जिस प्रकार भोजनशाला अलग होने से घर की व्यवस्था ठीक रहती है और काम अच्छा होता है, उसी प्रकार ईश्वरचिन्तन मे हल्ला-गुल्ला आदि के कारण बाधा न पडे, इसी उद्देश्य से पौषधशाला की व्यवस्था की गई है।

सुबाहुकुमार पौषधशाला मे जाकर विचार करता है कि कोई काम ऐसा तो नहीं हो रहा है, जो अभी तो अल्पारम्भमय प्रतीत होता हो, पर फिर महारम्भी प्रतीत होने लग जाय ?

सुबाहुकुमार को कितनी चिन्ता है ? क्या आपको भी इस प्रकार की चिन्ता होती है ? आप मे से बहुत से भाई छोटे-छोटे कामो की तरफ प्रारम्भ मे कुछ ध्यान नही देते, किन्तु जब वह महापाप-जनक मालूम होते हैं, तब कही उस ओर ध्यान दिया जाता है। उदाहरणार्थ—पौषधशाला मे पानी गिर रहा है। पर उस समय कुछ ध्यान न देकर जब लीलन-फूलन प्रकट हो जाय या घास के अकुर फूट निकले तब उन पर मिट्टी आदि डालकर उनसे बचने का उपाय किया जाय। इस प्रकार का काम क्या पुण्य का हुआ ?

इसका उपाय तो पहले ही करना चाहिए था, जिससे लीलन-फूलन की उत्पत्ति नही हो सके ।

सुबाहुकुमार अपने हाथो से पौषधशाला पूंजता है । अहा ! राजकुमार को कितना प्रेम है ! पूंजने का काम भी वह अपने हाथो करता है ।

कभी आपने भी इतनी मुस्तैदी से धर्मजागरणा की है ? कभी आपने पौषधशाला मे पूंजने का काम किया है ? आप क्यो करने लगे ? आपके यहाँ तो नौकर-चाकर हैं ! पौषधशाला पूंजने का काम किसी नौकर को सौंप कर आप निश्चिन्त हो गये हैं । कदाचित् पौषधशाला बडी हुई तो दो नौकर रख लिये । आपने छुट्टी पाई । जरा विचार तो कीजिये राजा-महाराजा जो काम अपने हाथ से करते है, उसे आप लोग नौकरो से करवाते हैं ! ऐसा कर के आप क्या उन राजा-महाराजाओ से भी बडे बन गये ? उनके पास धन कम था और आपके पास ज्यादा हो गया है ? आपको नौकर मिल जाते है, उन्हे नौकर नही मिलते थे ? अगर ऐसा नही है तो आप अपने ही हाथ से अपना काम करने मे क्यो लज्जित होते हैं ? क्या इस काम को छोटा समझकर इसे करने मे आप अपना अपमान समझते है ?

जरा ध्यान दीजिये, कृष्ण महाराज हाथी पर बैठे हुए थे । उन्हे ईंट उठाने मे लज्जा न आई । क्या उनके पास नौकरो की कमी थी ? नही, पर उन्होने दुनिया के सामने आदर्श खडा करने के लिये इतना तुच्छ काम भी, अपने हाथ मे किया, यद्यपि उनके साथ बडी फौज मौजूद थी । उनके जरा मे इशारे से ही काम हो सकता था, मगर ऐसा करने से आदर्श खडा न होता ।

सुबाहु के पास नौकरो की क्या कमी थी ? वह आज्ञा देकर नौकरो से काम करा सकते थे, किन्तु आज्ञा की जड़ काट डालने के लिये उन्होंने यह छोटा काम भी अपने हाथ से किया ।

छोटे-छोटे काम स्वय करने से अभिमान का नाश होता है। छोटे-छोटे काम करने वाले धर्म के भक्त गिने जाते हैं। आप धर्म के भक्त बनना चाहते हैं या धर्म के हाकिम ? अगर आप भक्त बनना चाहते हैं तो ठकुराई को जरा ढीली कर दीजिये।

पौषधशाला मे अन्दरूनी स्वच्छता के साथ बाहरी स्वच्छता का भी ध्यान रखना चाहिये। पौषधशाला के आस-पास अशुचि पदार्थ न पडे रहें, यह देखना आवश्यक है। अशुचि पदार्थों के सामीप्य से ध्यान मे एकाग्रता नही आती। चित्त चचल रहता है। ध्यान की एकाग्रता के लिए शुद्धि की आवश्यकता समझनी चाहिए।

पौषधशाला के आस-पास स्त्री और पशु आदि नही रहने चाहिए। यह भी ध्यान भग करने वाले गिने गये हैं।

सुबाहुकुमार तेले का प्रत्याख्यान लेकर कुश के आसन पर बैठकर ध्यान करने लगे। कुश-दर्भ या डाभ को कहते हैं। एक राजकुमार डाभ के आसन पर बैठे, यह कितने आश्चर्य की बात है ? क्या आप लोग कभी घास के बिछौने पर बैठे हैं ? आपको मखमल, रेशम और नरम ऊन के बैठके और बिस्तर मिलते हैं। उनके पास यह सब कहाँ रखा था ? आपके पास गलीचे हैं, उन्होने वह शायद देखे ही न होगे ! भाइयो ! क्या कारण था कि उन्होने रेशम और मखमल को छोडकर घास का बिछौना अगीकार किया ? इसमे बडा ही गूढ रहस्य है। कुश के आसन का उल्लेख गीता मे भी मिलता है। कुश के आसन पर बैठने से प्रथम तो अभिमान नहीं होता, दूसरे उसमे ऐसा गुण बतलाया जाता है कि उससे टकराकर जो हवा फैलती है, उससे योग-साधन मे बडी सहायता मिलती है।

सुबाहु कुशासन पर बैठकर आत्मध्यान मे लीन हो गया। वह तत्त्वमसि का ध्यान करने लगा। अर्थात् हे आत्मन् ! तू ही परमेश्वर है। तात्पर्य यह है कि तू है सो ईश्वर है और ईश्वर

है सो तू है ।

जगत् मे असत्य और सत्य दोनो है । सत्य कल्याणकारी और असत्य चक्कर मे डालने वाला है । इन दोनो का भेद समझ कर भी जो असत्य का त्याग और सत्य को अगीकार नही करता उसे महामूर्ख समझना चाहिये ।

जो लोग सत्य मे भय और असत्य मे सुख मानते हैं, वे भ्रम मे हैं । उनकी यह आदत निर्बलता के कारण पड गई है । बदर को पीजरे मे बन्द कर देने से उसे अटपटा लगता है, उसी प्रकार चचल-चित्त पुरुष को सत्य-मार्ग का अवलम्बन करना अटपटा मालूम होता है । उन्हे असत्य मार्ग पर चलने का अभ्यास हो गया है । वे उस मार्ग के व्यसनी हैं । जैसे अफीमची को अफीम छोडने मे बडी दिक्कत मालूम होती है, उसी प्रकार असत्य के अभ्यासियो को असत्य का त्याग करना कष्टमय मालूम होता है ।

अफीम खाना आरम्भ करने वाले ने शुरू मे सोचा था—मैं इससे बल प्राप्त करूँगा और इसके अधीन नही होऊँगा । पर ऐसा नही हुआ । अफीम ने उसका बल हर लिया और उसे अपने चगुल मे फाँस लिया । अब अफीमची को अफीम के बिना ससार सूना नजर आता है । अफीम के अभाव मे हाथों-पैरो की नसें टूटी हुई सी मालूम होती है ।

व्यसनी चाहे तो अपना व्यसन धीरे-धीरे भी बिल्कुल छोड सकता है । वह अपनी खोई हुई शक्ति और स्वाधीनता पुन प्राप्त कर सकता है । मनुष्य की सकल्प-शक्ति मे अद्भुत क्षमता है । जो आत्मा अपने सामर्थ्य से परमेश्वर बन सकता है, अनादिकालीन सस्कारो-कर्मो से छुटकारा प्राप्त कर सकता है, वह क्या अफीम जैसी साधारण वस्तु से मुक्ति नहीं पा सकता ? क्यो नहीं पा सकता, मगर छुटकारा पाने की तमन्ना जागे तभी । अपने भावना-बल का उपयोग करे तो वही सभी कुछ छोड सकता है । इसी प्रकार असत्य

का अवलम्बन करने वाला चाहे तो उसे छोडकर सत्य का अवलंबी बन सकता है ।

असत्य वस्तु से कभी शान्ति नहीं मिलती । सत्य का सहारा लेने से ही शान्ति नसीब होती है । असत्य को स्वीकार करने वाले ने अफीमची की तरह सोचा था कि मैं इसे नियन्त्रित रखूंगा, पर ऐसा न हो सका । असत्य ने उसे ऐसा जकड लिया कि निकलना कठिन हो गया । जो असत्य की गुलामी मे रहना नही चाहता उसे उद्योग करना चाहिये । विश्व मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जो उद्योग के द्वारा प्राप्त न की जा सकती हो ।

सुबाहुकुमार असत्य को त्याग कर सत्य की उपासना मे लीन हो गया । सत्यधर्म को स्वीकार कर ईश्वर-ध्यान मे वह ऐसा लीन हो गया कि ससार के सब सुख उसे तुच्छ दिखाई देने लगे । इस अवस्था का आनन्द कैसा अद्‌भुत, अलौकिक, अनुपम और अनिर्वच-नीय है, यह तो अनुभवी ही जानता है, मगर वह भी वाणी मे कह नही सकता । पुस्तको को पढकर विद्वान् पुरुष जो आनन्द लाभ करता है, वह अनपढ कैसे समझ सकता है ।

मिठाई का स्वाद बच्चा भी ले सकता है और बूढा भी ले सकता है । ससार के भोग भी इसी प्रकार के है । हरेक ग्रहण करके इनका आस्वाद ले सकता है । परन्तु पुस्तक का आनन्द जैसे विद्वान ले सकता है अपढ नही, इस प्रकार ईश्वर-चिन्तन का अलौकिक सुख अभ्यासी ही ले सकता है, दूसरा नही ।

ईश्वर-चिन्तन का सुख निराला है । ससार का कोई भी सुख उसकी बराबरी नही कर सकता । धर्मशास्त्रो मे बडे ही मनो-हर शब्दो मे उसका वर्णन किया गया है । मगर भाषा कभी परि-पूर्ण अनुभव को व्यक्त नही कर पाती । वास्तव मे ईश्वर-चिन्तन-ध्यान सभी दुःखों का नाश करने वाला है ।

सुबाहुकुमार ध्यान मे बैठा विचार करता है । वह अपने

वर्तमान जीवन के साथ पूर्व-जीवन की तुलना कर रहा है। मन ही मन कहता है—अहा! कहाँ यहाँ यह धर्ममय सुखकर जीवन और कहाँ वह भोग-जीवन! आकाश और पाताल का अन्तर! मैं पहले भोग मे सुख मानता था, अब भोग रोग के रूप मे दिखाई देते हैं। भोगो मे वास्तविक सुख नही था, वास्तविक सुख तो धर्म मे है। धर्महीन जीवन वृथा है।

सुबाहु की ओर ध्यान दीजिये। वह कहता है—धर्महीन जीवन वृथा है। बात एकदम सत्य है। धर्म के बिना मनुष्य की वास्तविक कद्र नही होती। जैसे सुगन्ध के बिना फूलो की और पानी के बिना मोतियो की कीमत नही होती, उसी प्रकार धर्म के बिना मनुष्य का मूल्य नही।



१९ : सुबाहु का नूतन सत्संकल्प

मूल—तए ण तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने — धन्ना ण ते गामागर-णगर-जाव सन्निवेसा जत्थ ण समणे भगव महावीरे जाव विहरइ । धन्ना ण ते राई-सर-तलवर । जे ण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पचाणुव्वइय जाव गिहिधम्म पडिवज्जति । धन्ना ण ते राई-सर० जाव जे ण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्म सुणेति । त जइ ण समणे भगव महावीरे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगाम दूइज्जमाणे इहमागच्छिज्जा जाव विहरिज्ज, तए ण अह समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वएज्जा ।

अर्थात्—तत्पश्चात् सुबाहुकुमार को आधी रात के समय धर्मजागरण करते हुये इस प्रकार का यह विचार उत्पन्न हुआ —

धन्य हैं वह ग्राम, आकर, नगर यावत् सन्निवेश, जहाँ श्रमण भगवान महावीर यावत् विचरते हैं । धन्य हैं वह राजा, राजकुमार तलवर आदि जो श्रमण भगवान महावीर के निकट मुंडित होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं । धन्य हैं वह राजा, राजकुमार और तलवर आदि, जो श्रमण भगवान महावीर के निकट पंच अणुव्रत यावत् बारह प्रकार का गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं । धन्य हैं वह राजा और राजकुमार आदि, जो श्रमण भगवान महावीर के निकट धर्म-श्रवण करते हैं । यदि श्रमण भगवान महावीर अनुक्रम से चलते हुए, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यहाँ पधारें यावत् विचरें तो मैं श्रमण भगवान महावीर के निकट मुंडित होकर यावत् दीक्षा

धारण करूँ ।

धर्म-जागरण करते हुये सुवाहुकुमार ने सोचा—धन्य है वह भूमि और वह क्षेत्र, जहाँ श्री महावीर विराजते हैं ।

यहाँ यह विचारणीय है कि सुवाहु ने उस भूमि और क्षेत्र को धन्यवाद क्यो दिया ? धन्यवाद इसलिए दिया कि वह भूमि उसका कल्याण करने वाली थी । उसी भूमि पर धर्म का उपदेश होता था । कल्याणकारिणी भूमि को धन्यवाद देना ही चाहिए ।

अमेरिका के डाक्टर थोअर ने भारतवर्ष के वेदान्त विषय का भलीभाँति अध्ययन किया था । उन्हे आध्यात्मिक विषयो से वहुत प्रेम था । वह एक दिन अपने शिष्यो के साथ जगल मे घूम रहे थे । शिष्य ने प्रश्न किया—दुनिया की सबसे अच्छी भूमि कौनसी है ? डाक्टर थोअर ने उत्तर दिया—सबसे उत्तम भूमि वही है, जिस पर हम लोग दो पैर रख कर खडे रहे ।

शिष्य इस उत्तर से वहुत चकराया । उसने सोचा—मैंने सुना है कि जहाँ सुन्दर महलो जैसे मकान खडे हो और सुन्दर सडकें हो, जहाँ विलास की समस्त सामग्री सुलभ हो, वही अच्छी भूमि कहलाती है और ऊची-नीची, खड्डे वाली जमीन खराब मानी जाती है । मगर डाक्टर साहब कहते हैं—ऐसा नही । जिस भूमि पर तुम खडे हो वही उत्तम भूमि है और दूसरी समस्त भूमि चाहे वह कैसी ही हो, दूसरे के लिए कितनी ही अच्छी हो, तुम्हारे लिए किसी काम की नही। जैसे तुम्हारे लिए तुम्हारा ही शरीर लाभदायक हो सकता है, वैसा दूसरे का नही । अपनी चीज सब को प्यारी होती है । चींटी से कहा जाय कि तू अपना शरीर छोडकर चक्रवर्ती का शरीर धारण कर ले तो वह स्वीकार नही करेगी ।

जिस शरीर से आत्मा को आनन्द की उपलब्धि हो, वही वड़ा है । उसके सिवाय और सब तुच्छ हैं । आँख से रत्न देखा

जाता है और रत्न की कीमत लाख रुपया है । बताइए, रत्न बड़ा या आँख बड़ी ? आँख, क्योंकि आँख के अभाव से रत्न नहीं देखा जा सकता ।

सुबाहुकुमार ने महावीर भगवान के उपदेश का सन्मान किया था, अतएव जहाँ उनका उपदेश होता था, वही क्षेत्र उसके लिए धन्यवाद के योग्य था । उस क्षेत्र के सामने स्वर्ग भी उसके लिये तुच्छ था ।

सुबाहुकुमार महापुरुष था । जिसके प्रति उसकी भक्ति थी, उसी को उसने धन्यवाद दिया । उसने स्वर्ग को धन्यवाद नही दिया । उसे वही क्षेत्र कल्याणकारी जँचा ।

अमेरिका या पैरिस लोगो की दृष्टि मे कितने ही सम्पन्न और सौन्दर्यशाली क्यो न हो हमारे लिए भारतवर्ष ही सर्वोत्तम है । यह भूमि स्वर्ग से भी गरीयसी है । इसी भूमि मे हमारा रक्षण हुआ है, पालन-पोषण हुआ है । यही भूमि हमारा कल्याण करेगी । हमे, उसी भूमि की चाह होनी चाहिए जहाँ शान्तिपूर्वक प्रभु का ध्यान हो सके । हमे मोक्ष की भी आकाक्षा नही होनी चाहिये । प्रभु का ध्यान करने से मोक्ष तो आप ही हमारे स्वागत के लिए तैयार रहेगा । यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति । मोक्ष वही पाता है, जिसमे मोक्ष की भी आकांक्षा नही रहती ।

एक उदाहरण से आशय स्पष्ट हो जायगा । वह इस प्रकार है—एक वार इन्द्र विमान लेकर व्रजभूमि पर आया । उसने गोपियो से कहा—मैं तुम्हें वैकुंठ—स्वर्ग मे ले चलने के लिए आया हूँ । इस विमान पर बैठकर चलो और वहाँ का सुख भोगो ।

गोपियो ने उत्तर दिया—

व्रज व्हालुँ अमने वैकुंठ नथी थाववुँ ।
त्यॉं नन्दनो लाल क्यांथी लाववुँ ।
व्रज व्हालुँ ॥

अहा ! इन शब्दो मे कितना मर्म भरा है ? गोपियाँ इन्द्र से कहती हैं—हमे तुम्हारे वैकुंठ की परवाह नही है । तुम्हारा स्वर्ग तुम्ही को मुबारिक हो ।

आश्चर्य के साथ इन्द्र ने कहा—ऐं क्या कहती हो तुम ?

गोपियाँ—तुम्हारा स्वर्ग हमे नही चाहिए ।

इन्द्र—क्यो ? तुम्हे यहाँ क्या सुख है ? दिन भर गौएँ चराती हो और छाछ रोटी खाती हो । स्वर्ग मे सभी प्रकार का सुख है । स्वर्ग-सुख के लिए लोग तो वडी-वडी तपस्याएँ करते हैं, भजन करते हैं । तुम्हे मुफ्त मे मिल रहा है । तुम वडी ही अभागिनी गिनी जाओगी, अगर स्वर्ग के सुख को ग्रहण न करोगी ।

गोपियाँ—जरा यह तो वताओ कि वडी-वडी तपस्या करने वालो को तो तुम स्वर्ग नही देते और जिन्हे इच्छा नही है, उन्हें देने आये हो, सो इसका कारण क्या है ?

इन्द्र—तुम मे भक्ति है, इसलिए ।

गोपियाँ—किसकी भक्ति है ?

इन्द्र—कृष्ण की ।

गोपियाँ—कृष्ण कहाँ है ?

इन्द्र—व्रज मे, वृन्दावन मे ।

गोपियाँ—कृष्ण व्रज मे है और हम कृष्ण की भक्ति करती हैं । तव स्वर्ग जाकर क्या करेंगी ? वहाँ कृष्ण हैं ।

इन्द्र—नही, कृष्ण वहाँ कहाँ से आये ?

गोपियाँ—तो व्रज के सामने तुम्हारा स्वर्ग तुच्छ है ।

इन्द्र इस उत्तर से दग रह गया । गोपियो को कृष्ण की भक्ति के कारण स्वर्ग तुच्छ और व्रज महान् मालूम होता है ।

पुराणो मे कृष्ण का चरित आलंकारिक भाषा मे वर्णन किया गया है । उसमे कूट-कूट कर आध्यात्मिक विषय भरा है । मगर अज्ञान लोगो ने उसे श्रृंगार का रूप दे दिया है । कृष्ण के असली

चरित को समझने वाले बहुत थोडे हैं ।

कृष्ण का चरित महान है । इस चरित को आध्यात्मिक विषय मे उतारने से यह अतीव आनन्द-प्रद बन जाता है ।

आप मे से बहुत से भाई कृष्ण का अर्थ समझते हैं—गोपियो के साथ स्वच्छन्द क्रीडा करने वाला पुरुष । खेद ! पुरुषोत्तम कृष्ण के लिए ऐसे शब्दो का प्रयोग करने वालो को लज्जा क्यो नही आती ! कृष्ण का चरित आध्यात्मिक दृष्टि से तो महान् है ही, मगर व्यावहारिक दृष्टि से भी कम महान् नही है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण का अर्थ कर्म का क्षय करने वाला—आत्मज्योति प्रकट करने वाला है । गोपी का अर्थ गोपन करने वाली अर्थात् रक्षण करने वाली बुद्धि है । किस प्रकार ? गौओ को पालकर अर्थात् इन्द्रियो को ठीक रास्ते पर लाकर ।

भीतरी अर्थ को न समझकर अज्ञान लोगो ने कुछ और ही अर्थ लगा लिया है । इसी तरह व्रज का अर्थ है—जिसमें रहकर आत्मा मे तल्लीन हो सकें, अर्थात् यह शरीर ।

इस शरीररूपी व्रज मे रहकर गोपियाँ कृष्ण-आत्मा की भक्ति कर रही हैं । वे इस भक्ति मे इतनी लीन है कि स्वर्ग-सुख भी उन्हे तुच्छ प्रतीत होता है ।

अर्जुन, श्रीकृष्ण से पूछता है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमश्नीयात् व्रजेत् किम ॥

—गीता, अ० २, श्लो० ५४

अर्थात्—हे केशव ! आत्मरमण मे लीन रहने वाले पुरुष का लक्षण क्या है ? वह ज्ञानी पुरुष संभाषण आदि लोक-व्यवहार में किस प्रकार प्रवृत्त होता है ।

श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! जब कोई पुरुष अपने मन मे उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओ को छोडकर अपने स्वरूप मे ही आप सन्तुष्ट हो जाता है—आत्माराम बन जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

कृष्ण ने आत्म-रमण करने वाले पुरुष का स्वरूप कितना स्पष्ट बतलाया है ? ऐसे महान पुरुष को जो लोग व्यभिचारी कहते हैं, कामी बतलाते हैं, उन्हे क्या कहा जाय ? कृष्ण के मार्मिक विचारो को गहरे उतर कर समझो । चाहे आप जैन हो या वैष्णव, कृष्ण को ऊपरी दृष्टि से मत देखो ।

मर्यादा पुरुष कृष्ण को धूर्त लोगो ने व्यभिचारी, कामी, गोपियो के साथ विलास करने वाला बतलाकर अपनी ठग-विद्या खूब चलाई है । उन्होने अर्थ का अनर्थ करके अपना मौज-शौक पूरा करने की धृष्टता की है । प्रजहति यदा कामान्—कहने वाला कृष्ण कभी व्यभिचारी हो सकता है !

गोपियाँ श्रीकृष्ण की भक्ति मे तन्मय थी । वे कृष्ण की भक्ति मे ऐसी डूबी थी कि स्वर्ग भी उन्हे तुच्छ मालूम होता था । वे स्वर्ग-सुख को ठोकर मारती थी । उन्हे अपना व्रज ही प्यारा लगता था ।

मित्रो ! क्या आप भी प्रभु की भक्ति इसी प्रकार करोगे ? जो प्रभु-भक्ति मे लीन हो जाता है वह हँसता हुआ शूली पर चढ जाता है । उसे शूली मे भी आनन्द का अनुभव होता है । भक्ति सस्ती चीज नही । दमडी-दमडी के लिए हाथ फैलाने वालो से भक्ति नही होती । छोकरा-छोकरी के लिए रामदेवजी के आगे मस्तक रगडने वाले भक्ति का मर्म नही समझ सकते । ईश्वर-भक्त निराला ही होता है —

दुःखेष्वनुद्विग्नमना. सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

—गीता, अ० २, श्लो० ५६

दुःख आ पडने पर जो घबराता नही है और सुखो मे आसक्त नही होता, जो वीतराग बन गया है, भय और क्रोध को भी जिसने जीत लिया है, वह ईश्वरनिष्ठ और आत्मनिष्ठ अथवा स्थितिप्रज्ञ कहलाता है ।

छोकरा-छोकरी के लिये हाथ फैलाने वालो मे यह गुण सम्भव है ? जो मनुष्य ऐसे तुच्छ कामो के लिए हाय-हाय करते फिरते हैं, उन्हें कौन स्थितप्रज्ञ कहेगा ? ऐसी मोहमयी भावना रखने वाले स्वर्ग को ठोकर मार सकते हैं ।

भाइयो, यह आपकी कसौटी है । इस कसौटी पर खरे उतरने से ही आप सच्चे सम्यग्दृष्टि बन सकते हो । ईश्वर-भक्त कभी हाय-हाय नही करता । वह ससार की तमाम वस्तुओ को तुच्छ मानता है । उसे सिर्फ प्रभु के चरणो की भक्ति चाहिए । इसके सिवाय वह कुछ भी नहीं मांगता । जैनसिद्धान्त आपको यही शिक्षा देता है ।

याद रखो, सुख की भीख माँगने वाले को सुख नही मिलता । सुख का इच्छा-पूर्वक त्याग करने वाले ही सुख के पात्र होते हैं । आप समझते हैं—सुख का त्याग करने से हम सुख से वंचित हो जाएँगे । यह समझ ही सच्चे सुख से वचित करती है । सुख का दान करने वाले के पास सुख भागा आता है ।

सुबाहुकुमार ने कोमल शय्या का सुख त्याग कर डाभ का आसन अंगीकार किया । सुस्वादु आहार का सुख त्याग कर अष्टम भक्त धारण किया । उसे ध्यान मे लीन हुये आज तीन दिन हो गये । वह अवर्णनीय आनन्द का अनुभव कर रहा है । ध्यान का आनन्द बहुत अनुभवी ही समझ सकता है । जिन्होने ध्यान का अभ्यास ही नही किया, उन्हें यह कष्टदायक प्रतीत होता है ।

सुवाहुकुमार ने सर्वप्रथम उन क्षेत्रो को—ग्रामो को—धन्यवाद दिया, जहाँ श्री महावीर प्रभु विचर रहे हैं। क्षेत्रो को धन्यवाद देने से उनमे रहने वालो को भी धन्यवाद दिया गया है। उसने राजा, मन्त्री, सेनापति आदि को भी धन्यवाद दिया, जिन्होने भगवान की पवित्र वाणी सुनकर अपने आत्मा के सर्वोतम कल्याण के लिए मुनि-दीक्षा धारण की अथवा श्रावक व्रत धारण किये हैं। यही नही, जिन्होंने व्रत धारण न करके भक्ति-भाव से, श्रद्धापूर्वक सिर्फ उपदेश सुना, उन्हें भी उसने धन्यवाद दिया।

धर्मोपदेश सुनने वालो को धन्यवाद देने का आशय आप क्या समझते है ? धर्म किसी खास समूह, जाति या वर्ग की वस्तु नही है। धर्म किसी के ठेके मे नही है। सब को धर्म-श्रवण करने का समान अधिकार है। कई भाई कहते हैं—दूसरे लोग हमारे धर्म का उपदेश सुनने क्यो आवें ? अन्त्यज धर्म सुनकर क्या करेंगे ? इन भाइयो ने अभी तक धर्म का अर्थ नही समझा। समझने वाला ऐसी बात नहीं कह सकता।

सुवाहुकुमार ने धर्म सुनने वालो को धन्य माना है। यह बात याद रखकर आप कभी किसी को धिक्कार न दें। धर्मश्रवण के लिये चाहे ढेड आवे, चमार आवे, महतर आवे या और कोई आवे, आप सब को प्रेमपूर्वक आश्वासन दें। आप ऐसा करेंगे तो धर्म की बहुत उन्नति होगी।

भगवान महावीर के निकट सब प्रकार के मनुष्य धर्म सुनने के लिये आते थे। धर्म सुनने का अधिकार मनुष्यो को तो क्या, जानवरो को भी है। भगवान के समवसरण मे सिंह और सर्प भी उनकी पावन वाणी सुनकर अपने को धन्य-धन्य समझते थे।

सुवाहुकुमार की धार्मिक वृत्ति बढती-बढती यहाँ तक बढ गई कि उसे भगवान् के समीप दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा हुई। कैसा पवित्र विचार है ? सुवाहु ने राजपाट त्यागने का विचार कर लिया।

मन मे सयम धारण करने की प्रबल इच्छा जाग उठी। उसका अभिमान गल गया। मन मे अपूर्व शान्ति का झरना वहने लगा। उसने ससार के पदार्थों की अस्थिरता पर विचार किया। अन्त मे वह इसी निश्चय पर पहुचा—कि ससार के सब पदार्थ निस्सार हैं। इनमे से अन्त समय साथ देने वाला एक भी नही है। यह सुन्दर शरीर भी साथ देने वाला नही है, तो और कोई क्या साथ देगा! साथ देने वाला तो केवल धर्म ही है आत्मा, अन्नतकाल से इस ससार मे भटक रहा है—इन सासारिक पदार्थों पर मोहित हो रहा है—परन्तु इन सांसारिक पदार्थों से आत्मा का जरा भी उपकार नहीं हुआ, हानि अवश्य हुई। इन पदार्थों मे उलझे रहने और पाप करते रहने के कारण, यह आत्मा वार-वार ऐसे शरीरो मे जन्मता-मरता रहा कि जो अपूर्णांग थे और जिनसे धर्म का पूरी तरह पालन नही हो सकता था।

मनुष्य–शरीर पूर्णांगी है। ऐसा पूर्णांगी और कोई शरीर नही है। दूसरे शरीर मे यदि वोलने की शक्ति है, तो देखने की नही है, देखने की है, तो सुनने की नही है, सुनने की है, तो सूंघने की नही है और सूघने की शक्ति भी है, तो अच्छे-वुरे की पहिचान नही है। हाथ हैं तो पैर नही, पैर है तो कान नही, कान हैं तो नाक नही, और ये सव-कुछ हैं, तो मनुष्य की सी वुद्धि नही है। मतलव यह कि मनुष्य-शरीर सी विशेषताएँ दूसरे किसी शरीर मे नही है। इस-लिए मनुष्य-शरीर पूर्णांगी कहलाता है।

सुवाहुकुमार विचारता है कि इस भव मे यह पूर्णांगी मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीर के प्राप्त होने पर भी यदि मैं जन्म-मरण के दुख से छूटने का उपाय न करूँगा तो फिर कव करूँगा! इसका होना तभी सार्थक है, जव इसके द्वारा ऐसा धर्म लाभ करूँ, कि इस आत्मा को फिर ससार मे जन्मना–मरना न पडे। लेकिन यह तभी सम्भव है, जव आरम्भपरिग्रह को पूरी तरह त्याग कर मुनि-

वृति धारण करूँ, यानी मुनि हो जाऊँ ।

आज मैं जिन सासारिक सुखो को अपना जानकर उनमे लिपट रहा हूँ, वास्तव मे वे मेरे मित्र नही, किन्तु शत्रु है । वे मुझको लाभ पहुँचाने वाले नहीं, किन्तु हानि पहुँचाने वाले है । अनन्तकाल से मैं इनको अपना समझकर धोखा खा रहा हूँ । अब इस बात को समझकर भी इन्ही मे लिपटे रहना बुद्धिमानी नहीं है । वे सासारिक पदार्थ—जिन्हे मैं अपना समझ रहा हूँ—एक दिन निश्चय ही छूट जाएँगे । मैं चाहे इनको चाहता ही रहूँ, परन्तु ये तो मुझे छोड ही देंगे। जिस समय ये मुझे छोड देंगे, तब मुझे दुःख होगा, इसलिए मैं ही इनको क्यो न त्याग दूं ! अनिच्छा-पूर्वक छूटने का दुःख क्यो सहूँ ! इच्छा-पूर्वक ही क्यो न छोड दूं । जब मैं स्वय ही इनको छोड दूंगा, तो मुझे दुःख भी न होगा और मेरा कल्याण भी होगा । इसलिए यही उत्तम है कि मैं इन सब को त्यागकर दीक्षा ले लूं । कहा है—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया ।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून ॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनस ।
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥ भर्तृ० वै० श०

अर्थात्—बहुत काल मे ग्रहण किये हुये विषयो को त्यागने मे मनुष्य स्वय चाहे समर्थ न हो, लेकिन ये विषय छूटकर अवश्य ही जावेंगे । परन्तु इस दोनो प्रकार के वियोग मे क्या अन्तर है ? यही कि यदि विषयो ने अपनी स्वतन्त्रता से छोडा तो जिसे विषयों ने छोड़ा है उसे महान दुःख होगा और यदि विषयो को स्वय ही त्याग दिया, तो विषयों को त्यागने वाला अनन्त शान्ति तथा सुख का अनुभव करेगा ।

सुबाहुकुमार ने भगवान, महावीर के हस्तिशिखर नगर में पधारने पर दीक्षा लेने का विचार किया । इस पर से प्रश्न होता है कि सुबाहुकुमार भगवान महावीर के पास ही क्यो न चला

गया ? या एक प्रार्थना-पत्र ही क्यो न भेज दिया कि आप पधा-रिये, मैं दीक्षा लूंगा ।

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है कि एक तो सुबाहु-कुमार यह देखना चाहता है कि मैं दीक्षा के योग्य हूं या नहीं ! क्योंकि भगवान सर्वज्ञ हैं । अत यदि वे मेरी इच्छा पर पधार गये, तो मैं समझ लूंगा कि मैं दीक्षा के योग्य हूं । यदि मैं दीक्षा के योग्य न होऊंगा, तो भगवान न पधारेंगे । दूसरे सुबाहुकुमार यदि हस्तिशिखर नगर मे दीक्षा लेगा, तो उसके दीक्षित होने से दीक्षा का महत्त्व बढेगा । हस्तिशिखर नगर मे सुबाहुकुमार को सब जानते हैं और सब को यह भी मालूम है कि सुबाहुकुमार राजकु-मार है । राज्य त्याग कर दीक्षा लेने का प्रभाव लोगों पर भी बिना पडे नही रह सकता । दीक्षा तो वह भगवान महावीर के पास जाकर भी ले सकता था, परन्तु वहाँ जाकर दीक्षा लेने से दीक्षा का उतना महत्त्व न बढता जितना महत्त्व हस्तिशिखर नगर मे दीक्षा लेने से बढा । क्योकि दूसरी जगह उसको जानने वाले नही है । दूसरी जगह इसका परिचय देने की आवश्यकता होती, परन्तु हस्ति-शिखर नगर मे इसे सब जानते हैं इसमे इसका परिचय देने की आवश्यकता नही हैं ।

रही बात प्रार्थना-पत्र भेजने की । लेकिन सुबाहुकुमार को यह मालूम है कि भगवान सर्वज्ञ से आत्मा द्वारा प्रार्थना भेजना उनकी सर्वज्ञता का अपमान करना है । कागज या सन्देश द्वारा प्रार्थना भेजने की आवश्यकता छद्मस्थ के ही लिये है, सर्वज्ञ के पास इस प्रकार से प्रार्थना भेजने की आवश्यकता नही है । इन्ही कारणो से सुबाहुकुमार आप भी भगवान के पास नही गया, न प्रार्थना-पत्र ही भेजा ।

सुबाहुकुमार ने दूर और समीप की वस्तुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध विचार कर, अन्त मे यही निश्चय किया की आत्मा

का वास्तविक सहायक कोई पदार्थ नही है, केवल धर्म ही वास्तविक सहायक है । इसलिये इन सब को छोडकर मैं धर्म ही को पूरी तरह अपनाऊँगा और अपना तन-मन उसकी सेवा मे लगा दूंगा । अर्थात्—भगवान के यहाँ पधारने पर दीक्षा लेकर मुनि बनूंगा ।

दीक्षा लेने का अर्थ है, अपने शरीर को परोपकार के लिये समर्पण कर देना ।

परोपकाराय सतां विभूतय' ।

अर्थात्—सज्जनो की सम्पत्ति परोपकार के लिये ही होती है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि दीक्षा लेकर मुनि बनने वाले लोग क्या परोपकार करते हैं ? वे न तो किसी को धन देते हैं, न भोजन देते हैं और न कोई दूसरी ही सहायता करते हैं । ऐसी दशा मे दीक्षा लेने वाले अपने तन-मन को परोपकार के लिये समर्पण कर देते हैं, यह कैसे कहा जा सकता है ?

परोपकार दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है । एक अस्थायी और दूसरा स्थायी । अर्थात् एक तो थोडी देर के लिये किसी की कोई सहायता करना और एक सदा के लिये सहायता करना । धन, भोजन आदि देकर जो परोपकार किया जाता है, वह स्थायी नही किन्तु थोडी देर के लिये—अधिक-से-अधिक उसके जीवन भर के लिये होता है । महात्मा लोग, ऐसा अस्थायी उपकार नही करते किन्तु वह उपकार करते है, जिससे इस लोक मे भी लाभ होता है और परलोक मे भी । महात्माओ द्वारा किया गया उपकार किसी को वस्तु देने के उपकार के समान नही होता, किन्तु वस्तु-निर्माण की विधि बता देने के समान होता है । वस्तु देकर किये गये उपकार का लाभ तभी तक है, जब तक कि उस वस्तु का नाश नही होता है, लेकिन वस्तु-निर्माण की विधि बता कर किया गया उपकार जीवन भर के लिये लाभदाता है । यद्यपि

विधि वताने मे पदार्थ तो कोई नही दिया गया, फिर भी पदार्थ देने के उपकार से, पदार्थ-निर्माण की विधि वताने का उपकार कहीं वहुत ज्यादा है। पदार्थ देने और पदार्थ-निर्माण की विधि वताने के उपकार में कितना अन्तर है, यह वताने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक मनुष्य ने एक सिद्ध की सेवा करके उसे प्रसन्न किया। सिद्ध ने प्रसन्न होकर उस मनुष्य से कहा, कि मेरे पास एक कुभ-कलश भी है और कुम्भकलश वनाने की विधि भी मैं जानता हूँ। कुम्भकलश मे यह गुण है कि किसी भी वस्तु की इच्छा करने पर वह वस्तु उस कुम्भकलश से उसी समय प्राप्त हो जाएगी और कुम्भकलश वनाने की विधि जानने पर जव चाहो तभी कुम्भकलश वन सकता है। यदि तुम चाहो तो मुझ से कुम्भकलश ले सकते हो और यदि चाहो तो कुम्भकलश के निर्माण की विधि सीख सकते हो।

सिद्ध की वात सुनकर सिद्ध के सेवक ने विचार किया कि प्रत्यक्ष लाभ को छोडकर अप्रत्यक्ष लाभ के पीछे दौडना मूर्खता है। कुम्भकलश से तो मैं अभी लाभ उठा सकता हूँ परन्तु कुम्भकलश वनाने की विधि सीखने पर अभी लाभ नही उठा सकता। इसके सिवा क्या ठीक है कि उस विधि से कुम्भकलश वन ही जावेंगे। इसलिये यही उत्तम है कि मैं सिद्ध के पास वाला कुम्भकलश ले लू।

इस प्रकार विचार कर उसने सिद्ध से कुम्भकलश ले लिया और प्रसन्न मन घर को आया। घर आकर उसने अपने सव कुटु-म्बियो से कह दिया कि अव अपने को न तो कोई काम करने की ही आवश्यकता है, न चिन्ता करने की ही। इस कुम्भकलश से जो वस्तु चाहेंगे, यह वही वस्तु देगा। इसलिये अव कोई काम मत करो और जो कुछ चाहिए, इस कुम्भकलश से मांगकर आनन्द उडाओ।

कुटुम्व के सभी लोग कुम्भकलश के आश्रित हो गये। उन्होने खेती-वाडी, पीसना-कूटना वाणिज्य-व्यापार आदि सब कुछ छोड दिया। सभी लोग अकर्मण्य वनकर उस कुम्भकलश से माँग-माँग कर खाने लगे और इस प्रकार के जीवन को आनन्द का जीवन मानने लगे। कुम्भकलश से वे जो कुछ चाहते, कुम्भकलश उन्हें वही वस्तु देता।

एक दिन सवने उस कुम्भकलश से अच्छी-से-अच्छी मदिरा माँगी। कुम्भकलश से मिली हुई मदिरा को सव लोगो ने खूब पिया और उसके नशे मे मस्त बन गये। फिर उस कुम्भकलश को एक आदमी ने सिर पर रखकर सव लोग नाचने लगे। शराव मे मस्त होने कारण उस समय उन लोगो को त्रैलोक्य की भी पर्वाह नही थी, तो कुम्भकलश की पर्वाह वे क्यो करने लगे थे! कुम्भ-कलश को सिर पर रखकर उपेक्षापूर्वक नाचने और आपस मे धौल-धप्पे करने से कुम्भकलश सिर पर से गिरकर फूट गया। कुम्भ-कलश के फूटते ही उन लोगो का नशा भी उतर गया। जिस कुम्भकलश की कृपा से अव तक कार्य चल रहा था, वह तो नष्ट हो गया और जिन उपायो से कुम्भकलश मिलने के पहले जीवन-निर्वाह होता था, उन्हे वे लोग भूल गये थे तथा उनके साधन भी नष्ट हो गये थे, इसलिये वे सव लोग एक साथ ही कष्ट मे पड गये।

मतलव यह कि जो कुम्भकलश फूट गया है, उसके वनाने की विधि यदि उन लोगो मे से किसी को मालूम होती तो उन लोगो को कष्ट मे न पडना पडता। इसलिये पदार्थ देकर सुख देने की अपेक्षा, सुख प्राप्ति का उपाय वताना वहुत वडा उपकार है। साधु लोग यही उपकार करते हैं। वे पदार्थ द्वारा सुख देकर अक-र्मण्य नही वनाते, किन्तु धर्म सुनाकर सुख-प्राप्ति का उपाय ही वता देते हैं, जिसमे फिर दुःख हो ही नही। वे लोग आध्यात्मिक विद्या सिखाते हैं। सव ऋद्धि इस विद्या को जानने वाले की दासी;

है । यह विद्या जानने वाले को किसी भी प्रकार की कमी नही रहती । अस्तु ।

सुवाहुकुमार पौपध से उठे । घर पर पारणा करने के लिये गये । सयम धारण करने के लिये उनके मन मे जो विचार उठे थे, उनके विपय मे उन्होने किसी से सलाह न ली । सुवाहु स्वतत्र विचार वाले थे । वह अपनी आत्मा की साक्षी को ही सब से वडी सलाह मानते थे । शुद्ध आत्मा जिस वात की साक्षी दे दे, वह काम उन्नति का ही होता है । आत्मा ज्ञानी है । आत्मा साक्षात् है । शान्त मन से, सकल्प-विकल्प त्याग कर अगर कोई सलाह पूछोगे तो वह नेक सलाह देगी । आपका मन चञ्चल रहता है, इसी कारण आपको इस सत्य की प्रतीति नही होती ।

एक वर्तन मे स्वच्छ निर्मल जल स्थिर रूप से पडा है । अगर आप देखेंगे तो उसमे आपका मुंह साफ दिखाई देगा । उसी पानी के वर्तन के नीचे आपने आग लगाई और पानी उकलने लगा । क्या उस समय आप अपना मुंह उसमे देख सकेंगे ? नही । इसी प्रकार जव हवा से पानी चञ्चल हो या स्वय मैला हो तव भी मुंह दिखाई नही देता । यदि आप पानी को उवालना वन्द कर दें, कीचड निकाल कर साफ कर दें और उसे स्थिर रखें तो मुंह दिख सकता है । पानी मे स्थिर रहने की शक्ति है । उस शक्ति को विकृत न करने से मुंह दिखाई दे सकता है ।

मन की भी यही दशा है । मन-रूपी पानी के नीचे जब तक कषाय-रूपी अग्नि जलती रहेगी तब तक आपको असली स्वरूप दिखाई न देगा । इसी प्रकार जब तक आपने अपने मन मे काम-क्रोध-रूपी कीचड घोल रखे हैं, तब तक आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता । कषाय-अग्नि के बुझ जाने पर और क्रोध आदि रूपी कीचड के साफ हो जाने पर आपको आत्मा का सच्चा दर्शन होगा । तब आप समझ जाएंगे कि आत्मा मे कितनी शक्ति है । आत्मा

की अजव-गजव शक्ति का पता शान्त अवस्था मे ही लगता है। इस सच्चाई की साक्षी के लिये एक उपाय किया जा सकता है। रात्रि मे वारह वजे सोते समय मन को शान्त रख कर आप आदेश दे कि मुझे तीन वजे जगा देना। यह आदेश देकर आप सो जाएँगे, आप प्रतिदिन जल्दी सोते थे और तीन वजे उठने का भी अभ्यास नहीं था, फिर भी आप देखेंगे कि ठीक तीन वजे आपकी निद्रा भग हो जाएगी। यह जगाने वाला कौन है ? मन। आप जव सोते रहते हैं तव भी आपका मन वरावर काम करता रहता है। मन कभी सोता नही। इसे वश मे करके इससे उचित काम लेना आपके हाथ मे है। मन आपके ऐसे-ऐसे काम कर सकता है कि आप चकित हो जाएँगे।

सुवाहुकुमार धर्म मे पूरी तन्मयता के साथ डूव गया। उस की सयम लेने की इच्छा वलवती हो उठी। महावीर स्वामी तो पहले ही जानते थे कि सुवाहुकुमार सयम ग्रहण करेगा। गौतम के प्रश्न करने पर यह वात उन्होने पहले ही वतला दी थी। भगवान् घट-घट की वात जानते थे। भूत और भविष्यकाल उन्हे साक्षात् दिखलाई देते थे। उन्होने सुवाहुकुमार का सयम लेने का सकल्प जान लिया।



१७ : भगवान का पुनः पदार्पण

(दीक्षा की तैयारी)

मूल—तए ण समणे भगव महावीरे सुबाहुस्स कुमारस्स इम एया-
रूत्र अज्झत्थिय जाव वियाणित्ता पुव्वाणुपुव्वि जाव दूइज्ज-
माणे जेणेव हत्थिसीसे णगरे, जेणेव पुप्फकरडे उज्जाणे,
जेणेव कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खाययणे, तेणेव उवा-
गच्छइ । उवागच्छित्ता अहापडिरूत्र उग्गह उग्गिण्हित्ता सज-
मेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ। परिसा राया निग्गया।
तए ण मे सुबाहुकुमारे त महया जहा पढम तहा निग्गओ ।
धम्मो कहिओ परिसा राया पडिगया । तए ण से सुबाहुकु-
मारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा
णिसम्म हट्ठतुट्ठे मेहे जहा अम्मापियरो आपुच्छइ । णिक्खम-
णाभिमेओ, तहेव अणगारे जाए । इरियासमिए जाव गुत्ते
गुत्तबम्भयारी ।

अर्थात्—तदनन्तर श्रमण भगवान महावीर, सुबाहुकुमार का यह
विचार यावत् जानकर अनुक्रम से विचरते हुए हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पक-
रण्डक उद्यान मे, कृतवनमालप्रिय यक्ष के यक्षायतन मे पधारे । पधार
कर यथोचित आज्ञा लेकर, स्थान ग्रहण करके सयम और तप-पूर्वक
आत्मा को भावित करते विचरने लगे । परिषद् और राजा लौट
गये । सुबाहुकुमार भगवान का उपदेश सुनकर हर्षित और सन्तुष्ट
हुआ । मेघकुमार की तरह माता-पिता से आज्ञा मांगी । दीक्षा-
उत्सव हुआ । सुबाहुकुमार साधु हो गये । वह ईर्यासमिति और

गुप्ति से युक्त एव ब्रह्मचारी हुए ।

भगवान महावीर को शिष्य बनाने की लालसा नही थी । शिष्य न बनने से उन्हें मुक्ति प्राप्त करने मे भी कोई बाधा नही आती थी । फिर भी जगतहित की भावना से भगवान कोसो पैदल चलकर हस्तिशीर्ष नगर आये और पुष्पकरण्डक बगीचे मे ठहर गये ।

सारे नगर मे भगवान के पधारने की खबर बिजली की तरह फैल गई । सब लोग भगवान के दर्शन करने, उन्हे वन्दना नमस्कार करने और भगवान के मुख-कमल से निकले हुए अमृतमय उपदेश को श्रवण करने के लिये पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चले । सुबाहुकुमार को भी भगवान के पधारने की शुभ-सूचना मिली । उसके हर्ष का पार न रहा । उसे ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे प्यासे को पानी, भूखे को भोजन, निर्धन को धन, अन्धे को आँख और पंखी को पँख मिलने पर होती है । वह भी पहले की ही तरह भगवान की सेवा मे उपस्थित हुआ । सब लोगो के वन्दना नमस्कार कर चुकने पर और यथा-स्थान बैठ जाने पर, भगवान सबको धर्मोपदेश सुनाने लगे । वे फरमाने लगे —

ए ससार के प्राणियो ! अपने भूत और भविष्य का विचार करो । एक दिन वह था, जब कि तुम निगोद मे पडे थे । उस समय तुम्हे क्या-क्या कष्ट भोगने पडे, वह तुम्हे आज मालूम नही है । किसी पुण्य के उदय होने से, तुम उस निगोद से निकल कर क्रमश. एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौन्द्रिय शरीर मे आये । पश्चात् तुम्हारी पुन्यवानी और बढी, जिससे तुम्हे पचेन्द्रिय और उस में भी यह उत्तम मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ । मनुष्य-शरीर प्राप्त होने से पूर्व तुम्हें किन-किन कष्टो को सहना पडा है, इसके लिए तुम वनस्पति, पतगा कीडे-मकोडे और पशुओ को देखो । उन्हे देख कर और उनके कष्टो का पता लगाकर अपने भूत का निश्चय करो,

कि हमने इन कष्टों को न मालूम कितनी वार सहा है ! तुम लोग यदि उतनी दूर की बात न देखना चाहो तो इस मनुष्य-शरीर पर से ही अपने कष्टों का पता लगाओ। इस मनुष्य-शरीर मे जन्म धारण करने के पूर्व माता के गर्भ मे तुम लोगो ने कितना कष्ट सहा है। नौ मास तक एक सकुचित स्थान मे उल्टे टगे रहना, मल-मूत्रादि मे लिपटे रहना, क्या कम कष्ट है ? इन कष्टो को निरन्तर भोगते-भोगते तुम्हे यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। यह शरीर क्यो प्राप्त हुआ है ? इस शरीर के प्राप्त होने से क्या लाभ है ? क्या इस शरीर को भी तुम लोग उसी प्रकार गँवाना चाहते हो जिस तरह कि अन्य शरीरो को गँवाया है ? मनुष्य-शरीर के सिवा दूसरे शरीर मे तो तुम मे भूत-भविष्य के विचारने की शक्ति नहीं थी, इसलिये उन शरीरो को उस तरह व्यतीत कर देने पर तुम्हे कोई मूर्ख नही कह सकता। परन्तु इस मनुष्य-शरीर को जिसमें कि भूत-भविष्य के विचारने की शक्ति है, उसी तरह व्यतीत कर देना क्या मूर्खता न होगी ? क्या यह शरीर भी उन्ही कार्यों के लिये मिला है, जिन कार्यों को अन्य शरीर मे रहकर भी किया जाता है ? तुम जिन भोगो मे सुख मानकर निश्चिन्त बैठे हो, वे भोग ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन भोगो से ही तुम्हारा पतन होगा। यह मनुष्य-शरीर इन भोगो को भोगने के लिये नही है। ये भोग तो पशु-शरीर मे भी भोगे जा सकते हैं, इसलिए इनको भोगना ही मनुष्यता का चिह्न नही है। मनुष्य-शरीर तुम्हें तप के लिये मिला है। इस मनुष्य-शरीर को पाकर तप द्वारा आत्म-कल्याण करो और ऐसा सुख प्राप्त करो, जिसके पीछे दुख न हो। यदि यह मनुष्य-शरीर भी तुमने उसी प्रकार व्यतीत कर दिया, जिस प्रकार कि अन्य शरीरो को व्यतीत किया है, तो तुम्हारे लिए वे ही कष्ट तैयार हैं, जिन्हे तुम भूतकाल मे भोग चुके हो। इसलिये ऐसा कार्य करो, जिससे वे दुख फिर न भोगने पड़ें।

श्रोतागण ! मेरा और तुम्हारा आत्मा समान है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। अन्तर केवल इतना ही है कि मेरा आत्मा अज्ञान-आवरण से ढँका हुआ नही है और तुम्हारा आत्मा ढँका हुआ है। जिन कष्टो का मैंने दिग्दर्शन कराया है, वे कष्ट मैं भी भोग चुका हूँ और अपने भूतकाल के अनुभव पर से ही मैं सतत इस उद्योग मे लगा हूँ कि अब मुझे वे कष्ट न भोगने पड़ें। मैं तुम लोगो से भी यही कहता हूँ कि भूतकाल मे भोगे हुए कष्टो का स्मरण करके अपना भविष्य देखो और ऐसे कार्य करो, कि जिनसे भविष्य मे पुन वे कष्ट न भोगने पड़े।

तुम्हारा आत्मा भविष्य के कष्ट से तभी मुक्त हो सकता है, जब यह मोक्ष प्राप्त कर ले। जब तक मोक्ष प्राप्त नही करता है, जब तक इसके पीछे जनमना मरना लगा है तब तक इसे वे कष्ट भोगने ही पड़ेंगे, जिन्हे कि यह भोग चुका है। इसलिये उन उपायो को काम मे लाओ, जिनके काम मे लाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्तितः ।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभि. ॥

अर्थात्—हृदय मे जो कामनाओ का निवास है, उसी को ससार कहते हैं और उनके सब तरह से नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं।

किसी प्रकार की लालसा का न होना ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक लालसाएँ बनी हुई हैं—हृदय से निकली नही हैं, तब तक मोक्ष की इच्छा करना, पवन को मुट्ठी मे रोकने की चेष्टा करना है। इसलिये लालसाओ का त्याग करो। लालसाओ को त्यागने के लिये सबसे पहले हिंसा का त्याग करना होता है। बिना हिंसा का त्याग किये, लालसाएँ नही मिट सकती। हिंसा का त्याग करने के लिये झूठ को छोड़ना पड़ता है। जहाँ झूठ है, वहाँ हिंसा है

और जहाँ हिसा है वहाँ लालसा है । विना भूठ छोडे लालसा नही मिट सकती । भूठ का त्याग करने के लिये चोरी का त्याग करना आवश्यक है । विना चोरी त्यागे, भूठ नही छूट सकता और जहाँ भूठ है, वहाँ हिसा भी है तथा लालसा भी है । चोरी को त्यागने के लिये, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है । विना ब्रह्मचर्य पालन किये—विना इन्द्रियो को वश मे किये—न तो चोरी छूट सकती है, न भूठ या हिसा ही । ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये परिग्रह का त्याग करना पडता है । जहाँ परिग्रह है, वही अब्रह्मचर्य, चोरी, भूठ और हिसा भी है । पाप कराने वाला, परि-ग्रह ही है । आत्मा को ससार मे भटकाने का मूल कारण परिग्रह ही है । इसलिये परिग्रह को छोडो । ससार की जिस वस्तु से आत्मा को ममत्व है, आत्मा के लिये वही परिग्रह है । इसलिये ससार की प्रत्येक वस्तु से ममत्व त्याग दो । इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिये सबसे पहले परिग्रह का, फिर अब्रह्मचर्य, चोरी, भूठ और हिसा का क्रमश त्याग करना होता है जो आत्मा इसका जितने अश मे त्याग करेगा, उसकी लालसाएँ उतनी ही कम होगी और लालसाएँ जितनी कम होगी, मोक्ष के वह उतना ही समीप होगा । इनको पूर्ण रूप से त्यागने वाला मोक्ष के विल्कुल ही समीप होगा और कभी-न-कभी वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा । इसलिये अस्थायी तथा अवास्तविक हानि, लाभ, सुख और दुख का विचार करो, जो वास्तविक तथा स्थायी है । मोक्ष को प्राप्त कर लेने पर, आत्मा के लिये दुख का अस्तित्व ही उठ जाता है, अत मोक्ष प्राप्ति का उपाय करो, जिससे आत्मा का कल्याण हो ।

भगवान के मर्म-स्पर्शी उपदेश को सुनकर, श्रोता-समाज आह्लादित हो उठा । चारो ओर से, धन्य-धन्य और जय-जय की ध्वनि सुनाई देने लगी । भगवान के उपदेश का प्रभाव सब पर उत्तम पडा । भगवान के उपदेश का विचारपूर्वक मनन करने और

उसके अनुसार कार्य करने वालो मे से, एक सुबाहुकुमार का इतिहास हमारे सामने मौजूद है। इस उपदेश ने, सुबाहुकुमार के हृदय के उस रात वाले विचार को और पुष्ट कर दिया। अब उसने आत्म-कल्याण का दृढ सकल्प किया।

उपदेश-कार्य समाप्त हो जाने पर, सब लोग भगवान को वन्दना नमस्कार कर-करके अपने-अपने घर चले गये, लेकिन सुबाहुकुमार वही ठहरा रहा। सबके चले जाने के पश्चात् उसने भगवान को वन्दना-नमस्कार किया।

वन्दना-नमस्कार करके, सुबाहुकुमार नम्रता सहित भगवान से प्रार्थना करने लगा—प्रभो! आपकी गम्भीरता और भक्तवत्सलता को धन्य है। आपके गाम्भीर्य और वात्सल्यपूर्ण हृदय की थाह मिलना सर्वथा असम्भव है। मेरा हृदय कहता है कि आप मेरे हृदय के भावो को जानकर की पधारे हैं, फिर भी आपने मुझसे कुछ नहीं कहा। आपने अपने पधारने का कारण मुझे नही बताया, न ऐसा करके मुझ पर किसी प्रकार का दबाव ही डाला। आपका कुछ न कहना तो गम्भीरता का परिचायक है, परन्तु यदि मैं भी चुप रह जाऊँगा, आपसे अपने हृदय की बात न कहूँगा—तो ऐसा करना मेरे कल्याण-मार्ग का बाधक होगा। इसलिये मैं वह बात निवेदन करना उचित समझता हूँ, जिसके लिये मेरे आत्मा ने आप को इधर पधारने की प्रेरणा की है।

हे जगतारण! श्रावक के बारह व्रत धारण करने के समय मैंने अपने आपको साधु-व्रत धारण तथा पालन करने के लिये असमर्थ बताया था। वास्तव मे उस समय मैं असमर्थ ही था। लेकिन अब मैं समर्थ हो गया हूँ। मैंने अपने निकट और दूर के सब सम्बन्धो को देखकर, भूत और भविष्य पर भी विचार किया है। ससार मे मेरा सच्चा साथी कोई नही है, जो मुझे कष्ट के समय सहायता दे। साथ ही, मैं इस बात का भी इच्छुक हूँ कि जिन

कष्टों को मैं अनन्त वार सह चुका हूँ उन्हे अव न सहूँ । अव उन कष्टो से मैं वचना चाहता हूँ ।

प्रभो ! धर्म पर पहले भी मेरी श्रद्धा थी और अव भी है । किन्तु उस श्रद्धा को सफल करने का अव अवसर आया है । सयम को उत्कृष्ट तो पहले भी जानता था, किन्तु ग्रहण करने का समय अव आया है । मैं माता-पिता से आज्ञा प्राप्त करके आपके निकट दीक्षा धारण करना चाहता हूँ ।

कई नामधारी जैन माता-पिता को कुपात्र वतलाते हैं और उनकी आज्ञा मानने मे पाप कहते हैं । इस विषय मे उनकी युक्ति यह है कि अगर माता-पिता की आज्ञा मानना धर्म हो और वे मुनि-दीक्षा लेने की मनाई कर दें तो क्या ससार मे ही पडे रहना चाहिये ? कदाचित् माता-पिता सामायिक आदि धर्मक्रिया करने का निषेध करें तो उस समय क्या कर्तव्य होगा ? अगर कोई माता या पिता कभी वकरा मारने की आज्ञा दें तो उसका पालन करना चाहिये या नही ? इस प्रकार की युक्तियाँ देकर माता-पिता को कुपात्र और उनकी सेवा करना पाप वतलाया जाता है ।

दीक्षा जैसा काम भी यदि माँ-वाप की आज्ञा के विना ही हो सकता होता तो शास्त्रकार इसका उल्लेख शास्त्र मे क्यो करते ? दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट करने पर दीक्षाभिलाषी को ऐसा क्यो कहा जाता कि माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर लो तो दीक्षा दी जा सकती है अन्यथा नही । यदि माता पिता कुपात्र ही होते तो उनसे आज्ञा लेने की क्या आवश्यकता थी ?

भगवान ने कहा है जो साधु माता-पिता की आज्ञा के विना उनकी सन्तान को दीक्षा दे देता है, यह महधर्मा का चोर है और पुनर्दीक्षा लेने का पात्र है ।

माता-पिता की आज्ञा के विना दीक्षा देने वाले साधु को जब इतना दोष होता है तो दीक्षा लेने वाले को कितना पाप न

लगता होगा ?

शास्त्र मे कही भी ऐसा उल्लेख नही कि माता-पिता कुपात्र होते हैं। अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही अपने माता-पिता की सेवा करता है, पापी मनुष्य उनकी सेवा नही करता। माता अपने मातृत्व धर्म का और पिता अपने पितृत्व-धर्म का पालन करते हैं, फिर उन्हे एकान्त कुपात्र कैसे कहा जा सकता है ?

सुवाहुकुमार की बात सुनकर भगवान ने कहा—जैसे सुख हो वैसा करो।

भगवान को वन्दन-नमस्कार करके सुबाहुकुमार अपने माता-पिता के पास आया। उसने उनके समक्ष अपना दीक्षा-ग्रहण करने का विचार उपस्थित किया। उनकी आज्ञा चाही। दीक्षा का नाम सुनते ही उन लोगो को वहुत दुःख हुआ।

माता-पिता अपनी विवाह योग्य कन्या का विवाह स्वेच्छा से करते हैं। तव भी विदाई के समय मातृ-पितृ-स्नेह उन्हे व्यथित कर देता है। इसी प्रकार सुवाहुकुमार के माता-पिता दीक्षा को अच्छा मानते है, साधु-सगति और सयम को आदर्श समझते हैं, तथापि उसके मुंह से दीक्षा लेने का विचार सुनकर माता का ममतामय हृदय व्यथित हो गया। ममता की असीमता ने उसे मूर्च्छित कर दिया। वह पृथ्वी पर गिर पडी। जव सज्ञा मे आई तो सुवाहुकुमार से कहने लगी—वेटा, हम वृद्ध हैं। तुम्हारे वियोग को हम सह नहीं सकेंगे। हमारे न रहने पर चाहे दीक्षा ले लेना, पर हमारी मौजूदगी मे दीक्षा न लेते तो अच्छा होता। इसके अतिरिक्त फिर दीक्षा लेने के समय तक तुम भी भुक्तभोगी हो जाओगे। अतएव अभी ठहरो फिर दीक्षा ले लेना।

सुवाहुकुमार ने उत्तर दिया—आप वृद्ध हैं और आपको इस अवस्था मे छोडकर दीक्षा लेना उचित नही है, यह मैं जानता हूँ। मगर मैं एक वात सोचता हूँ। आपकी गोद मे रहकर मैंने यह

सीखा है कि जिस काम मे अपना और ससार का कल्याण हो, उस काम मे विलम्ब न किया जाय। आप कहते हैं—हमारे जीवित रहते दीक्षा न लो, किन्तु क्या यह बात निश्चित हो चुकी है कि पहले किसकी मृत्यु होगी ? माता-पिता की मौजूदगी मे क्या पुत्र परलोक का यात्री नही बन जाता ?

सुबाहुकुमार के प्रश्न के उत्तर मे माता-पिता ने कहा—हाँ, यह ठीक है। पहले किसकी मृत्यु होगी, यह निश्चित नहीं है।

सुबाहु बोला—ऐसी अनिश्चित स्थिति मे रुकने के लिये क्या आधार है ? मैं महाकल्याण के कार्य मे जुटता हूँ। कर्मशत्रु का नाश करने के लिये जा रहा हूं। मेरा यह कार्य आपको क्या पसन्द नही है ? अगर काल का निश्चय होता तो मैं आपका आदेश शिरोधार्य करके रुक रहता। किन्तु जब काल का निश्चय नही है तो मुझे कल्याण पथ पर चलने मे रोक रखना कहाँ तक उचित होगा।

सुबाहुकुमार का कथन सुनकर माता ने सोचा—बात तो सुबाहु की ठीक है। फिर यह कल्याण के लिये जा रहा है। मैं क्षत्रियाणी हूँ। अवसर पडने पर अपने पुत्र को वैरियो से जूझने के लिये हँसते-हँसते भेजने वाली शक्ति हूँ। कायर की तरह घर मे छिपाकर रखने वाली मैं नही हूँ। सुबाहु अपने कर्मशत्रुओ का ध्वस करने जा रहा है। ऐसे समय कायरता प्रदर्शित करना मेरे लिए योग्य नही है।

सुबाहुकुमार के पिता नीतिनिपुण क्षत्रिय थे। उन्होने सोचा—नवयुवक भावुकता के प्रवाह मे जल्दी ही बह जाते है। कभी-कभी अन्तरग के स्थायी और सुदृढ सकल्प के अभाव मे भी स्थायी प्रभाव रखने वाले कार्य मे जुट पडते हैं। फल यह होता है कि वीर हाथ से छूट जाता है और फिर पछतावा ही रह जाता है। सुबाहु यद्यपि दूरदर्शी और विवेकशील है, तथापि नवयुवक ही है।

देखना चाहिये कि उसके निश्चय मे कितनी दृढता है । ऐसा विचार कर उन्होंने सुबाहुकुमार से कहा :—

वत्स, तू वीर है । ससार को अपनी वीरता से सुख पहुँचा । सयम लेकर कायरवेश क्यो धारण करता है ? तलवार के बल से तू जितना कल्याण कर सकेगा, उतना साधु बनकर कदापि नही कर सकता । अपने ऊपर गृहस्थावस्था का भार आया देख कायर की भाँति भाग निकलना ठीक नही है । लोग तुझे क्या कहेगे ? ससार को तेरी शक्ति से क्या लाभ पहुँचा ? अगर तू ससार का कल्याण ही करना चाहता है तो शासनदण्ड धारण करके प्रजा का पालन कर । इससे तेरा और जगत् का कल्याण होगा ।

नम्रतापूर्वक सुबाहुकुमार ने उत्तर दिया—तात, सयम धारण करना कायर का काम नही, वीर पुरुष का काम है । तलवार ससार का कल्याण नही कर सकती । तलवार के जोर पर रिपुगण ऊपर-ऊपर से भले ही दब जाएँ, मगर महाशत्रुओ का सामना तलवार से नही किया जा सकता । जिसने महाशत्रुओ को नही जीता, वह वीर कैसा ? सच्चा वीर तो वही है जो महान् शत्रुओ पर स्थायी विजय प्राप्त कर सकता है । ऐसे वीर पुरुष को ससार की कोई शक्ति नही हरा सकती ।

देखिए, एक ओर राम और दूसरी ओर रावण था । रावण ने सब शत्रुओ को जीत लिया । उसने अनेक युद्ध किये । पर अन्त मे राम ने उसे जीत लिया । अब विचार कीजिये कि रावण बडा ठहरा या राम ? वास्तव मे रावण तो काम क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओ द्वारा पहले ही मारा जा चुका था । अगर उसने इन आंतरिक शत्रुओ को जीत लिया होता तो एक राम क्या, हजार राम भी उसे नही जीत सकते थे । रावण ने काम के अधीन होकर सीता का हरण किया । इसीलिये काम के मारे मुर्दे बने हुये रावण को राम ने पराजित कर दिया ।

पिताजी, मैं मनुष्य को मुर्दा बनाने वाले काम-क्रोध आदि शत्रुओ को मारना चाहता हूँ। उनसे युद्ध करने के लिए कमर कस रहा हूँ। ऐसी अवस्था मे मैं कायर कैसे कहा जा सकता हूँ ?

पूज्यवर, आप तलवार द्वारा शान्ति फैलाने का परामर्श देते हैं, मगर आज तक तलवार से ससार मे कभी शान्ति नही फैली और न फैल सकती है।

भाइयो, सचमुच तलवार कभी शान्ति स्थापित करने मे समर्थ नहीं हो सकती । एक मुर्दे को दो कुत्ते शान्ति के साथ नही खा सकते । वे एक-दूसरे को घुर्राया ही करते हैं । इसी प्रकार एक राज्य के लिए दो शक्तियाँ—राजा—सदैव आपस मे लडती रहती है। एक शक्ति अपना अधिकार जमाना चाहती हैं, दूसरी उसे नेस्तनाबूद करके अपनी सत्ता स्थापित करना चाहती है।

राज्यलक्ष्मी के लिए जब दो सल्तनतें आपस मे लडती हैं, तब ससार मे हाहाकार मच जाता है। ऐसी अवस्था में सुख और शान्ति स्वप्न हो जाते हैं।

मित्रो ! आप राज्यलक्ष्मी की तरफ से ध्यान हटाकर जरा अपनी ही ओर ध्यान दीजिये। दो सगे भाई एक जमीन के टुकडे के लिए क्या जानी दुश्मन नही बन जाते ? क्या यह जमीन रूपी टुकडे के लिए दो कुत्तो का लडना नही है ? आप जरा रामचन्द्र के चरित की ओर दृष्टि दौडाइये। राम अपने भाई भरत के लिए राज्य छोड कर वन को चले गये। क्या राज्य पर राम का हक नहीं था ? दशरथ और कैकयी को अपने मन के मुताबिक व्यवस्था करने का क्या हक था ? राम ही राज्य के अधिकारी थे। सारी प्रजा उन्हे चाहती थी। फिर भी रामचन्द्र ने राज्य को ठोकर मार-कर भ्रातृ-प्रेम का ज्वलंत आदर्श खडा कर दिया।

रामचन्द्र के इस त्यागमय व्यवहार से अवध मे शान्ति रही और एक सुन्दर आदर्श यावच्चद्रदिवाकर खडा हो गया। अगर

रामचन्द्र तलवार का उपयोग करते तो घोर अशान्ति फैल जाती। तात्पर्य यह है कि तलवार अशान्ति की प्रतिनिधि है। जहाँ तलवार का नृत्य हुआ वहाँ अशान्ति का अट्टहास आरम्भ हुए बिना नही रहता।

सुबाहु बोला—पिताजी, मैं शाश्वत शान्ति के लिए उद्योग करने जा रहा हूँ, जो तलवार द्वारा साध्य नही है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य मे आप सरीखे पूजनीय पुरुप ही बाधक बनेंगे? नही। मैं अपने विवेकशील और धर्मनिष्ठ पिताजी से यह आशा नही करता। आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मेरी साधना सफल हो और मैं आपका यश विश्व मे विश्रुत कर सकूँ।

सुबाहु के पिता मौन हो गये। माता ने समझ लिया कि अब जबर्दस्ती रोकने से पुत्र को दुःख होगा। अपने दुःख के प्रीतकार के लिये पुत्र को दुःख पहुँचाना माता का हृदय सहन नही कर सकता। अतएव उसने कहा—लाल, यदि यही तुम्हारी इच्छा है तो मगलमूर्ति बनकर ससार को उद्भासित करो। लेकिन माता के हृदय की एक लालसा पूरी किये जाओ। मैं एक दिन के लिए तुम्हारी राज्यलक्ष्मी देखना चाहती हूँ। कम से कम एक दिन राज्य कर लो।

माता के इस करुण आवेदन मे कुछ मर्म भी है। माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वह इस बात की जाँच कर लें कि हमारा पुत्र किसी बात की कमी से तो साधु नही हो रहा! ऐसी जाँच किये बिना साधु होने की आज्ञा दे देने से लोग यह अपवाद करने लगते हैं कि फलाँ के पुत्र को अमुक बात की कमी थी, इसमे वह साधु हो गया। सुबाहुकुमार के माता-पिता इस अपवाद से बचना चाहते थे, इस कारण उन्होने राज्यग्रहण करने का आग्रह किया। दूसरे वह जानना चाहते थे कि उनका बेटा राज्य पर लुभाता तो नही है! वह सयम को श्रेष्ठ समझता है या राज्य को? तीसरे, जब वह राज्य त्यागकर सयम लेगा तो ससार पर विशिष्ट प्रभाव पड़ेगा। यह सब सोचकर सुबाहुकुमार के माता-पिता

ने उसे राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया ।

सुबाहुकुमार माता-पिता का अभिप्राय समझ गया । उसने विचार किया—जैसे सुवर्ण को परीक्षा देने के लिए अग्नि मे तपना पड़ता है, उसी प्रकार मुझे भी राज्य करके परीक्षा देनी होगी । इससे माता-पिता का अपवाद भी न होगा और राज्य की स्वतन्त्रता से सयम की स्वतन्त्रता की तुलना करने के लिए भी साधन मिल जायगा । अतएव माता-पिता के इस आग्रह को शिरोधार्य करना ही उचित है ।



१८ : दीक्षा-महोत्सव

दूसरे दिन सुबाहुकुमार को राज्य दिया गया । सुबाहु राजसिंहासन पर आसीन हुए । ऊपर छत्र लगाया गया और बगल मे चामर ढोरे जाने लगे । राजा के समस्त अधिकार सुबाहु को प्रदान किये गये । उन्हे राज्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई ।

यह सब हो जाने के पश्चात् उनके माता-पिता ने पूछा—'अब आपको किसी बात की कमी नही रही । बताओ, अब क्या इच्छा है ?

राजा सुबाहु ने कहा—मुझे दो वस्तुएँ और चाहिए । उनके लिए राजकीय कोष से तीन लाख मोहरें निकाली जाएँ । उनमे से दो लाख मोहरो से मेरे लिए ओघा और पात्र मँगवा दिए जाएँ और एक लाख मोहरें देकर नाई से मेरा मुडन करा दिया जाय ।

माता-पिता ने समझ लिया कि सुबाहु को राज्य की अभिलाषा नही है । वह सयम ही लेगा । उन्होंने सुबाहु के कथनानुसार ओघा और पात्र मँगवा लिए ।

सुबाहुकुमार आज राजा है । फिर भी उसने दीक्षा-महोत्सव की इच्छा न की । हाथी, घोड़ा, पालकी, वस्त्र, आभूषण आदि की चाह करने वाला वैरागी नही हो सकता । सुबाहुकुमार ने केवल दीक्षा मे सहायक वस्तुओ की ही माँग की, आडम्बर की नही । यह वैराग्य की कसौटी है ।

यद्यपि सुबाहु ने आडम्बर की कोई वस्तु न माँगी, परन्तु माता-पिता ओघा-पात्र देकर यो ही उसे निकाल दें तो धर्म भी जोखिम मे पड़ जाता है और लोगो मे भी अपवाद होता है कि

लडके को ऐसे ही निकाल दिया ! इसके अतिरिक्त माता-पिता की ममता को भी इससे सन्तोष नही होता ।

सुबाहु के माता-पिता कहने लगे—मेरे पुत्र को धन्य है, जिसने और कोई वस्तु न मांगकर दीक्षा की सामग्री मांगी और वह मुडित होना चाहता है ।

सबसे पहले सुबाहुकुमार को एक सिंहासन पर बैठाकर सोने चांदी के कलशो से स्नान कराया गया । फिर शरीर पोंछकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनाये गये और सुगन्धित द्रव्य का लेपन किया गया । पश्चात् अदीनशत्रु ने, सेवको को पालकी लाने की आज्ञा दी । आज्ञा पाकर सेवक लोग एक सुन्दर तथा सुसज्जित एक हजार आदमियो द्वारा उठाई जाने वाली पालकी ले आये । उस पालकी मे बनी हुई वेदी पर, पूर्व की ओर मुह करके सुबाहुकुमार बैठे । उसके पास ही, दाहिनी ओर राजमाता धारिणी अच्छे-अच्छे वस्त्रालकार पहन कर बैठ गई । सुबाहुकुमार के बाई ओर उसकी धाय रजोहरण और पात्र लेकर बैठी । एक तरुण स्त्री छत्र लेकर सुबाहुकुमार के पीछे की ओर बैठी । हाथों मे चंवर लिए हुई दो तरुणी, पालकी पर चढी और सुबाहुकुमार पर दोनो बाजुओ से चँवर ढोरने लगीं । एक सुन्दर तरुणी पखा लेकर पालकी पर चढी जो सुबाहुकुमार के सामने पखा करने लगी । एक तरुण स्त्री जल की झारी लेकर पालकी पर चढी । इस प्रकार ठाट-बाट से सुबाहुकुमार को पालकी मे सवार कराया ।

पालकी तैयार हो जाने पर, राजपिता अदीनशत्रु ने समान रग, समान आयु और समान वस्त्र वाले—एक हजार तरुण पुरुषो को बुलाया । आज्ञा पाकर एक सहस्त्र ऐसे सेवक—स्नान करके तथा अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर अदीनशत्रु के पास उपस्थित हुये । अदीनशत्रु ने उन्हे पालकी उठाने की आज्ञा दी । आज्ञानुसार उन्होंने पालकी अपने कधो पर उठा ली ।

एक राजा, अपने राज्य को त्यागकर दीक्षा ले रहा है, अत कौन आदमी ऐसा होगा, जो इस दीक्षा-महोत्सव को देखने का इच्छुक न हो ? सारे नगर निवासी दीक्षा-महोत्सव देखने के अभिप्राय से उमड आये । हस्तिशिखर राज्य की समस्त सेना भी आ उपस्थित हुई और इस प्रकार वहुत भीड हो गई । सब लोग जय-जयकार करने लगे ।

वाजे-गाजे के साथ सुवाहुकुमार की पालकी, नगर के वीच मे होकर चली । सव से आगे सेना थी और अदीनशत्रु भी उसी के साथ थे । सेना के पीछे मगलद्रव्य थे । मगलद्रव्य के पीछे सुवाहुकुमार की पालकी थी और पालकी के पीछे जन-समुदाय था । इस प्रकार धूमधाम से सुवाहुकुमार की पालकी—जहाँ भगवान महावीर विराजते थे, उस पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चली ।

उद्यान के समीप पहुँचने पर, पालकी नीचे रखी गई । सुवाहुकुमार आदि सव उसमे से उतर पडे । सुवाहुकुमार को आगे करके राजा अदीनशत्रु और धारिणी रानी वहाँ गये, जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे । सव ने भगवान की प्रदक्षिणा की और उन्हें वन्दना-नमस्कार किया ।

सुवाहुकुमार की ओर सकेत करके धारिणी और अदीनशत्रु भगवान महावीर से प्रार्थना करने लगे—प्रभो ! हम आपको शिष्य की भिक्षा देते हैं । यह सुवाहुकुमार हमारा इकलौता पुत्र है । यह हमे वहुत प्रिय है, लेकिन इसकी इच्छा आपके पास दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करने की है । यद्यपि इसका जन्म और पालन-पोषण काम-भोगो मे ही हुआ है, लेकिन यह उन काम-भोगो मे उसी प्रकार लिप्त नहीं हुआ, जिस प्रकार कीचड मे पैदा होकर भी कमल उसमे लिप्त नहीं होता है । यह उन दु.खो से डरा हुआ है, जिन्हे कि इसने भूतकाल मे अनन्त वार सहा है और उनसे वचने के लिए ही यह आपकी शरण मे आने का अभिलाषी है । कृपा करके आप

हमारी दी हुई इस शिष्य-भिक्षा को स्वीकार कीजिये ।

अपने माता-पिता के प्रार्थना कर चुकने पर, सुवाहुकुमार ने अपने शरीर के अलकार और बहुमूल्य वस्त्रो को उतारकर माता को दिये । धारणी रानी ने उन्हे अपने अचल मे ले लिया । फिर अदीनशत्रु तथा धारिणी दीक्षा के लिए आये हुये सुवाहुकुमार से कहने लगे—हे पुत्र ! तुमने जिस कार्य के लिए घरवार आदि का त्याग किया है, उसे अच्छी तरह करना । तुम वीरपुत्र हो, अत' सयम पालने और काम-क्रोधादि दोपो को मारने मे पराक्रम से काम लेना । इस विपय मे प्रमाद मत करना । जिन गुणो को तुम अव तक प्राप्त नही कर सके हो, उन्हें प्राप्त करना । यह निर्ग्रन्थ-धर्म सर्वोत्तम है । तुम्हारे भाग्य धन्य है, जो तुम इसमे प्रवृत हो रहे हो । वह दिन न मालूम कव होगा, जब हम भी इसी मार्ग के पथिक वनेंगे । वेटा ! अन्त मे यही हम कहते हैं, कि साधु के पालन करने योग्य सव नियमो का भलीभाति पालन करना । इस विपय मे वहुत सावधानी रखना ।

इस प्रकार सुवाहुकुमार को सिखावन तथा आशीर्वाद देकर अदीनशत्रु और धारिणी आदि सव लोग भगवान महावीर को वदना नमस्कार करके, घर को लौट गये । उनके चले जाने पर—पचमुष्टि लोच करके—सुवाहुकुमार भगवान के पास आये और प्रदक्षिणा तथा वन्दना-नमस्कार करके, हाथ जोडकर प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो ! यह ससार जरामरण रूपी अग्नि से जल रहा है । जिस प्रकार अपने जलते हुये घर मे से लोग अविक मूल्य की, परन्तु थोडे वोझ वाली वस्तु को निकालते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने आत्मा को उस ससार की अग्नि से निकालना चाहता हूँ । मैं चाहता हूं कि मुझे अव ससार की जागरण-रूपी अग्नि मे न जलना पडे । इसलिए मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ । कृपा करके मुझे अपना शिष्य वनाकर ऐसे उपायो का उपदेश दीजिए, जिनके करने से पूर्व-पाप

तो कटे, लेकिन नया पाप न बधे। साथ ही उन नियमों की भी मुझे शिक्षा दीजिये, जिनका साधु होने पर पालन करना आवश्यक है।

सुबाहुकुमार की प्रार्थना सुनकर, भगवान ने उसे दीक्षा दी। दीक्षा देकर, वे नव-दीक्षित सुबाहुकुमार मुनि को आचारादि धर्म की शिक्षा देते हुए कहने लगे—हे देवानुप्रिय! अब तुम मुनि हुए हो। तुमने आत्म-कल्याण की भावना से ही घर-बार आदि त्यागा है। इसलिए अब ईर्यासमिति से चलना। जहाँ की पृथ्वी ठहरने योग्य निर्दोष हो, वही ठहरना। पृथ्वी का प्रमार्जन किये बिना मत बैठना। सोना, तब कपडे तथा शरीर का प्रमार्जन करके और समाधिभाव का उच्चारण करके। भोजन वही करना, जो निर्दोष हो। बोलना वही, जो हितकर और प्रिय हो। इस प्रकार प्रमाद को त्यागकर, प्राणीमात्र की सयम-पूर्वक रक्षा करना।

पचमहाव्रत के साथ ही साथ भगवान ने जो उपदेश किया, उसे मुनि सुबाहुकुमार ने भले प्रकार स्वीकार किया। इतना ही नही, वह भगवान के उपदेश का सदा ध्यान रखता और पालन भी करता। वह उसी प्रकार चलता-बैठता, खाता, सोता और जीवो की रक्षा करता, जैसा कि भगवान ने बताया था।



१९ : साधु सुबाहुकुमार

तए ण से सुवाहू अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमाइयाइ एक्कारस अगाइ अहिज्जति, अहिज्जता वहूहिं चउत्यछट्ठट्ठम० तवोविहाणेहिं अप्पाण भावित्ता वहूइ वासाइ सामन्नपरियाग पाउणित्ता मासियाए सलेहणाए अप्पाण भूसित्ता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने ।

से ण तओ देवलोगा ओ आउक्खएण, भवक्खएणं, ठिइक्खएण अणतर चय चइत्ता माणुस्स विग्गह लभिहिति, २ त्ता केवल वोहिं वुज्झिहिति, २ त्ता तहारूवाण थेराण अतिए मुडे जाव पव्वइस्सति । से ण तत्थ वहूइ वासाइ सामाण्ण परियाग पाउणिहिति, आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते काल करिहिति, सणकुमारे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति । से ण तओ देवलोगाओ माणुस्स, पवज्जा, वभलोऐ, तओ माणुस्स, महासुक्के, ततो माणुस्स, आणनेदेवे, ततो माणुस्स, ततो आरणे देवे, ततो माणुस्स, स०वट्ठसिद्धि । ने ण तओ अणतर उव्वट्टित्ता महाविदेहे वासे जाव अड्डाइ जहा दढपइन्ने सिज्झिहिति ५ । जाव एव खलु जम्बू ! समणेण जाव सपत्तेण सुहविवागाण पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते ।

अर्थात्—तत्पश्चात् सुवाहु अनगार श्रमण भगवान महावीर के तयारूप स्थविरो के समीप सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन करता है। वहुत ने चतुर्थ भक्त पष्ठ और अष्टगभक्त

आदि तपस्या के द्वारा आत्मा को भावित करके वहुत वर्षों तक साधु-पर्याय पालकर, मासिक सलेखना द्वारा आत्मा को भूसित कर करके, अनशन से षष्ठिभक्त छेदन करके, आलोचना-प्रतिक्रमण कर के समाधि प्राप्त करके, काल-मास मे काल करके सौधर्म-स्वर्ग मे देव हुआ ।

उस स्वर्ग से आयु क्षय करके, भव और स्थिति का क्षय कर के, वहाँ से चय कर मनुष्य-शरीर धारण करेगा । केवली प्ररूपित धर्म का वोध होगा । तथा रूप श्रमणो के निकट मुडित होकर यावत् दीक्षित होगा । वहाँ वहुत वर्षो तक सावु-पर्याय पालन करेगा । फिर आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि के साथ काल करके सनत्कुमार कल्प मे उत्पन्न होगा । उस देवलोक से च्युत होकर मनुष्य होगा । दीक्षा लेकर ब्रह्मलोक मे उत्पन्न होगा । फिर मनुष्य-भव धारण करके महाशुक्र विमान मे, फिर मनुष्य-भव मे फिर आनत देवलोक मे, मनुष्य होकर फिर आरण देवलोक मे फिर मनुष्य होकर सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पादन होगा । तत्पश्चात् महाविदेह वर्ष मे उत्पन्न होकर दृढप्रतिज्ञ की तरह सिद्ध, वुद्ध, मुक्त होगा ।

सुधर्मा स्वामी कहते है—हे जम्बू ! श्रमण भगवान महावीर के सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ कहा है ।

सुवाहुकुमार आज भिक्षु-साधु है । कुछ दिन पहले वह राज-कुमार था । घर मे रहकर जो राजपुत्र भाँति-भाँति के सुस्वादु भोजन करता था, आज वही पराये घर भोजन की भिक्षा माँग रहा है । जो वहुमूल्य-मे-वहुमूल्य वस्तु भी किसी को देने मे सकोच नही करता था, आज वही दूसरो से आवश्यक वस्तु माँगता है । हजारो दास-दासी जिसकी सेवा मे सदा काल प्रस्तुत रहते थे, वही राज-कुमार आज सावु होने पर छोटे-मे-छोटे मुनि की सेवा मे उद्यत रहता है । यहाँ तक कि उनके मल-मूत्र का परिष्ठापन करने (पर-ठने) मे भी सकोच नही करता । जिसके सामने दूसरे लोग खमा-

समा करते थे, वही सुबाहु मुनियो की सेवा करने मे अपना अहो-भाग्य मानता है। अनगारता का जन्म होने के साथ ही मनुष्य मे यह गुण उत्पन्न हो जाते है। मनुष्य का विचार बदलते ही उस का स्वभाव भी बदल जाता है।

सुबाहु अनगार ने पाँचो समितियो पर ध्यान लगाया। वह मन वचन और काय का बड़ी ही यतना के साथ प्रयोग करता था। उसने अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लिया। पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया। जिसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित है, उसके लिये ससार मे किसी बात की कमी नही है। जैसे गृहस्थ अपने बहुमूल्य रत्न सावधानी के साथ सँभाल कर रखता है, उसी प्रकार सुबाहु अनगार ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा करते हैं। ब्रह्मचर्य रूपी यह लोकोत्तर रत्न जिसके पास है, देव, दानव, गन्धर्व आदि सभी उसके दास हैं। ऐसी कोई शक्ति नही जो ब्रह्मचारी से दूर हो। पूर्ण ब्रह्मचारी परमात्मा की पदवी पाता है।

सुबाहु अनगार इस प्रकार क्रिया मे प्रवीण हो गये। ज्यो-ज्यो आत्मा का विकास होता जाता था, त्यो-त्यो क्रिया भी उज्ज्वल होती जाती थी।

ज्ञान के बिना आत्मा उच्च स्थिति प्राप्त नही कर सकता। ज्ञान ससार का श्रेष्ठ रत्न है। कहा भी है —

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

अर्थात्—ससार मे ज्ञान के समान पवित्र और उससे ऊँची कोई भी वस्तु विद्यमान नही है।

भगवती सूत्र मे भी कहा है —

प्रश्न—इह भवे नाणे, परभवे नाणे ?

उत्तर—गोयमा ! इह भवे नाणे, परभवे नाणे।

प्रश्न—इह भवे चरित्ते, परभवे चरित्ते ?

उत्तर—गोयमा ! इह भवे चरित्ते, नो परभवे चरित्ते ?

अर्थात्—परलोक मे साथ जाने वाला ज्ञान ही है । चारित्र तो इसी लोक मे रह जाता है । ज्ञान आत्मा के साथ जाता है ।

छह महीने मे एक पद का अभ्यास हो तो भी ज्ञान का अभ्यास नही छोडना चाहिये । ज्ञान का अभ्यास करते-करते किसी समय केवलज्ञान भी प्राप्त हो जाता है ।

एक कथानक मे कहा है—किसी शिष्य ने उत्तराध्ययन सूत्र के तीन अध्ययन सीख लिये थे । उसे चौथा नही आता था । चौथा अध्ययन सीखने मे वह कायर-सा बन गया । तब उसके गुरु ने कहा—तू कायर मत हो और अभ्यास किये जा । तुझे निर्जरा करनी है, अतएव अतिम श्वास तक ज्ञान का अभ्यास करता रह ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने से विद्या जल्दी गृहीत होती है । सुबाहुकुमार ने ग्यारह अग पढकर कण्ठस्थ कर लिये । विनय और नम्रता के साथ उसने गुरु से विद्या सम्पादन की ।

प्रश्न होता है—सुखविपाक सूत्र मे तो सुबाहुकुमार का ही चरित्र वर्णन किया गया है, फिर सुबाहुकुमार ने कौनसा सुखविपाक पढा होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पहले के सुखविपाक सूत्र मे कुछ और ही होगा, इस समय मे कुछ और है तथा आगे के सुखविपाक मे कुछ और रहेगा । भगवान के ग्यारह गणधर थे, पर वाचना नौ ही थी । अन्यान्य वाचनाएँ तो सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी से प्रचलित हुई हैं ।

ज्ञानाभ्यास के पश्चात् सुबाहुकुमार ने चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त और अष्टमभक्त आदि तप प्रारम्भ किये । वह तपस्या मे मग्न हो गये । इस प्रकार बहुत समय तक उन्होने तप और सयम का पालन किया । अन्त मे एक मास अर्थात् षष्ठिभक्त मे अपनी आत्मा को झोंक दिया ।

सुबाहु अनगार ने पूरे तीस दिन का सथारा किया अर्थात् साठ भक्त छोडे । शास्त्रकार ने मास के साथ दिन और भक्त का

उल्लेख स्पष्टता के लिये कर दिया है। महीना और दिन आदि भी मौसिम-मौसिम के और निराले-निराले होते हैं। इसलिये सब प्रकार का सन्देह मिटाने के लिये यह स्पष्टीकरण है।

अनगार सुबाहु आलोचना-प्रतिक्रमण करके पाप से निवृत्त हो गये। यथासमय काल करके सौधर्म नामक पहले देवलोक में देवता हुए।



२० : सुबाहु का भविष्य

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—भगवन् ! सुबाहु-देव पहले स्वर्ग से च्युत होकर कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! सुबाहुदेव प्रथम स्वर्ग की आयु और स्थिति क्षय करके फिर मनुष्य-जन्म धारण करेगा। उस मनुष्य-जन्म मे भी केवल ज्ञानी के वचन का प्रतिबोध पाकर तथा रूप स्थविर से अनगारपन धारण करेगा। बहुत वर्षों तक सयम और तप का आचरण करके आलोचन-प्रतिक्रमण करके तीसरे देव-लोक मे उत्पन्न होगा। वहाँ से फिर च्युत होकर मनुष्य-जन्म ग्रहण करेगा और फिर उसी प्रकार पाँचवें स्वर्ग मे उत्पन्न होगा। इसी तरह क्रमशः सातवें, नौवें और ग्यारहवें देवलोक मे बीच-बीच मे मनुष्य-शरीर धारण कर-करके उत्पन्न होगा। अन्त मे मनुष्य होकर सयम धारण करके सर्वार्थसिद्धि विमान मे देव होगा। वहाँ की आयु पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र मे अन्तिम वार मनुष्य-भव धारण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा—परमात्मा बन जायेगा।



२१ : उपसंहार

सुवाहुकुमार के चरित्र के रूप मे सुखविपाक सूत्र का प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ। सुखविपाक का अर्थ है—सुख रूप रस। जीव को सच्चे सुख की प्राप्ति किस उपाय से हो सकती है, यही इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विपय है। साधारण जनता भी इस विषय को भलीभाँति समझ ले, इस उद्देश्य से यह शास्त्र कथा के रूप मे कहा गया है।

कुछ विपय ऐसे होते हैं, जिनका सम्वन्ध विशेष रूप से विद्वानो के साथ ही होता है और कोई-कोई विपय सार्वजनिक होते हैं। विचार करने से सहज ही मालूम हो जायगा कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख का अभिलापी है। क्या नर और क्या सुर, क्या कीडी, क्या कुजर, छोटे-से-छोटे और वडे-से-वडे जीवधारी का मुख्य प्रयोजन सुख प्राप्त करना है। प्रत्येक प्राणी निरन्तर इसी उद्देश्य मे लगा रहता है। ससार के समस्त व्यवसाय सुख के लिये ही किये जाते हैं। सभी जीवो का एकमात्र जीवन—साध्य सुख—एक मात्र सुख ही है। अतएव सुख का सम्बन्ध किसी खास श्रेणी के जीवों के साथ नही, सभी के साथ है।

दलदल मे फँसा हुआ मनुष्य ज्यो-ज्यो निकलने की चेष्टा करता है त्यो-त्यो अधिक फँसता जाता है। कफ मे उलझी हुई मक्खी उसमे से निकलने के लिये अपने छोटे-छोटे पख फडफडाती है, मगर परिणाम विपरीत होता है। सुलझने के वदले वह ज्यादा उलझ जाती है।

यही दशा अधिकाश सुखार्थियो की है। सुख पाने के लिये

लोग नाना प्रकार की साधन-सामग्री जुटाते हैं। कोई धन-दौलत का आश्रय लेते हैं, कोई कटुम्बीजनो का सहारा लेते हैं, कोई और ही उपाय करते हैं। ऐसा करके वे लोग समझते हैं कि हमने सुख की कुंजी खोज निकाली है और अब हमे सुख की कोई कमी नही रहेगी! मगर खेद! मर्ज बढता ही गया, ज्यो-ज्यो दवा की।

एक मनुष्य पुत्रहीन था। वह पुत्र के अभाव में अपना जीवन निष्फल, निराधार और अन्धकारपूर्ण मान रहा था। उसके दुःख का पार न था। दैवयोग से उसे पुत्र की प्राप्ति हुई। अधे को लकडी मिल गई। घोर अन्धकार मे दैवी दीपक का आलोक दृष्टिगोचर हुआ। मानो ससार के समस्त सुखो का द्वार खुल गया। सुख की सीमा न रही। बाहर पुत्र-जन्म की खुशी मे उत्साह मनाया जा रहा था—मगल गीत गाये जा रहे थे कि अचानक भीतर से नवजात शिशु के चल बसने का हृदयभेदी सवाद मिलता है।

इष्ट वस्तु का सयोग न होने से दुःख तो होता है, मगर सयोग के बाद वियोग होने पर तो दुःख की सीमा नही रहती। ऐसी स्थिति मे सयोग सुख का कारण कैसे कहा जा सकता है?

सच बात यह है कि जहाँ पर का सयोग है, वही दुःख है। जितने-जितने अशो मे सयोग की कमी होगी, उतने ही अशो मे सुख की वृद्धि होगी।

सयोग मात्र विनश्वर है। सयोग का वियोग के साथ नित्य सम्बन्ध है। जहाँ हम अपने सुख के लिये परकीय वस्तु पर निर्भर हुए कि हमने दुःख को आमन्त्रण दिया। आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थ पर हैं और उनका सयोग अनित्य है। जब आत्मा उनमे स्वत्व बुद्धि धारण करता है और उनके सयोग मे सुखी होता है तो उनके वियोग मे उसे दुःखी होना ही पड़ेगा।

मगर मोही जीव यह नही समझता। अज्ञान के अधीन होकर वह सुख के लिये पर-पदार्थों का निमित्त चाहता है। यही चाह

उसके दु ख का असली कारण है ।

स्पष्ट है कि सुख का मार्ग निराला है । पर-पदार्थों से ममता का भाव हटा लेने मे, उनमे स्वत्व की बुद्धि न स्थापित करने मे ही सुख का रहस्य है । अगर आप सच्चा सुख प्राप्त करना ही चाहते हैं तो बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित रहने वाले सुख को त्याग दें । यह सुख कर्माधीन है, पुद्‌गलाधीन है, अल्प काल तक ही ठहर सकता है, इसके बीच-बीच मे दु ख आया करते हैं, यह पाप का बीज है और अन्त मे घोर दु ख देकर विदा हो जाता है । सच्चा सुख आत्मनिर्भर होने मे है । आत्मा जब पर-पदार्थों मे पूर्ण मध्य-स्थ भाव धारण करता है, किसी भी वस्तु मे राग या द्वेष नही करता, तब उसे सच्चा सुख प्राप्त होता है । आत्मा में अनन्त आनन्द भरा है । आत्मा का स्वभाव ही आनन्द है । मगर अज्ञान आत्मा अपने अक्षय खजाने से अनभिज्ञ है । वह पुद्‌गलो से आनद की भीख माँगता है । इसीलिये वह दुखी है ।

सुख के लिये कही भी बाहर की तरफ नजर फैलाने की जरूरत नही है । अपनी ही ओर देखने से, अपने मे ही लीन होने से सुख की प्राप्ति होगी । बाह्य वस्तुएँ सुख नही दे सकती । उन से जो सुख मिलता मालूम होता है, वह सुख नही, सुखाभास है । शहद लपेटी हुई तलवार की धारा चाटने से क्षणभर सुख-सा प्रतीत होता है, मगर उसका परिणाम कितना दु खप्रद है ? यही बात ससार की समस्त सुखसामग्री की है । अन्तत राजपाट, महल-मकान मोटर, गाडी, भोजन, वस्त्र, कुटुम्ब-परिवार आदि सभी पदार्थ धोखा देने वाले हैं । अथवा इनमे जो मनुष्य का अनुराग है वह चिर दु ख का कारण है । अतएव इन सब से निरपेक्ष होकर एकमात्र आत्मपरायण बनना सुख का सच्चा मार्ग है ।

जहाँ बाह्य पदार्थों का ससर्ग होगा, वहाँ व्याकुलता होना अनिवार्य है और जहाँ व्याकुलता है वहाँ सुख नही है । निराकुलता

ही सुख है और निराकुलता तभी आती है जब सयोगमात्र का त्याग कर दिया जाता है।

सुबाहुकुमार की कथा का यही रहस्य है। सुबाहुकुमार राजकुमार था। फिर वह राजा भी हो गया। ससार का समस्त वैभव उसके चरणो मे लोटता था। भोगोपभोग की सारी सामग्री उसे प्राप्त थी। फिर भी उसके विवेक को वह रुचिकर न हुई। उसे उनमे सुख दिखाई न दिया। उसने तिनके की तरह सभी कुछ त्याग दिया। मोह के पर्दे को फाड डाला। राग पर विजय प्राप्त कर ली। फल यह हुआ कि वह सुख-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर हुआ और सच्चे सुख का अधिकारी होगा।

एक पुरुष सुख-रूपी पुरुष को पकडने दौडा। सुख-रूपी पुरुष भागा। पकडने वाला उसके पीछे-पीछे दौडा और सुख आगे-आगे भागता ही गया। आखिर सुख हाथ न आया। पकडने के लिये दौडने वाला पुरुष थक गया। वह आशक्त होकर एक झरने के समीप, वृक्ष की छाया में बैठकर सुख न पा सकने की चिन्ता में मग्न हो गया। सुख को न पा सकने से उसे इतना दुख हुआ कि उसे अपने कपडे और यहाँ तक कि शरीर भी भारी मालूम होने लगा। उसके पास खाने को था, मगर चिन्ता के कारण उसे खाना न सूझा।

इतने मे ही उधर मे एक मनुष्य निकला। उसने इस चिंताग्रस्त पुरुष से चिल्लाकर कहा—मुझे सुख दे।

यह चिन्ताग्रस्त पुरुष आश्चर्य मे डूब गया। सोचा—यह कौन है जो मुझ से सुख माँग रहा है? अगर मेरे पास सुख होता तो इतना भटकने की जरूरत ही क्या थी? उसने उसकी ओर मुड कर देखा तो एक दरिद्र-सा पुरुष उसे नजर आया। उस दरिद्र ने फिर उससे कहा—मुझे सुख दे।

इसने उत्तर दिया—मेरे पास सुख कहाँ है? मैं कहाँ से

तुझे सुख दूं ?

दरिद्र ने कहा—तेरे पास सुख न होता तो मैं मांगता ही क्यों ?

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला प्रेम-दया रस का रे ।
नाभिकमल बिच है कस्तूरी, कैसे भर्म मिटे मृग का रे ।।पीले०।।

दरिद्र पुरुष ने फिर कहा—मृग की नाभि मे ही कस्तूरी होती है । फिर भी वह कस्तूरी की खोज मे इधर-उधर भागता फिरता है और यह नही जानता कि कस्तूरी मेरी ही नाभि मे है । इसी प्रकार तू सुख के लिए दौड़-धूप कर थक गया । परन्तु तुझे यह पता नही कि सुख तो तेरे ही पास है और वह सुख भी थोडा नही, अनन्त है, अक्षय है, असीम है, अद्भुत है ।

दरिद्र पुरुष की यह बात सुनकर वह आश्चर्य मे आ गया । वह सोचने लगा—क्या यह मेरी हँसी करता है ? फिर उससे पूछा मेरे पास सुख कहाँ है ?

दरिद्र ने कहा—मैं बता सकता हूँ । तुम्हारे पास यह जो खाना पडा है, यह मुझे दे दो तो मैं बतलाऊँ ।

सुख के अभिलाषी पुरुष ने अपना खाना उसे दे दिया । दरिद्र खाना खाकर हँसते हुए चेहरे से उसके सामने खडा हुआ । फिर कहने लगा—अब देख । मैं कितना सुखी हो गया हूँ । यह सब तेरा ही प्रताप है । तू ने मुझे सुख दिया, इसी कारण मैं सुखी हो गया हूँ ।

दरिद्र पुरुष की बात सुनकर वह कहने लगा—अब मैं समझ गया । वास्तव मे दूसरे से सुख मांगने मे नही है, किन्तु दूसरे को सुख पहुँचाने मे सुख है । सुख भिखारी को नही दाता को होता है ।

यह दृष्टान्त है । इसे दृष्टान्त मे घटाइये । मनुष्य जब जन्म लेता है तो कुछ दिन बाद घूघरे आदि खिलौनो मे ही सुख मानता है । फिर जब कुछ बडा होता है तो वह सुख भाग जाता है और गुल्ली, डडा, पतग आदि मे उसे सुख जान पडता

है । जब कुछ और बडा होता है तो वह सुख भी भाग जाता
और पढने-लिखने मे ही सुख मालूम होता है । किन्तु अधिक बड
होने पर इस सुख से भी सतोष नही होता । इस समय पैसे
सुख प्रतीत होता है । किन्तु अकेला पैसा भी अब सुखी नही बन
सकता । कदाचित् पैसे मिल गये तो स्त्री मे सुख दिखाई देता है
दैवयोग से स्त्री भी मिल गई तो फिर बाल-बच्चो मे सुख नज
आता है । बाल-बच्चे भी पुण्ययोग से प्राप्त हो गये तो फिर भ
नई-नई आकांक्षाए मनुष्य को सताती ही रहती है ।

मतलब यह है कि मनुष्य सुख के पीछे दौडता है, फिर भ
उसे सुख नही मिलता । सुख उसी के पास है, मगर वह उ
भूला हुआ है ।

सुबाहु की यह कथा पाठकों को सुख का राजमार्ग प्रदशि
करती है । इस कथा के प्रकाश मे मनुष्य अपने आन्तरिक नेत्र खो
कर देखेगा तो उसे अपने ही समीप सुख का अथाह महासागर लह
राता दृष्टिगोचर होगा । उसमे मग्न होने पर चिरकालीन सताप औ
व्याकुलता समाप्त हो जायगी और मनुष्य शाश्वत शिव-स्वरूप प्राप्
करेगा ।